मोरलैन्ड लिखित

मुस्लिम भारत की ग्रामीण व्यवस्था

Agrarian System OF MOSLEM INDIA

W. H. MORELAND

इतिहास प्रकाशन संस्थान
इलाहाबाद

इस पुस्तक के सम्बन्ध में

लगभग चौंतीस साल पहले इस पुस्तक के प्रकाशित होने पर प्रसिद्ध इतिहासकार श्री यदुनाथ सरकार ने इस पुस्तक के सम्बन्ध में कहा था—

श्री मोरलैन्ड का स्थान उच्च श्रेणी के इतिहासकारों में आता है। 'भारत के मुसलिम कालीन ग्रामीण व्यवस्था' के अन्तर्गत ग्राम सम्बन्धी जितनी भी आवश्यक जानने योग्य बातें हैं, उसे विद्वान् लेखक ने बड़े परिश्रम, खोज और यत्नपूर्वक एक ही जगह पर एकत्रित करके प्रस्तावित विषय को अत्यन्त महत्वपूर्ण और सरल बना दिया है। तत्कालीन लगान प्रणाली, निर्धारित लगान की दरें, उसके वसूली के उपाय, खेती की व्यवस्था, जागीरदारी प्रथा आदि विषयों पर अच्छा प्रकाश डाला गया है।

भारतीय मुसलिम काल में अनेक मुसलिम इतिहासकारों ने फारसी में जो अनेक ग्रन्थों की रचना की है, उनके उद्धरण और टिप्पणियों को यथा स्थान पर दे देने से इस पुस्तक का विशेष महत्व बढ़ गया है।

यदुनाथ सरकार

954.02

[illegible]

मोरलैन्ड लिखित

मुस्लिम भारत की ग्रामीण-व्यवस्था

⊙

AGRARIAN SYSTEM OF MOSLEM INDIA

W. H. MORELAND

3422
13/3/67

⊙

राज्य संग्रहालय पुस्तकालय, लखनऊ
क्रम संख्या 3422
प्राप्ति तिथि 13/3/67
State Museum, Library, Lko.

अनुवादक

श्री कमलाकर तिवारी

⊙

प्रकाशक

इतिहास प्रकाशन संस्थान

४९२ मालवीय नगर

इलाहाबाद

⊙

पहला संस्करण] मार्च १९६३ [मूल्य १०)

प्रकाशक
गिरिधर शुक्ल
इतिहास प्रकाशन संस्थान
४९२ मालवीय नगर
इलाहाबाद

954.02
त म

प्रधान वितरक
आदर्श हिन्दी पुस्कालय
४१९ अहियापुर
इलाहाबाद

मुद्रक
इन्द्रमणि जायसवाल
मणि प्रिंटिंग प्रेस,
मणि नगर
६७ पूराबल्दी, कीटगंज,
इलाहाबाद

मूल लेखक की भूमिका

मैंने इस निबन्ध के उद्देश्य तथा क्षेत्र को पुस्तक परिचय में पर्याप्त रूपेण स्पष्ट किया है । यहाँ पर तो दो एक ऐसी बातें कह देना चाहता हूँ, जिनसे पाठकों को सहायता मिलने की आशा है ।

मैंने अंग्रेजी में लिखने का प्रयास किया है। इस प्रकार मुझे बहुभाषा विज्ञों के उन विचित्र पारिभाषिक शब्दों से अलग रहने का अवसर मिल गया है, जो भारतीय ग्रामीण-व्यवस्था के वर्णन में प्रयोग किये जाते रहे हैं । अपने लक्ष्य पूर्ति के लिये मुझे एक पारिभाषिक शब्दावली अंग्रेजी में बनानी पड़ी है। इस कार्य के लिये मैंने ऐसे ही शब्दों को चुनने की कोशिश की जिनके अर्थों में स्पष्टता हो, अर्थात् लक्षणार्थ के फेर में पड़कर लोग कुछ का कुछ न समझ जायँ । इसीलिए मैंने ऐसी योजना बनायी कि पारिभाषिक शब्दों को सदैव ही बड़े अक्षरों से प्रारम्भ किया है । इससे पाठकों को यह सुविधा होगी कि वे ऐसे शब्दों को सदैव एक ही अर्थ में ग्रहण करेंगे ।

लाख प्रयत्नों के बावजूद भी मुझे फारसी के शब्दों तथा कभी कभी शब्द समूहों का प्रयोग करना ही पड़ा । मैं उनसे इसलिए बँचना चाहता था कि इनके स्पष्टीकरण की आवश्यकता बहुत पड़ती है । जहाँ मैंने फारसी शब्दों को रोमन लिपि में लिखा है, वहाँ हमने रायल एशियाटिक सोसाइटी की तदर्थ समिति के निर्देशों का पालन किया है, जिसमें स्वरों के अंतर्देशीय उच्चारण की व्यवस्था की गयी है । उन निर्देशों में व्यंजनाक्षरों में उच्चारण की स्पष्टता के लिये कुछ विशेष संकेतों की व्यवस्था दी गयी है । देखा गया है कि ये संकेत भाषाविदों के तो बहुत काम के होते हैं, परन्तु साधारण छात्रों के समक्ष ये संकेत कठिनाइयाँ ही उपस्थित करते हैं । इनके कारण मुद्रण की कठिनाइयाँ भी बढ़ जाया करती है । चूंकि मैं इस पुस्तक को छात्रोपयोगी ही समझकर लिखना चाहता था, अतएव मैंने उच्चारणात्मक संकेतों

का उपयोग नहीं किया तथा निम्नलिखित ढंग से मध्यम मार्ग का ही अनुसरण किया।

(१) मूल पुस्तक में साधारण रोमन लिपि का ही प्रयोग किया गया है। स्वरों का उच्चारण अंतर्देशीय स्तर पर ही है। दीर्घ स्वरों के लिये अवश्य ही संकेतों का प्रयोग किया है, परन्तु व्यंजनों पर कोई संकेत नहीं दिया है। जहाँ रोमन अक्षर 'क्यू' का प्रयोग हुआ है, वहाँ अरबी का 'क़' अक्षर ग्रहण किया जाना चाहिये। जहाँ अरबी का अक्षर 'ऐन' प्रयुक्त होता है, वहां हमने एक उलटा कामा लगा दिया है।

(२) मूल पुस्तक में आये हुये फारसी शब्दों का उच्चारण ठीक करने की व्यवस्था हमने परिशिष्ट 'ह' में कर दिया है।

(३) परिशिष्टों में आवश्यकतानुसार शब्दों को फारसी का सही रूप देने का प्रयास किया गया है।

(४) व्यक्ति वाचक संज्ञाओं को सामान्य रूप में ही रोमन लिपि में लिखा गया है। साधारण पाठकों को शायद ही आवश्यकता पड़े, परन्तु भाषाविदों को यह अवश्य स्मरण रखना होगा कि मुहम्मद के 'ह' में और हुमायूँ के 'ह' में उच्चारण का स्पष्ट अन्तर है।

(५) हमने प्रयास यह किया है कि प्रचलित शब्दों का अक्षर विन्यास (स्पेलिंग) परम्परागत ही रहे। इसीलिये मोस्लिम तथा मोगल जैसे शब्दों को मैंने प्रचलित ढंग से ही लिखा है।

पाठक देखेंगे कि फारसी या हिन्दी शब्दों को रोमन लिपि में लिखते समय मैंने वही ढंग अपनाया है, जो कैम्ब्रिज हिस्ट्री आव इण्डिया के तृतीय भाग में अपनाया गया है। केवल इतना ही नहीं अन्य बातों में भी यह पुस्तक उसी पुस्तक के समान है, क्योंकि दोनों ही पुस्तकें तत्कालीन विद्वानों, ग्रन्थों तथा प्रपत्रों के आधार पर लिखी गई हैं। यहाँ इस बात को स्पष्ट कर देने की आवश्यकता है कि मेरे लिखे हुये मुस्लिम

कालीन ग्रामीण-व्यवस्था के अध्याय जब प्रेस में भेजे जाने को तैयार हो गये थे, उस समय तक सर वोल्जले हेग का विशाल ग्रन्थ समाप्ति के पथ पर था और उसकी मंजिल दूर ही थी। दोनों पुस्तकों में जो साम्य परिलक्षित होता है उसका मतलब यह नहीं है कि हम दोनों ने तक दूसरे का सहारा लिया है और आपस में सलाह मशविरा कर के लिखा है। साम्य का वास्तविक कारण यह है कि हम दोनों एक ही सामग्री के आधार पर चले हैं। कहीं-कहीं ग्रामीण-व्यवस्था सम्बन्धी उनका विवरण मेरे द्वारा प्रस्तुत तत्सम्बन्धी विवरण से भिन्न हो गया है। ऐसी स्थिति में मैंने प्रामाणिक सामग्रियों का फिर से अध्ययन किया है, जिसके पश्चात् मैं इसी नतीजे पर पहुँचा कि मुझे अपना दृष्टिकोण परिवर्तित करने का कोई कारण नहीं है।

चूँकि सहायक ग्रन्थों तथा उनके लेखकों के नाम कभी-कभी अत्यधिक लम्बे हैं, अतः मैंने यह ढंग अपनाया है कि इन नामों को मैंने पुस्तक में प्रयोग करने के लिये संक्षिप्त कर लिया है और परिशिष्ट 'इ' में उनका पूर्ण परिचय दे दिया है।

इस पुस्तक को लिखने में मुझे कितनी ही ऐसी सामग्रियों का अध्ययन करना पड़ा है, जो एक दूसरे की विरोधी प्रवृत्ति की हैं। ऐसी दशा में विभिन्न क्षेत्रों में काम करने वाले कितने ही विद्वानों की अमूल्य सहायता की आवश्यकता मुझे पड़ी है, जो माँगने पर मिली भी है। कुछ विषयों का वर्णन करने के लिये मुझे स्वर्गीय राइट आनरेबुल सय्यद अमीर अली, मि० सी० ई० कैरिंगटन, अतुल चटरजी, मि० डब्ल्यू क्रिस्टी, मि० जी० एल० एम० क्रासन, मि० यू० एन० दाउद पोता, मि० ई० एडवर्ड्स, सर विलियम फॉस्टर, प्रो० एस० एच० होदी वाला, सर बाल्टर होज, मि० एस० जी० कान्हरे, सर एडवर्ड मोक्लागान, मि० सी० ई० ओ० डब्ल्यू० ओल्डहम, मि० जी० चेर्नविक्स ट्रेन्च तथा डा० एल० डी० वारनेट द्वारा अमूल्य सहायतायें तथा सलाहें मिली हैं, जिनका मैं आभारी हूँ। मेरे प्रथम अध्याय को पढ़ कर उपरोक्त मित्रों ने अनेक हिन्दू कालीन ग्रन्थों का पता दिया। मि० आर पैजेट डयूहर्स्ट ने परिशिष्ट 'स' को प्रस्तुत करने में तो सहायक रहे ही, फारसी शब्दों में एवम् वाक्यांशों के स्पष्टीकरण में भी उनसे अमूल्य सहायता मिली है। सर रिचार्ड बर्न परिशिष्ट 'य' प्रस्तुत करने

में तो सहायता देते ही रहे, अन्य कई प्रकार की सहायता भी उनसे मिली । मि० बी० सी० बर्ट ने प्राचीन प्रपत्रों की खोज में अत्यधिक सहायता दी । अकबर कालीन चित्रण में मि० ए० यूसुफ अली की अमूल्य सहायता मिली है । अन्त में श्रीमती फ्रेजर तथा कुमारी लैटिमर की अयाचित सहायता के लिये आभार प्रदर्शन करना मेरा कर्तव्य है, जिन्होंने रायल एशियाटिक सोसाइटी के कर्मचारी होने के नाते विशेष सहायता दी ।

जुलाई १९२९ डब्ल्यू० एच० मोरलैण्ड

विषय सूची

विषय		पृष्ठ
मूल लेखक की भूमिका	...	३
परिचय	...	९
पहला अध्याय—पूर्व स्थिति		
हिन्दू धर्म	...	१५
मौलिक व्यवस्था में विकास	...	२०
वैयक्तिक राज्यांश निर्णय	...	२०
मध्यस्थों के द्वारा लगान निर्धारण	...	२२
इस्लाम की व्यवस्था	...	२७
दूसरा अध्याय—तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दी		
दिल्ली की मुसलमानी सल्तनत	...	३४
तेरहवीं शताब्दी	...	४०
अलाउद्दीन खिलजी (१२९६-१३१६)	...	४५
गयासुद्दीन तुगलक (१३२०-१३२५)	...	५५
मुहम्मद तुगलक	...	६१
फीरोज शाह (१३५१-१३८८)	...	७०
सारांश	...	८१
तीसरा अध्याय—सैयद तथा अफगान वंश		
फीरोज शाह से बाबर तक	...	८७
शेरशाह तथा उसके उत्तराधिकारी	...	९९
चौथा अध्याय—अकबर का शासन (१५२६-१६०५)		
परिचयात्मक	...	१०६
लगान निर्धारण की प्रणालियाँ	...	११०
जागीरदारियाँ	...	१२४
मुहस्सिल (Tax Collectors)	...	१३५
व्यवस्थापिका प्रणाली (Regulation System)	...	१४७
अन्तिम स्थिति (Final Position)	...	१५७

पाँचवाँ अध्याय—सत्रहवीं शताब्दी

जहाँगीर तथा शाहजहाँ (१६०५-१६५८)	...	१६५
औरङ्गजेब के फरमान (१६६५-१६६९)	...	१७५
इस्लाम के नियमों का उपयोग	...	१८३
किसानों का अभाव	...	१८९
औरंगजेब, उसके उत्तराधिकारी तथा मध्यस्थ	...	१९८

छठाँ अध्याय—उत्तरी भारत की अन्तिम स्थिति

परिचय	...	२०८
ग्राम्य संगठन	...	२१३
किसानों की अदायगी	...	२२२
मध्यस्थजन	...	२२७
अन्तिम मूल्यांकन	...	२३१

सातवाँ अध्याय—बाहरी भूभाग

दक्षिण प्रदेश	...	२३७
बंगाल	...	२४९

आठवाँ अध्याय—निश्कर्ष

निश्कर्ष	...	२६१

परिशिष्ट

परिशिष्ट 'अ'	...	२६३
परिशिष्ट 'ब'	...	२८२
परिशिष्ट 'स'	...	२९१
परिशिष्ट 'द'	...	३०५
परिशिष्ट 'य'	...	३१०
परिशिष्ट 'फ'	...	३२२
परिशिष्ट 'ग'	...	३२६
परिशिष्ट 'ह'	...	३३१
परिशिष्ट 'इ'	...	३४१
अनुक्रमणिका	...	३४५

परिचय

पाठक गण इस पुस्तक को "एक व्यवस्था का ऐतिहासिक निबन्ध" के रूप में ग्रहण कर सकते हैं। मुस्लिम शासन के मुख्य काल में (१३वीं से १८वीं शताब्दी तक) किसी भी राज्य के तीन आवश्यक अंग हुआ करते थे। शाह, सेना तथा कृषक। शाह हुकूमत करता था, सेना उसे सुरक्षा प्रदान करती थी तथा कृषक दोनों का पोषक था। अति प्राचीन काल में अंग्रेजी में एक कहावत प्रचलित थी जिसका अर्थ होता है कि सेना तथा कृषक किसी भी राज्य की दो भुजायें हैं। (Troops and peasants are the two arms of a Kingdom)। तत्कालीन परिस्थिति को ही लक्ष्य करके जैसे इस कहावत का जन्म हुआ था। उपरोक्त तीन अंगों में दो अर्थात राजवंशीय इतिहास तथा सैनिक इतिहास के बारे में आवश्यक ज्ञान प्राप्त करने के लिये हमारे साहित्य में काफी सामग्री है, परन्तु ऐसी सामग्री कहीं भी नहीं मिलती जो शाहों और कृषकों के बीच जैसा सम्बन्ध था उसका कुछ दिग्दर्शन करा सके। यह निबन्ध इसी अभाव की पूर्ति का एक प्रयास है।

सम्भव है कि वर्तमान ग्रामीण-व्यवस्था के अध्ययन में रुचि रखने वालों को यह निबन्ध कुछ आश्चर्यजनक लगे क्योंकि वे ऐसी आशा कर सकते हैं कि इसमें मुख्यतया जमीन्दारों द्वारा भोगे जाने वाले अधिकारों तथा कृषकों द्वारा मांगे जाने वाले अधिकारों के वर्णनों की ही भारमार होगी। परन्तु वास्तविकता यह है कि भारतीय ग्रामीण-व्यवस्था में कृषकों के अधिकार का प्रश्न ही नहीं था। यह देन तो बृटिश युग की है। हिन्दू तथा मुस्लिम-कालीन व्यवस्था में कृषकों के लिये कर्तव्य ही थे अधिकार नहीं। उनका कर्तव्य था कि वे भूमि से अन्न उपजाकर उसका निश्चित अंश राज्य को दे दें। यदि उनके किसी भी अधिकार को मान्यता भी थी तो वह भी उस कर्तव्यपूर्ति के बदले में अनुग्रहमात्र थी। अतः इस निबन्ध में उन सिद्धान्तों पर विचार किया जायगा जिनके आधार पर उपज में से राज्यांश (लगान) निश्चित किया जाता था तथा वह राज्यांश किस प्रकार वसूल किया जाता था। साथ ही हम उस व्यवस्था पर भी विचार करेंगे जिसके द्वारा राज्यांश का कुछ भाग उस श्रेणी के लिये छोड़ दिया जाता था जिसे हम मध्यस्थ (Intermediary) कह सकते हैं।

इस निबन्ध का उद्देश्य यह नहीं है कि हम इस बात का विस्तार से वर्णन करें कि मुस्लिम-कालीन व्यवस्था किन किन परिवर्तनों से होकर वर्तमान स्थिति तक

पहुँची है। फिर भी उनकी ओर संक्षिप्त संकेत आवश्यक होगा। क्योंकि उन्हीं परिवर्तनों को अलग कर देने से हम उस स्थिति की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे जो उस प्रारम्भिक समय में थी। इतिहास का साधारण विद्यार्थी भी इस बात को जानता है कि उन्नीसवीं शताब्दी ने उत्तर भारत को वह आन्तरिक शान्ति प्रदान की जिसका अनुभव भारतीयों को बहुत दिनों से नहीं हुआ था और जिसका परिणाम यह हुआ कि आबादी में तेजी से वृद्धि हुई और इसीलिए उपजाऊ भूमि के लिये एक होड़ सी लग गयी। मुस्लिम युग में छोटे छोटे क्षेत्रों को छोड़कर शायद ही कहीं इस प्रकार की होड़ थी। वास्तव में उस युग में अत्यधिक भूमि जोतने वाले, आवश्यक साधन युक्त आदमियों की प्रतीक्षा कर रहे थे। १९ वीं शताब्दी ने ही भारत को एक दूसरा वरदान भी दिया और वह था नियमानुमोदित शासन, जिसने मुसलमानी शासनकाल के व्यक्तिगत शासन का स्थान ग्रहण कर लिया था। उसके साथ ही साथ जन्म हुआ उदार एवम् लोक हितैषी आदर्शों का। १९वीं सदी का यह प्रभाव न केवल भारत में वरन् सारे सभ्य संसार में देखा गया। इन प्रभावों का विश्लेषण बृटिश काल का इतिहास लिखने वाले करें। मैंने तो इनकी चर्चा इसलिए कर दी कि मुस्लिम-कालीन व्यवस्था को समझते समय पाठक इन विषयों को अलग कर सकें। दूसरे शब्दों में मैं यह कहना चाहता हूँ कि पाठक भूल जांय कि उपरोक्त होड़ नियमानुशासन तथा लोक-कल्याण का आदर्श लिए हुये प्रशासन, मुसलमान युग में भी थे।

इस निबन्ध का विस्तार क्षेत्र तो इतना ही है परन्तु अध्ययन विधि समझने के हेतु उसके विकास के सम्बन्ध में कुछ शब्द आवश्यक होंगे। कुछ वर्ष पूर्व मुझे अकबर-कालीन आर्थिक स्थिति पर कुछ सामाग्री की खोज करनी थी। उसी क्रम में मुझको इस विषय की महत्ता का ज्ञान हुआ। उस समय राष्ट्रीय आय बँटवारे का महत्वपूर्ण अंग था क्योंकि राज्य किसानों की उपज के तिहाई से लेकर आधे तक का भाग ले लेता था। इस वास्तविकता का प्रभाव खेती पर इतना अधिक था कि खेतिहरों को मौसम की अनुकूलता एवम् प्रतिकूलता के प्रभाव के बाद लगान का ही महत्व अधिक ज्ञात होता था। इसीलिये अपनी पहली दोनों पुस्तकों में अर्थात् "अकबर की मृत्यु के समय का भारत" (India at the death of Akabar) तथा "अकबर से औरंगजेब तक" (From Akabar to Aurangzeb) मैंने तत्कालीन उस सम्बन्ध का संक्षिप्त समावेश किया था जो प्रशासन तथा किसान के बीच था। इस कार्य में मैंने विशेषतः लेखकों की कृतियों को ही आधार माना है। हाँ उन कृतियों का अर्थ पूर्ण रूपेण हृदयंगम करने के लिए हमें उन विद्वानों की सम्मतियों को आधार बनाना पड़ा है, जिन्होंने इस क्षेत्र की पारिभाषिक शब्दावली पर पूर्ण अधिकार प्राप्त किया था। इसीलिये उपरोक्त पुस्तकों में मैंने ग्रामीण-व्यवस्था की मूलभूत बातें ही लिखी थीं और

उन शेष बातों को भविष्य में अध्ययन करने को छोड़ दिया था जिन्हें समझने के लिये विस्तृत वर्णन की आवश्यकता थी।

जब मैंने पुनः उस विषय का अध्ययन आरम्भ किया तो ज्यों-ज्यों मैं सूक्ष्म विश्लेषण करता गया त्यों-त्यों उसे और भी विस्तार देने के महत्व को अधिकाधिक समझता गया। धीरे-धीरे मैं इस परिणाम पर पहुँचने लगा कि मिस्टर ब्लाकमैन, जैरेट तथा डाँसन जैसे विद्वान भी तत्कालीन पारिभाषिक शब्दावली को पूर्णतया स्पष्ट नहीं कर पा सके थे, कारण कि वे एक सर्वथा नवीन क्षेत्र में अनुसंधान कर रहे थे। तत्कालीन व्यवस्था के वर्णन में उन्होंने वर्तमान व्यवस्था के शब्दों को ग्रहण किया था या कहीं-कहीं उन्होंने योरोपीय मध्यकालीन पारिभाषिक शब्दावली की सहायता ली थी जिसका परिणाम यह हुआ कि मूल लेखकों के शब्दों के वास्तविक अर्थ तो सामने आये नहीं, हां उनके अनर्थ के भी दृष्टान्त सामने आ गये। अतः मुझे मूल लेखकों के शब्दों का तत्कालीन अर्थ समझने के लिये फिर से नया प्रयत्न प्रारम्भ करना पड़ा और इसके लिये मैंने उन कृतियों के मुद्रित संस्करणों तथा कितने ही कष्ट प्राप्य हस्तलेखों का सहारा लिया। मैंने ऐसे अनेक साहित्यक अंगों को एकत्रित किया जिनमें वे पारिभाषिक शब्द आये थे और उन्हें एकत्रित कर उनके उन वास्तविक अर्थों को ढूढ़ने का प्रयास किया जो मुस्लिम-युग के विभिन्न कालों में तथा भारत के विभिन्न भागों में उन विभिन्न शब्दों के लिये प्रचलित थे।

उपरोक्त अनुसन्धान विधि के परिणाम स्वरूप जो पारिभाषिक शब्द मुझे मिल सके उन्हीं को वर्तमान निबन्ध में मैंने प्रयुक्त किया है। स्थान-स्थान पर लगी टिप्पणियाँ तथा अन्त में लगे परिशिष्ट मेरी अध्ययन विधि पर पूर्ण प्रकाश डालते हैं, फिर भी प्रारम्भ में ही यह बता देना वांछित होगा कि साहित्यिक शब्दावली प्रवाहमयी होती है और उनके अर्थ विभिन्न कालों तथा विभिन्न स्थितियों में विभिन्न होते हैं। मुगल-कालीन फारसी भाषा में समानार्थी शब्दों का बाहुल्य था और इसीलिये प्रायः सारे विद्वानों ने विषय वर्णन की अलग-अलग शैलियाँ अपनाई हैं। दूसरे शब्दों में हम यों भी कह सकते हैं कि पुनरूक्ति दोष से बचने के लिये उन लोगों ने हर सम्भव प्रयत्न किया। इसीलिये ऐसा सम्भव हुआ कि एक ही वस्तु के एकाधिक नाम सामने आये। परन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि मुस्लिम-युग के प्रारम्भ से ही नौकरशाही पूर्ण विकास पा चुकी थी और उनके कार्यालयों में प्रयुक्त एक निश्चित अर्थ देने वाले ये शब्द भी साधारण साहित्य की शब्दावली में से ही लिये गये थे। ऐसा तो आज भी होता है कि कोई भी प्रचलित शब्द कार्यालयों में उपयुक्त होकर प्रायः सर्वथा नवीन अर्थ देने लगता है और इसी प्रकार साधारण शब्दावली एवम् पारिभाषिक शब्दावली साथ-साथ चला करती हैं। ऐसा भी होता है कि एक ही शब्द

को विभिन्न विभाग विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त करते हैं। उदाहरण के लिये 'माल' शब्द को ही देखिये। एक साधारण जन उसे जायदाद या दौलत के अर्थ में ग्रहण करेगा, सैनिक उसे लूटी हुई सामग्री के अर्थ में ग्रहण करेगा और अर्थ सम्बन्धी कर्मचारी उसे लगान के अर्थ में लेगा। अर्थात् अलग सन्दर्भों में शब्दार्थ भी बदलता जायगा। कुछ शब्द तो चलते रहते हैं परन्तु कितने ही शब्द समय के अनुसार या तो स्वयम् बदल जाते हैं या अपने अर्थ को ही बदल देते हैं। परिणाम स्वरूप पुरानी चीजें नये नामों के साथ सामने आती हैं। कभी-कभी प्रयोग के ढंग में भी परिवर्तन होने से शब्दार्थ पूर्णतया बदल जाता है। स्थानीय अन्तर भी शब्दार्थ के विचार से महत्वपूर्ण है। दो शताब्दी पूर्व कलकत्ते के आसपास की भाषा उत्तरी भारत से सर्वथा भिन्न थी। अंग्रेज कलकत्ता से ही उत्तर भारत में आए। कलकत्ता में उन्होंने कुछ शब्दावली सीख ली थी, परन्तु शब्दावली के भरोसे जब उन्होंने उत्तर भारत में काम लेना चाहा तो उन्हें भारी गड़बड़ियों का सामना करना पड़ा।

पारिभाषिक शब्दों तथा उनके अर्थों का हेर-फेर इतिहास के विद्यार्थियों के लिये इतना महत्वपूर्ण है कि उसे स्पष्ट करने के लिये एक उदाहरण की आवश्यकता होगी। तेरहवीं चौदहवीं शताब्दी में अरबी भाषा का 'दीवान' शब्द बहुत कुछ उस अर्थ के लिये प्रचलित था जिसे आज कल हम विभाग (Portfolio) कहते हैं। इस प्रकार 'वजीर का दीवान' से 'राजस्व-विभाग' समझा जाता था क्योंकि उन दिनों अर्थ-विभाग के कार्य वजीर के ही जिम्में होता था। जब कभी कोई नया विभाग खुलता तो उसे उसके दीवान के नाम से पुकारा जाता था जैसे 'दीवाने-तालीम' शिक्षा-विभाग को कहते थे।

१५वीं शताब्दी का राजकीय साहित्य बहुत ही कम है। मैं यह पता नहीं लगा सका कि कब-कब और किन-किन परिवर्तनों के बाद अकबर के राज्य काल में 'दीवान' शब्द विभाग सूचक न रह कर व्यक्ति सूचक हो गया। सार्वजनिक कार्यों में दीवान राजस्व-मंत्री को कहने लगे थे और चूँकि तत्कालीन वजीर ही के जिम्में राजस्व विभाग भी रहता था अतः 'वजीर' तथा 'दीवान' समानार्थी हो गये। व्यक्तिगत रूप से व्यवहार में 'दीवान' उस व्यक्ति को कहते थे जो किसी भी बड़े आदमी के आर्थिक-कार्यों को देखता था। राजस्व-विभाग को अब 'दीवानी' कहने लग गये थे। इसके पूर्व 'दीवानी' शब्द अरबी भाषा में कभी भी नहीं प्रयुक्त हुआ और उस युग में भी केवल महकमा-मालगुजारी को ही 'दीवानी' कहते थे, अन्य किसी महकमे को नहीं।

प्रशासकीय इकाइयों (महकमों) में ज्यों ज्यों वृद्धि होती गयी त्यों त्यों दो और बातें देखने में आयीं। किसी भी विभाग के सभी उपविभागों के प्रधानों को भी दीवान कहा जाने लगा। बाहरी सूबों में मालगुजारी की देखरेख के लिये दीवानों की

नियुक्ति होती थी। आगे चलकर जब ये दीवान लोग वजीर के मातहत होने लगे तो इस शब्द को एक नये अर्थ में लिया जाने लगा। सत्रहवीं एवम् अठारहवीं शताब्दी में शासन के दो स्पष्ट विभाग हो गये—दीवानी तथा निजामत या फौजदारी। दीवानी विभाग मालगुजारी का काम देखता था तथा निजामत या फ़ौजदारी विभाग आन्तरिक सुरक्षा का कार्य देखता था।

जब ईस्ट इंडिया कम्पनी को बंगाल की दीवानी मिली तब इसके अर्थ में एक नयी तब्दीली हुई। कम्पनी ने जिन अदालतों की स्थापना की, उन्हें दीवानी अदालत कहने लगे। इसी प्रकार परिवर्तनों से गुजरते हुये आजका 'दीवानी' शब्द दीवानी अदालत (Civil Court of Law) के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा है। परन्तु आज भी कई देशी रियासतों में प्रधान मंत्री को दीवान कहते हैं। सरकार भी कितने ही मान्य व्यक्तियों को 'दीवान' की उपाधि देती है।

मुझे इस बात की कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती कि मैं अपने अध्ययन प्रणाली की उत्तमता पर अधिक जोर दूँ; इसकी उत्तमता इसी से प्रमाणित हो जाती है कि प्रथम तो कोई अन्य प्रणाली नहीं है दूसरे इससे सफल परिणाम भी निकलते हैं। हाँ यह सही है कि उन परिणामों को विश्वसनीय रूप से पाठक के सामने रखना कठिन है क्योंकि प्रत्येक शब्द के तत्कालीन अर्थ को सोदाहरण स्पष्ट करने के लिये ही इस प्रकार की कई पुस्तकों की आवश्यकता होगी और इधर मेरा उद्देश्य है कि उन परिणामों को यथा सम्भव शीघ्रता से पाठकों के सामने रख दूँ। अतः अपनी प्रणाली का संक्षिप्त परिचय भी दे देना उचित होगा। मैंने ऐसा किया है कि हर पारिभाषिक शब्द का तत्कालीन वास्तविक तात्पर्य समझ कर तब मैंने उसका समानार्थी अंगरेजी शब्द इस प्रयत्न के साथ खोजा कि उसके एक से अधिक अर्थ न हो सकें; साथ ही आवश्यक टिप्पणी भी देता गया और सारी पुस्तक में एक अर्थ के लिये एक ही शब्द रखने का प्रयत्न किया है। टिप्पणियों तथा परिशिष्टों में मैंने आवश्यक सामग्री भी दे दी है जिससे अनुसंधान करने वाले छात्रों का मार्ग निर्देशन हो सके। मैंने यह भी प्रयास किया है कि साधारण पाठक कम से कम बाधाओं का सामना करते हुये पढ़ते तथा समझते चले जांय।

पहले विचार था कि इस पुस्तक को विषयानुसार लिखूँ अर्थात् एक विषय लेकर विभिन्न कालों में उसका समुचित विवेचन समाप्त करके तब दूसरे विषय पर कलम उठाऊँ। परन्तु ये सभी विषय इस प्रकार से आपस में गुँथे हुये हैं कि एक अकेले विषय का समुचित विवेचन स्वतन्त्र रूप से सम्भव नहीं समझ पड़ा। फलतः थोड़े प्रयत्नों के बाद मुझे कालात्मक प्रणाली का सहारा लेना पड़ा; अर्थात् एक काल में सभी आवश्यक विषयों का पूर्ण वर्णन करने के बाद तब दूसरे काल

में हाथ लगाऊँ। इसमें यह भी एक सुविधा दिखाई पड़ी कि भारतीय इतिहास में मुस्लिम काल के विभिन्न शासकों के समयों के बीच स्पष्ट विभाजन रेखायें हैं। छठवें तथा सातवें अध्यायों में मैंने मुस्लिम युग एवं बृटिश युग की संक्रान्ति कालीन विश्लेषण भी देने का प्रयत्न भी किया यद्यपि यह विषय हमारे क्षेत्र के बाहर पड़ता है। इसीलिए संक्रान्ति कालीन वर्णन में मैंने उन सूबों को छोड़ दिया है जहाँ उस समय मराठों तथा सिखों का राज्य था।

इस परिचय को समाप्त करते हुये मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि अपने ढंग का यह विश्लेषण अन्तिम नहीं है। सम्भव है कि खोज करने वालों को अभी ऐसे लेख या ग्रंथ मिलें जिनसे उन विषयों का और भी विवेचन सम्भव हो सके जिनके लिखने में मुझे सामग्री के अभाव का अनुभव हुआ है। उन लेखों तथा विभिन्न शाहों, नवाबों और सूबेदारों द्वारा विभिन्न व्यक्तियों संस्थाओं तथा मन्दिरों व मस्जिदों को दिये गये दानपत्रों, अधिकार पत्रों की सहायता से भविष्य के कोई अनुसन्धान कर्ता मेरे इस निबन्ध को ही बाकायदा इतिहास का रूप दे सकते हैं। शर्त यही है कि उन सामग्रियों के लिये आग्रह एवम् कष्टपूर्ण खोज की जाय। इस निबन्ध में गलतियाँ भी होंगी, सामग्री की कमी से विवेचन भी अपूर्ण हो सकता है परन्तु इन कमियों को दूर करना भविष्य के छात्रों का काम है। मुझे विश्वास है कि भारत के विभिन्न भागों में कितने ही अज्ञात व्यक्तियों के पास ऐसे लेख अवश्य होंगे जिनसे इस विषय का विवेचन सम्पूर्णता को प्राप्त हो सकेगा। ये सामग्रियाँ अनुसंधान-कर्ताओं की प्रतीक्षा में धीरे-धीरे नष्ट होती जा रही हैं। मुझे तो इनके खोज का आगे शायद ही मौका मिले परन्तु मैं अपने पाठकों से यह अपील करना नहीं भूलूंगा कि वे खोजें। सामग्रियाँ दुर्लभ हैं पर अलभ्य नहीं। कुछ खानदान ऐसे हैं जिनका सम्बन्ध शाहों से रहा होगा। उनके पास ही ऐसी सामग्रियाँ मिल सकती हैं। इसी प्रकार खोजते-खोजते एक बार गुजरात के एक पारसी सज्जन के घर से कागजों का एक ऐसा बंडल मिला जिससे अकबर-कालीन ग्रामीण-व्यवस्था को समझने में पूरी सहायता मिली। किसी के लिये भी ऐसी आशा करना कठिन था कि उस सुदूर कोने में भी ऐसी सामग्री मुगल-काल के विषय में मिलेगी। मुझे विश्वास है कि यदि ये सामग्रियाँ उपलब्ध हो सकीं तो न केवल ग्रामीण-व्यवस्था पर ही वरन् पूरे भारतीय जन-जीवन पर, पूर्ण प्रकाश पड़ेगा।

मुस्लिम-भारत की
ग्रामीण-व्यवस्था

पहला अध्याय
पूर्व स्थिति

हिन्दू धर्म

मुस्लिम-कालीन ग्रामीण-व्यवस्था का वर्णन करने वाले प्रत्येक लेखक के सामने एक कठिनाई यह आती है कि वह कहाँ से प्रारम्भ करे। यह तो सत्य ही है कि मुस्लिम विजेताओं ने भारतीय जनता के ऊपर एकदम से विदेशी व्यवस्था नहीं लाद दिया। ग्रामीण-व्यवस्था के कुछ न कुछ अंश एकाधिक शाहंशाहों के जमाने में समान थे। इससे यह पता लगता है कि इन लोगों ने उस समय में प्रचलित व्यवस्था के ही कुछ काम चलाऊ अंगों को स्वीकार कर लिया और कालान्तर में आवश्यकतानुसार उसी में सुधार व परिवर्तन करते गये। अतः मुस्लिम-कालीन ग्रामीण-व्यवस्था को समझने के लिये यह आवश्यक है कि हम उस व्यवस्था का अध्ययन कर लें जो मुसलमानों के आने के पूर्व भारत के विभिन्न भागों में सिद्धांत रूप में एवम् क्रियात्मक रूप में प्रचलित थी। यह समय १२ वीं शताब्दी का है। परन्तु कठिनाई इस बात की आती है कि तत्कालीन ऐतिहासिक तथा साहित्यिक ग्रंथों में ऐसा कोई भी वर्णन नहीं है जिससे तत्कालीन ग्रामीण-व्यवस्था का अध्ययन किया जा सके। उस समय की राजनैतिक दशा भी कुछ ऐसी ही थी कि इस प्रकार के कुछ भी साहित्य का न पाया जाना आश्चर्यजनक नहीं है। हो सकता है कि भविष्य में चलकर प्राचीन साहित्य की खोजबीन करके बारहवीं सदी की ग्रामीण-व्यवस्था पर भले ही प्रकाश डाला जा सके परन्तु आज तो ऐसे साहित्य का पूरा अभाव ही है।

इस अभाव के कारण अधिक से अधिक इतना ही किया जा सकता है कि हिन्दू व्यवस्था के मूलभूत अंगों का विश्लेषण करके उनका ऐतिहासिक सम्बन्ध उस व्यवस्था

से स्थापित किया जाय जो मुस्लिम काल में प्रचलित थी। इस अध्याय में हम इसी प्रकार का प्रयत्न करेंगे, परन्तु शुरू में ही यह बता देना ठीक होगा कि हमें विशाल संस्कृत साहित्य के अनुवादों का ही सहारा लेना पड़ा है और मेरा अनुभव यह कहता है कि अनुवादों का सहारा पारिभाषिक कार्यों में बहुत भरोसे का नहीं होता। मुस्लिम-कालीन साहित्य के अध्ययन में सबसे बड़ी कठिनाई यह पड़ती है कि किस पद (Designation) अथवा वस्तु का नाम किस समय में क्या था, इसका पता नहीं चलता। इन अर्थ भेदों का पहले तो कोई रिकार्ड नहीं है और अगर कुछ है भी तो यह सन्देह करना स्वाभाविक ही है कि कहीं इन रिकार्डों में भी अर्थ भेद न घुस गया हो। अशोक काल से लेकर मुस्लिम काल के पहले तक जो शताब्दियाँ गुजरीं उनके विशाल साहित्यभंडार में अर्थभेदों का होना अस्वाभाविक न होगा। अतः हिन्दू-व्यवस्था के अंगों का यह वर्णन परीक्षणात्मक ही है। चाहे जो कुछ भी हो यह विवेचन उन विशेषज्ञों के लिये भी सहायक होगा जो उस साहित्य में अनुसन्धान करने की इच्छा करेंगे जिस पर अभी तक कोई भी अनुसन्धान कार्य नहीं हुआ है या जो कुछ हुआ भी है वह अपर्याप्त है।

हिन्दू-काल की ग्रामीण-व्यवस्था की मूलभूत बातों का अध्ययन करने के लिये हमें धर्म का सहारा लेना पड़ेगा जिसके विधानों में विकास हुये हैं, सुधार हुये हैं परन्तु आमूल परिवर्तन कभी नहीं हुये। हिन्दू धर्म के अनुसार देखने से पता चलता है कि हिन्दू-कालीन ग्रामीण-व्यवस्था बहुत कुछ वैसी ही थी जैसी मुस्लिम युग के आदिकाल में मिलती है। मुस्लिम युग की अंतिम कालीन व्यवस्था से भी वह कितने ही अंशों में मिलती है। उस (हिन्दू) व्यवस्था में एक छोर पर राजा है तथा दूसरे छोर पर किसान। राजा राजधानी में तथा कृषक (प्रजा) गाँवों में, बस उन्हीं दोनों के आपसी सम्बन्धों से तत्कालीन ग्रामीण-व्यवस्था की पृष्ठभूमि तैयार होती है। अभी कुछ ही दिनों पहले तक लोगों की ऐसी धारणा थी कि हिन्दू राजा ऐसे शासक होते थे जिनको देवता स्वरूप समझा जाता था, जिन पर पवित्र धर्म का बन्धन था, लोक-मत का भी वे ध्यान रखते थे परन्तु उन पर किसी भी संगठन का अथवा किसी भी समुदाय का कोई नियंत्रण नहीं था। इधर कुछ वर्षों से कुछ भारतीय विद्वानों ने नई राय कायम की है जिसके अनुसार हिन्दू राजा उत्तरदायित्वपूर्ण शासक होते थे अर्थात उनके ऊपर किसी न किसी सभा या परिषद का नियंत्रण रहता था और उसके प्रति राजाओं को जवाबदेह भी होना पड़ता था। उपरोक्त दोनों मतों की विभिन्नता से हमारे इस निबन्ध पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। क्योंकि राजा चाहे निरंकुश होता रहा हो अथवा नियंत्रित परन्तु आगे के विवेचन में इसका कोई भी प्रभाव नहीं पड़ेगा।

मैंने 'किसान' शब्द चुना है जिसका वास्तविक तात्पर्य है दूसरा वर्ग। अर्थात

एक है राजा और दूसरा वर्ग है 'किसान'। किसान के अनेक पर्यायवाची शब्दों को छोड़ कर केवल इसी शब्द को इसलिए चुना ताकि किसी भी भ्रम से पाठक बचे रहें। किसान से हमारा तात्पर्य उस वर्ग से है, जिनका कार्य है अपने लाभ के लिए अपने परिवार वालों या मजदूरों की सहायता से कुछ खेत जोतना चाहे उसका स्वामित्व या स्वामित्व की शर्तें किसी भी प्रकार की क्यों न हों। ध्यान रखना चाहिये कि यह वर्ग उन मध्यस्थों से अलग तो है ही जो उत्पादन में तो कोई सहायता नहीं देता परन्तु उसके कुछ अंग पर दावा रखता है, साथ ही वह उन मजदूरों से भी अलग है जिन्हें वह मजदूरी देता है।

हिन्दू धर्म* राजा तथा कृषक के बीच द्विपक्षीय सम्बन्ध की व्यवस्था करता है जिसमें अधिकारों के बजाय कर्तव्यों की विवेचना ही अधिक है। कृषक का कर्तव्य है कि वह (१) भूमि से उत्पादन करे और (२) उत्पादन का कुछ निश्चित अंश राजा को दे दे। इन कर्तव्यों के पालन करते रहने पर उसे यह आशा रखनी चाहिये कि राजा उसकी रक्षा करेगा और शेष उत्पादन का वह स्वयम् उपभोग करेगा, परन्तु उपभोग के लिये यदि कोई विधान हो तो उसका भी पालन करेगा। राजा का सबसे बड़ा कर्तव्य था कि वह प्रजा को सुरक्षा प्रदान करे और जब तक वह ऐसा करता रहे तब तक उसे राज्यांश पाने का हक है, परन्तु उस अंश को भी वह विधान के अनुसार ही खर्च करेगा। उपरोक्त वर्णन में 'उत्पादन' शब्द पूरी पैदावार के लिए आया है जिसमें न किसी प्रकार की लागत काटी गयी हो और न राज्यांश निकाला गया हो। कालान्तर में ऐसे भी उदाहरण मिलने लगे जहाँ असाधारण खर्चों के लिए कृषक को छूट भी मिलने लगी थी, परन्तु ब्रिटिश शासन † के पहले कभी और कहीं भी ऐसा संकेत नहीं मिलता जब और जहाँ लाभांश पर मालगुजारी निश्चित की गयी हो।

यह बता देना वांछित ही होगा कि उपरोक्त वर्णन का सम्बन्ध भूमि के स्वामित्व

---

* हिन्दू धर्म के सिद्धान्तों का अध्ययन "Sacred Books of the East" नामक ग्रंथमाला के अंतर्गत छापी गयी जिन पुस्तकों से किया गया है वे हैं मनु, विष्णु, आपस्तम्ब, गौतम, वशिष्ठ और बौद्धायन तथा नारद और बृहस्पति।

† इस अनुच्छेद के लिखे जाने के पश्चात् डा० बाल कृष्ण ने "Indian Journal of Ecnomics July 1927" के अंक में यह सिद्ध किया है कि हिन्दू काल में लाभांश (Net income) पर लगान निर्धारित किया जाता था न कि पूरी उपज पर। उनके तर्क हमें विश्वसनीय नहीं लगे मगर उसकी प्रामाणिकता का विचार हिन्दू-कालीन इतिहास में रुचि रखने वालों पर छोड़ देता हूँ।

से नहीं है। धर्म केवल उत्पादन के कर्तव्य की ही व्यवस्था देता है भूमि पर स्वामित्व की नहीं। वर्तमान लेखक इस प्रश्न को जोरशोर से उठाते दिखाई पड़ते हैं कि भूमि पर स्वामित्व किसका था; राजा का या कि किसान का। किन्तु मुझे तो कहीं भी कोई ऐसा वर्णन नहीं मिला जिससे यही पता चलता कि धार्मिक व्यवस्थायें जब दी गयी थीं उस समय कृषि भूमि पर स्वामित्व की कल्पना का जन्म भी हुआ था या नहीं। इसमें सन्देह नहीं कि व्यक्ति या परिवार को भूमि पर पैत्रिक अधिकार थे। वे उसकी अदला बदली भी कर सकते थे क्योंकि धर्मग्रंथों में पैत्रिकता का वर्णन है, दानपत्रों द्वारा हस्तान्तरण का वर्णन है, बेचने का भी वर्णन है परन्तु यह प्रश्न अब भी अनिर्णीत है कि क्या यह अधिकार उन्हें विधान दत्त था या केवल राजा की इच्छानुसार* ही वे उसका उपभोग कर सकते थे। दूसरे शब्दों में जिस प्रश्न का कोई भी निश्चित उत्तर हमें नहीं मिला, वह यह है कि क्या किसी भी भारतीय संस्था या व्यक्ति को इस प्रकार का वास्तविक स्वामित्व प्राप्त था जो राजा या राजभक्ति की उपेक्षा करके भी दृढ़ रह सकता था। मैं यह प्रश्न केवल उठा भर रहा हूँ। इनका उत्तर देना मेरा कार्य नहीं है। यदि भूमि पर स्वामित्व केवल राजा का था, राज्येच्छा तक ही सीमित था तो मुसलमान युग में भी ऐसी ही व्यवस्था थी। परन्तु यदि राज्येच्छा के अभाव में भी स्वामित्व कायम रहने की व्यवस्था थी तो यह समझाना भी आवश्यक होगा कि किन कारणों से अथवा कब और किसके द्वारा इस वास्तविक स्वामित्व को खत्म किया गया और यदि मुस्लिम शाह इतना कर भी सके तो क्या उन्होंने स्वामित्व की भावना को भी कुचल डालने में सफलता प्राप्त कर ली ?

कृषक के स्वामित्व की स्थिति चाहे जैसी भी रही हो पर यह निश्चय है कि दो बातों पर ही विशेष ध्यान देने से उसकी स्थिति का पता लग जायगा। प्रथम प्रश्न यह है कि उत्पादन का कौन भाग राज्य लेता था और द्वितीय प्रश्न कि यह निश्चय कैसे

---

* धर्मग्रंथों में व्यक्तिगत स्वामित्व का वर्णन है परन्तु वे यह नहीं बताते कि उस स्वामित्व का राजा से क्या सम्बन्ध था। वृहस्पति का कहना है कि जिस प्रकार चढ़ी हुई नदी एक किनारे की भूमि दूसरे किनारे को दे देती है उसी प्रकार राजा एक से भूमि छीनकर दूसरे को दे देता है। अर्थशास्त्र में भी अयोग्यता एवम् आलस से ग्रस्त किसान को बेदखल कर देने की व्यवस्था है। मैं यह तर्क इसलिए नहीं दे रहा हूँ कि लोग मेरी राय को ही अन्तिम समझें बल्कि मैं यह चाहता हूँ कि स्वामित्व की व्यवस्था पर विचार करते समय लोग इनको भी देख कर तब अपनी राय कायम करें। अर्थशास्त्र पर एक अध्ययन प्रस्तुत करने वाले एक विद्वान ने एक श्लोक दिया है जिसका अर्थ होता है कि "भूमि और पानी किसी की सम्पत्ति नहीं हैं।"

किया जाता था कि किस किसान से राज्य को कितना पाना है और वह राज्यांश वसूल कैसे होता था ? प्रथम प्रश्न पर धर्मग्रंथों में मतभेद है। परन्तु साधारणतया राज्यांश उत्पादन का १/६ होता था, कहीं १/१२ भी होता था और आपत्ति काल में वह चौथाई से लेकर तिहाई * तक हो जाता था। द्वितीय प्रश्न पर प्रायः सभी धर्मग्रंथ मौन हैं। इससे पता चलता है कि शायद यह प्रश्न धर्मग्रंथों के क्षेत्र से परे था और राजा की इच्छा पर आधारित था। जहाँ तक इन ग्रंथों के अनुवाद प्राप्य हैं उनसे यही कहा जा सकता है कि पूर्ण उत्पादन में से ही राज्यांश बाँट कर या † नाप के सिद्धान्त पर लिया जाता था, परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि क्या मुस्लिम युग की तरह हिन्दू युग में भी राज कर्मचारियों द्वारा ही उसकी वसूली होती थी।

मेरी समझ में मौलिक हिन्दू व्यवस्था यह थी कि कृषक अपने उत्पादन का एक अंश राजा को देता था और वह अंश राजा द्वारा ही, कुछ सीमाओं के भीतर ही या कभी कभी स्वतंत्र रूप से निश्चित किया जाता था और वही यह भी निर्णय। करता था कि उक्त अंश की वसूली किन साधनों से और किस रूप में की जायगी

---

* मनु ने (२५.२३६) १/६, १/८ व १/१२ की व्यवस्था दी है परन्तु आगे चलकर उन्होंने कहा है कि यदि आपत्तिकाल में राजा चौथाई भी ले ले तो उसे दोष नहीं लगता, शर्त यह है कि वह अपनी प्रजा को यथाशक्ति सुरक्षित रक्खे। गौतम (२.२२७) १/१०, १/८ व १/६ की व्यवस्था देते हैं। वशिष्ठ (१४.८) और वैद्धायन (१४.१६०) में १/६ की व्यवस्था हैं। नारद (३३.२२१) भूमि की उपज का षष्ठांश लेने की आज्ञा देते हैं। कौटिल्य के अर्थशास्त्र के एक मीमांसाकार ने (पृ० १०८) कहा है कि १/६ के साथ १/४ व १/३ की भी व्यवस्था है। अर्थशास्त्र भी आपत्तिकाला में १/३ व १/४ राज्यांश की व्यवस्था देता है। Mr. T. Watts ने ह्वेनसांग क यात्रा वृत्तान्त देते हुये लिखा है कि कन्नौज में हर्ष पूरी उपज का १/६ लेता था। प्रयोगात्मक उदाहरण यही अकेला है पर पता नहीं ह्वेनसांग ने किसानों का अध्ययन करके लिखा था या केवल पुस्तकों के ही सहारे। दक्षिण के विषय में Mr. C. H. Rao ने (Indian Antiquary Act Nov. 1911) में लिखा है कि १/६ वाली व्यवस्था प्रायः प्रयोग में बढ़ जाती थी।

† जब राजा प्रति बीघा या प्रति एकड़ का हिसाब लगा कर लगान निर्धारित करते थे तब उसे नाप का सिद्धान्त कहते थे और जब उपज के हिसाब से तौल कर लगान लिया जाता था तो उसे बँटाई सिद्धान्त कहते थे। —अनुवादक

बहुत कुछ इसी प्रकार की व्यवस्था मुस्लिम युग में १३वीं शताब्दी में तथा उसके आगे मिलती है। इस मूल-व्यवस्था में विकास एवम् सुधार के उदाहरण भी आगे मिलते हैं। अब हम इन विकासों एवम् सुधारों का वर्णन करेंगे।

मौलिक व्यवस्था में विकास

पूर्ण उत्पादन में निश्चित राज्यांश की वसूली आदिम व्यवस्था थी जो सम्पूर्ण उत्तर भारत में प्रचलित थी। कहने की आवश्यकता नहीं है कि उसमें सुविधायें भी थीं और असुविधायें भी। यदि वसूली क्षेत्र छोटा हुआ तो यह ढंग पूर्ण सुविधाजनक था परन्तु क्षेत्र बढ़ते जाने के साथ ही साथ इसकी असुविधायें भी बढ़ती जाती थीं। विभिन्न ऐतिहासिक कालों में हमें इस बढ़ती हुई असुविधा के अनुभव प्रायः होते रहते थे। फसलों के पकने का समय प्रायः अनेक सूबों में समान हो था। फसलों में अच्छाई और खराबी भी आती ही रहती थी ऐसी दशा में राजा को बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता था। एक तो उसकी आय का सही अनुमान नहीं हो पाता था दूसरे फसल के समय निर्धारण एवम् वसूली के लिये अनेक कर्मचारी अस्थायी रूप से रखने पड़ते थे, अन्यथा उसके अंश का कुछ भाग वसूल न होने का खतरा बना रहता था। अतः इसी असुविधा को दूर करने के अनेक प्रयत्नों का वर्णन ही आगे का विषय होगा।

उन विकासों को समझने के लिये उनके दो वर्ग कर लेना अधिक सुविधा जनक होगा। प्रथम तो वह जिसमें राजा का कृषक के साथ सीधा सम्बन्ध था और दूसरा वह जिसमें वसूली के लिये राजा अनेक प्रकार के मध्यस्थों का सहारा लिया करता था।

अ-वैयक्तिक राज्यांश निर्णय

इस शीर्षक में हमें दो ढंगों पर विचार करना है। राज्यांश निर्णय तथा मानदंड, जिनका पता हमको १३वीं सदी के इन्डोपर्शियन साहित्य से चलता है। एक और तीसरा विषय है ठेके का जो बाद के साहित्य में मिलता है।

राज्यांश—निर्णय में लगी हुई फसल का निरीक्षण सहायक होता था और राजा को देय भाग का निर्णय अनुमानित उत्पादन पर होता था और उसकी वसूली तभी हो जाती थी जब राजा को सुविधा होती थी। आज भी जमीन्दारों द्वारा उसी ढंग से वसूली की जाती है। परन्तु वास्तविक उत्पादन में से राज्यांश की वसूली के ढंग में राजा की दृष्टि का अत्यन्त सावधान होना आवश्यक था क्योंकि सावधानी के

अभाव में वसूल करने वाला कर्मचारी कृषक से मिल कर राजा या जमीन्दार को धोखा दे सकता था।

मालगुजारी का अनुमान तथा उसका बँटवारा* एक दूसरे से पूर्ण सम्बन्धित हैं। मेरे विचार से ऐसा कह सकते हैं कि उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में जब भी लगान की रकम उत्पादन पर निर्भर करती थी तब अनुमानित उत्पादन का सहारा लिया जाता था और जहाँ विवाद की सम्भावना होती थी और किसान या राजा अनुमान पर शंका प्रगट करते थे वहाँ बँटवारे का ढंग प्रयोग में आता था। यह ढंग प्राचीन काल से ही प्रचलित था। आगे अधिकांश स्थानों में इन दोनों शब्दों के बदले में बँटाई शब्द ही उपयोग में लायेंगे।

फसल कभी अच्छी होती थी और कभी खराब होती थी। कभी तो एक ही किसान के एक खेत में अच्छी फसल होती थी और दूसरे में खराब। ऐसी दशा में अनुमानित राज्यांश काफी विवादग्रस्त हो जाता था। इस कठिनाई को दूर करने के लिये जोत के नाम पर लगान लगाने का ढंग अपनाने का प्रयत्न किया जाने लगा। इस ढंग में उपज की औसत निकालने का प्रयत्न किया गया। किसी भी साल की प्रति बीघा औसत उपज निकाल कर उसी पर राज्यांश निश्चित किया जाता था और वही तब तक लिया जाता था जब तक फिर से निर्धारण की आवश्यकता न पड़ती थी। इस प्रकार किसान की उपज चाहे जितनी हो परन्तु लगान पर उसका कोई असर नहीं पड़ता था। लगान देनी पड़ती थी बोआई की भूमि पर अर्थात् वह जितनी भूमि बोता था उसके अनुसार वह लगान भी देता था। यह भूमि कभी भी फसल के समय नापी जा सकती थी और इस प्रकार वास्तविक उपज को जाने बिना भी राज्यांश का सही-सही अनुमान लगा लेना सरल हो जाता था। परन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि किसान से उतनी ही भूमि का लगान लिया जाता था जितने में प्रति फसल की वह बोआई करता था। अर्थात् लगान का निर्धारण उपज पर न होकर बोई गयी भूमि पर होने लगा। तेरहवीं से उन्नीसवीं शताब्दी तक दोनों ही ढंग स्थान एवम् समय भेद से प्रचलित रहे। कभी-कभी तो दोनों ही ढंग साथ-साथ ही प्रचलन में आ जाते थे। परन्तु इनमें जो थोड़ी बहुत असुविधा थी वह यही कि न केवल प्रति वर्ष वरन् प्रति फसल के समय राजा को नया प्रबन्ध करना पड़ता था और इस

---

* बँटवारा से तात्पर्य यह कि किसान का पूर्ण उत्पादन सामने रखकर उसमें से राज्यांश ले लेना, परन्तु अनुमान से यह तात्पर्य है कि पूर्ण उत्पादन चाहे कम हो या अधिक, अनुमानित मात्रा ले ही ली जाती थी। —अनुवादक

प्रकार उसकी आय सदैव ही घटती बढ़ती रहती रहती थी। इस अनिश्चितता एवम् असुविधा को दूर करने के लिये कालांतर में ठेके की प्रथा का प्रचलन किया गया।

ठेके की प्रथा में लगान निर्धारण करने वाले कर्मचारी से किसान एक प्रकार का ठेका कर लिया करते थे। वे अपनी अधिकृत भूमि के बदले में निर्धारित रकम प्रति वर्ष उस कर्मचारी को दे दिया करेगा चाहे वह अधिकृत भूमि से कुछ उपजावे या नहीं। इस प्रणाली के गुण दोषों का विवेचन आगे चल कर किया जायगा। वर्तमान काल में प्रचलित व्यवस्था का मूलरूप यही ठेके की प्रथा है।

ब-मध्यस्थों के द्वारा लगान निर्धारण

मध्यस्थ शब्द का प्रयोग उन सभी लोगों के लिये हुआ है जो राजा की ओर से लगान का निर्धारण या उसकी वसूली करते थे। इसका कुछ अंश और कभी-कभी तो पूरा का पूरा ही उनके पास रह जाता था। इन मध्यस्थों को हम सरदार (Chiefs), प्रतिनिधि (Representatives), जागीरदार (Assignees), वक्फदार (Grantees) और सीरदार (Farmers) के नाम से जान सकते हैं।

सरदार (Chiefs)—मुस्लिम युग के प्रारम्भ काल में बादशाह विदेशी थे अतः भूमि का अधिकांश भाग हिन्दू सरदारों* के पास था। ये सरदार लोग उस भूमि के बदले में बादशाह को एक निश्चित रकम कर के रूप में देते थे और शाही नौकरों को उन भूमि क्षेत्रों के लिये न कुछ करना ही पड़ता था और न वे सरदारों के आन्तरिक मामलों में कभी कुछ हस्तक्षेप ही करते थे। प्रारम्भिक लेखों में इन्हें राजा, राना, राय, राव इत्यादि कहते थे और ये खिताब आज भी कायम हैं यद्यपि उनका काम उनके हाथ से निकल गया है। इन खिताबों से यह भी पता चलता है कि बादशाह को कर देने के मामले को छोड़ कर बाकी मामलों में वे स्वतन्त्र होते थे। उनके हिन्दू कालीन अधिकार ज्यों के त्यों रह गये थे। कालान्तर में ये ही सरदार जमीन्दार कहे जाने लगे। स्मरण रहे कि मुस्लिम कालीन जमीन्दारों एवम् आजकल के जमीन्दारों में ऐतिहासिक समता है यद्यपि दोनों के स्वामित्व की स्थिति में अब पर्याप्त परिवर्तन हो गया है। भूतकाल में इन सरदारों के ऊपर किस ढंग से कर-निर्धारण होता था उसका कोई भी वर्णन कहीं भी नहीं मिलता। यह कर-निर्धारण या तो आपसी समझौते से तय होता रहा होगा या बादशाह की आज्ञा से। यह निर्णय करना सरदार का ही काम होता

* सरदार शब्द का प्रयोग जानबूझ कर दिया गया है क्योंकि जमीन्दार शब्द से इसलिये गड़बड़ी होने की सम्भावना है कि भारत के विभिन्न भागों में जमीन्दार शब्द का अर्थ भिन्न-भिन्न अर्थों में होने लगा है।

था कि वह किसान से मालगुजारी किस ढंग से वसूल करे। सरदारों का स्वामित्व उनकी राजभक्ति पर निर्भर था जिसका मुख्य अंग था कि वे नियमित रूप से समय पर कर अदा कर दिया करें। यहीं पर हमें उस भावना का ज्ञान होता है जिसके अनुसार कर का न देना और राजद्रोह समानार्थी से हो गये हैं। कर न पहुँचाने का फल यह होता था कि बादशाह उन्हें या तो अपदस्थ कर देता था या नई शर्तों के साथ उसे ही वह पद फिर से दे देता था। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रकार के कार्य के लिये कभी बादशाह की आज्ञा से ही काम चल जाता था और कभी-कभी लड़ाई तक की नौबत आ जाती थी।

प्रतिनिधि (Representatives)—मुस्लिम काल के अधिकांश समय में किसी गाँव से राजा को कितना मिलेगा इसका निर्धारण फसल पर या सालाना सालाना होता था। यह निर्धारण लगान निर्धारक कर्मचारी और गाँव में किसानों के प्रतिनिधि या मुखिया के बीच समझौते द्वारा होता था। इस समझौते का आधार गाँव की बोई गयी तथा बोई जाने वाली जमीन का क्षेत्रफल होता था साथ ही मौसम तथा अन्य परिस्थितियों पर विचार किया जाता था। पहले गाँव भर की लगान इकट्ठा तै कर ली जाती थी तब मुखिया उस रकम को गाँव भर के किसानों के ऊपर हैसियत का विचार करते हुये लगा देता था। लगान निर्धारण की यह प्रणाली* बहुत कुछ सरदारों के द्वारा अपनायी गयी प्रणाली के समान ही है। कभी-कभी यह निर्धारण प्रति गाँव के मुखिया के द्वारा न होकर परगना के चौधरी (मुखिया) के द्वारा सारे परगने का एक साथ ही होता था। फिर चौधरी प्रति गाँव के मुखिया के ऊपर और मुखिया अपने गाँव के प्रति किसान को लगान की रकम बता देता था। सरदारों के निर्धारण और उस निर्धारण में इतना ही अन्तर था कि सरदारों से निश्चित रकम राजा लेता था परन्तु प्रतिनिधि निर्धारण में राज्यांश घटता बढ़ता रहता था। सरदारों द्वारा देय कर तब तक निश्चित रहता था जब तक बादशाह उसे कम या अधिक न कर दे।

जागीरदार(Assignees)—कभी-कभी ऐसा होता था कि बादशाह किसी व्यक्ति की सेवा या किसी भी काम के बदले में नकद रकम न देकर उस व्यक्ति को कुछ प्रदेश जागीर के रूप में दे देते थे। उस प्रदेश का समूचा राज्यांश † उस व्यक्ति को मिलता था, साथ ही उसे वसूल करने में पड़ने वाली बाधाओं को दूर कर पाने के योग्य प्रशासनिक अधिकार भी उस व्यक्ति (जागीरदार) को दिये जाते थे। जागीरदारी की यह प्रथा मुस्लिम-कालीन ग्रामीण-व्यवस्था का एक मुख्य अंग है। ये

---

* Group assessment

† राज्यांश लगान का पर्यायवाची है।

जागीरदार एक गाँव से लेकर सूबे तक के होते थे। इन जागीरदारों से बादशाह प्रायः ऐसे ही काम लेते थे जैसे शाही कार्यों के लिये फौज रखना या सैनिकों अथवा अन्य कर्मचारियों का वेतन देना इत्यादि। इस प्रकार उस जागीर का सारा राज्यांश ही इस जागीरदार को मिलता था।

वक्फदार (Grantees)—जिस प्रकार भविष्य में की जाने वाली सेवा के लिये जागीरदारों को जागीरें दी जाती थीं उसी प्रकार पिछली जानदार सेवा या पूर्ण कार्य करने के बदले में पेंशन के तौर पर अथवा पहलवानों, विद्वानों अथवा गौरव कलाकारों के जीवन-यापन के लिये जागीरें मिलती थीं, उन्हें वक्फ कहते थे और जिन्हें इस प्रकार की जागीरें मिलती थी उन्हें वक्फदार कहते थे। दोनों में अन्तर इतना था कि जागिरदार को अपनी जागीर के बदले में भविष्य में आवश्यक सेवा करनी पड़ती थी जब कि वक्फदारों के सामने ऐसी कोई शर्त नहीं होती थी। दोनों ही अपने दाता (बादशाह) की प्रसन्नता तक ही कायम रहते थे।

सीरदार (Farmers)—कभी-कभी ऐसा होता था कि जब किसी व्यक्ति को किसी सूबे की मालगुजारी वसूल करने के लिये नियुक्त किया जाता था तो अनेक उलझनों से बचने के लिये उस व्यक्ति के साथ बादशाह का एक समझौता हो जाता कि वह व्यक्ति एक निश्चित धन राशि बादशाह को देगा चाहे उसकी वसूली कम हो या अधिक। ऐसे सूबेदार फिर अपने सूबे के किसानों से उसी प्रकार का समझौता करते थे कि अमुक किसान निर्धारित लगान देगा चाहे वह जमीन जोते बोये या नहीं। संचार साधन की कमी से यह व्यवस्था ठीक तो होती थी परन्तु इस व्यवस्था ने सटोरियों* को बढ़ावा दिया। क्योंकि अधिक से अधिक रकम देने वाले की ही नियुक्ति सूबेदार के पद पर हो जाती थी और वह भी अपने छोटे से छोटे कार्यकाल में अधिक से अधिक मुनाफा पाने की धुन में उन्ही किसानों को भूमि देने को तैयार होता था जो उसे बड़ी से बड़ी रकम लगान के रूप में दे सकते थे। इस प्रकार उन सीरदारों का जन्म हुआ जो या तो काफी ज्यादा भूमि पर खेती करते थे या काफी बड़ा क्षेत्र लेकर उसे छोटे किसानों में बाँट कर मनमानी लगान लेते थे। इस प्रथा ने अनेक सरदारों और जागीरदारों को भी लालच दिया और वे भी धीरे-धीरे इन्हीं बड़े सीरदारों की श्रेणी में आते गये। परन्तु उससे ग्रामीण-व्यवस्था का सम्पूर्ण ढांचा ही अस्थिर हो गया। क्योंकि लगान निर्धारक, वसूली करने वाले, सरदार, जागीरदार इत्यादि सभी लोग उस श्रेणी में आना पसन्द करने लगे

अब तक राज्यांश के रूप में किसान की उपज की बँटाई पर पर्याप्त कहा जा चुका है परन्तु 'वह राज्यांश राजा को किस रूप में प्राप्त होता था' उस विषय में भी

---

* Speculators

कुछ शब्द आवश्यक होंगे। ऊपर कहे प्रत्येक ढंग का वर्णन इसी रूप में हुआ है कि किसान राज्यांश को कैसे देता था, गल्ले के रूप में हो या नकदी के रूप में सरकारी कर्मचारी समय-समय पर उस समय का भाव लगाकर गल्ले को नकद के रूप में या नकद को गल्ले के रूप में हिसाब लगा कर लगान वसूल कर लिया करते थे। जहाँ तक मध्यस्थों के पारिश्रमिक का प्रश्न था, उन्हें शासन से नकदी ही मिला करती थी। परन्तु 'किस समय से किसान नकदी (Cash) के रूप में लगान देने लगा' इसका पता नहीं चलता। यह सोचना कि नकदी (सिक्कों के रूप में) लगान देने की प्रथा वर्तमान कालीन है भूल है। क्योंकि आगे के अध्याय में हम देखेंगे कि दिल्ली के अस-पास वाले किशान १३ वीं सदी में अपनी लगान प्रायः सिक्कों के ही रूप में * चुकाते थे।

उपरोक्त विकास कब और कैसे हुये यह विषय हिन्दू काल के इतिहास के विद्यार्थी का है। मुझे तो ऐसी सम्भावना दिखाई पड़ती है कि यदि सभी नहीं तो अधिकांश विकास मुस्लिम काल के पहले के ही हैं। मैं इतना ही कर सकता हूँ कि उन बातों की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित कर दूँ जो समान देशीय मालूम पड़ती हैं। उदाहरण के लिए धार्मिक संस्थानों तथा दातव्य संस्थाओं को दिये गये दान पत्र इत्यादि अवश्य हीं मुस्लिम-विजय से पूर्व के हैं। वेतन के बदले जागीर † देने की व्यवस्था हिन्दू धर्म की ही है। मनुस्मृति ‡ में स्पष्ट निर्देश है कि 'सौ गाँवों के प्रबन्धक को एक गाँव की माल गुजारी छूट मिलनी चाहिये'। इसी निर्देश ने शायद जागीर प्रथा को जन्म दिया है जिसे मुस्लिम काल में इतनी प्रशंसा मिली। हर्ष के जमाने में राजा या राज्य की कोई भी सेवा करने के बदले वेतन न मिल कर सीर ही मिलती थी। ह्वेनसांग ने स्पष्ट ही लिखा है कि 'राजा प्रत्येक मंत्री तथा कर्मचारी को पोषण योग्य भूमि ही देता था'। प्रोफेसर आयंगर के अनुसार दक्षिण के चोल राज्य में भी

---

* कुछ स्थान ऐसे भी हैं जहाँ से लगान के रूप में गल्ला या रुपया न आकर सामान आता था, जैसे बंगाल से लगान के रूप में हाथी आया करते थे।

† जागीरदारी में जागीरदार केवल मालगुजारी वसूल करके पोषण करने का अधिकारी था परन्तु सीरदारी में जोतने को भूमि दी जाती थी जिसकी उपज से सीरदारों का भरण-पोषण होता था।

‡ Sacred Books of the East XXU. 234. Mr. Watts 176, Ayangar P. 184. अर्थशास्त्र के रचयिता ने इस व्यवस्था को बुरी बताया है परन्तु वह इससे परिचित अवश्य था।

२

जागीर की प्रथा थीं, 'ऊँचे कर्मचारी तथा छोटे कर्मचारी सभी को या तो राजा की ओर से भूमि दी जाती है या भूमि का लगान'।

हिन्दू राज्य विजय नगर में भी प्रान्तीय शासकों को उपजाऊ भूमि दी जाती थी और यह सम्भव है कि वेतन देने के बदले भूमि देने की प्रथा गाँवों * में भी रही हो, क्योंकि विजयनगर-साम्राज्य के ध्वंस होने पर उसके गाँवों में इस प्रथा के प्रचलित रहने के प्रमाण मिलते हैं। यह एक उल्लेखनीय बात है कि सत्रहवीं शताब्दी में हिन्दू राज्य विजयनगर की ग्रामीण व्यवस्था मुस्लिम राज्य गोलकुन्डा की ग्रामीण व्यवस्था के ही समान थी और यह असम्भव है कि पहले से स्थापित विजयनगर नें परवर्ती गोलकुंडा राज्य की प्रथा अपनाई हो। अधिक सम्भावना इस बात की है कि १३ वीं सदी के अन्त में दक्षिण में बड़े पैमाने की खेती (जैसी जागीरदारी या सीरदारी में ही सम्भव है) हिन्दू ग्रामीण व्यवस्था का एक सुदृढ अंग हो चुकी थी और अलाउद्दीन खिलजी ने जब दक्षिण को विजय किया तो उसने भी दक्षिण के राज्यों में वही व्यवस्था कायम रक्खी।

अतः हम कह सकते हैं कि सरदारी, जागीरदारी, वक्फदार ये सब हिन्दू-ग्रामीण व्यवस्था के ही अंग थे।

ऐसी कोई प्रत्यक्ष सामग्री तो नहीं है जो यह प्रमाणित कर सके कि उस समय ऐसे भी छोटे सरदार या राजा थे जो अपने से बड़े राजा को लगान देते थे परन्तु राजाओं की संख्या का आधिक्य एवम् हर समय होती रहने वाली लड़ाइयों ने ऐसा वातावरण अवश्य उपस्थित कर दिया होगा जिसमें केवल इसी प्रकार की व्यवस्था फलदायिनी हो सकती थी और अर्थशास्त्र (कौटिल्य) के अध्ययन से ऐसी सम्भावना दिखाई पड़ती है कि उस समय कर देने वाले राजा अवश्य रहे होंगे। कौटिल्य का अर्थशास्त्र समूचे ग्राम से कर वसूल करने की व्यवस्था देता है और यह व्यवस्था मुस्लिम कालीन व्यवस्था से एकदम मेल खाती है। इसके अतिरिक्त दक्षिण के शिलालेखों † में भी नाप के अनुसार निश्चित अनाज राज्य को देने की बात पायी जाती है और यह बात मुस्लिम विजय से पहले की है।

---

* एक पुर्तगाली यात्री नुनीज ने १६ वीं सदी के प्रारम्भिक वर्षों में विजय-नगर का वर्णन किया है (Sesuell, A forgotten Empire 373) उसके अनुसार विजयनगर के सभी हिन्दू सर्दारों का गुजर सीरदारी से ही होता था। अपनी 'अकबर से औरङ्गजेब' नामक पुस्तक के आठवें अध्याय में मैंने इस विषय का वर्णन किया है।

† देखिये आयंगर पृ० १५०, १७५

इसी सम्बन्ध में एक राजपूत रियासत उदयपुर (मेवाड़) की ग्रामीण व्यवस्था का जिक्र कर देना ठीक होगा। यह रियासत सम्पूर्ण रूप से कभी भी मुसलमानी शासन में नहीं आयी और इसीलिये उसकी सम्भावना अधिक है कि वहाँ हिन्दूकालीन व्यवस्थायें अपने शुद्ध रूप में ही बँची रह गयी हों, श्री जी० चेनविक्स ट्रेंच नामक सज्जन इस रियासत में लगान के पुर्ननिर्धारण का कार्य कर रहे थे उन्होंने बताया कि वहाँ बँटाई, नाप तथा ठेका तीनों प्रथायें ही प्रचलित थीं और कहीं-कहीं तो तीनों प्रथायें एक ही साथ तथा एक ही गाँव में पाई जाती थीं। बँटाई अनुमानित उपज की तिहाई या कभी-कभी आधी होती थी परन्तु किसानों को यह स्वतन्त्रता थी कि यदि वे चाहें तो बजाय अनुमानित उपज के वास्तविक उपज की ही तिहाई या आधा खलिहान में ही दे दें। जो फसल खलिहान में नहीं जाती थी जैसे गन्ना तरकारी इत्यादि उसकी लगान नाप के अनुसार ली जाती थी। ठेके की प्रथा का प्रचलन कितने ही लेखों से चलता है। समूचे गाँव पर एक साथ लगान निर्धारण वहाँ आज भी प्रचलित हैं। सीरदारी अभी ५० वर्ष पूर्व तक प्रचलित थी और अभी थोड़े दिनों पूर्व जागीरदारी प्रथा ही प्रशासन का मुख्य अंग थी।

यह व्यवस्था उस रियासत की है जहाँ मुस्लिम विजय एवम् व्यवस्थाओं का प्रभाव नहीं के बराकर था। अतः उपरोक्त वर्णन को देखते हुये यह परिणाम निकालना सरल है कि मुस्लिम युग में जो व्यवस्थायें प्रचलन में थीं उन सब का मूलरूप हिन्दू व्यवस्था से लिया गया था। सम्भावना तो इस बात की ही अधिक दिखाई पड़ती है कि वे व्यवस्थायें अत्यधिक समय तक प्रचलन से रहने के पश्चात् ही लेखों में स्थान पा सकीं। अतः हम कह सकते हैं कि मुस्लिम विजेताओं ने प्रचलित व्यवस्थाओं को ज्यों की त्यों स्वीकार कर लिया था। हमें यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि ये विजेता भी अपने साथ किसी न किसी प्रकार की ग्रामीण-व्यवस्था का आदर्श अवश्य लाये होंगे और ये व्यवस्थायें अवश्य ही इस्लाम के सिद्धान्तों के अनूकूल रही होंगी, भले ही आवश्यकतानुसार बादशाहों अथवा वजीरों ने समय समय पर उनमें सुधार व परिवर्तन कर लिया हो। अतः अगले अनुच्छेद में इस बात पर विचार करेंगे कि मुस्लिम विजेता किस प्राकर की भावना साथ लाये थे और किस प्रकार हिन्दू व्यवस्थाओं से उनका सम्बन्ध स्थापित हुआ।

इस्लाम की व्यवस्था

आठवीं शताब्दी में अबू यूसुफ याकूब बगदाद का प्रधान काजी था। हारून-उल-रशीद उस समय खलीफा थे। याकूब ने 'किताबुल खराज' नामक एक ग्रंथ लिखा

था जिसको देखने से पता चलता है कि इस्लामी व्यवस्था का मुख्य अंग था लगान योग्य भूमि को दो वर्गों में बाँटना। अरब की मुख्य भूमि को उश्री (Tithe) भूमि कहते थे और उस भूमि पर उपज का दसवाँ भाग लगान रूप में लिया जाता था। मुस्लिम शासक जब कोई देश जीत कर वहाँ के निवासियों को भूमि से बेदखल कर के वह भूमि अपने अधीनस्थ सैनिकों और कर्मचारियों में बांट देते थे तो उस जमीन को खिराजी जमीन कहते थे। परन्तु मुस्लिम शासकों ने भारत में इस क्रिया को नहीं दुहराया। राज्यों पर अधिकार करके जोत की भूमि को उन्होंने पुराने लोगों के ही पास रहने दिया। फल यह हुआ कि जोत की भूमि का अधिकांश हिन्दुओं के ही पास रह गया। अतः यहाँ की समूची भूमि खिराजी हो गयी। इसका परिणाम यह हुआ कि हिन्दुओं को दो टैक्स देने पड़ गये। गैर मुसलमान होने के नाते उन्हें जज़िया (मुसलमानी धार्मिक कर) देना पड़ा, साथ ही भूमि जोतने के बदले उन्हें खिराज भी देना पड़ गया। खिराज के पीछे यह भावना थी कि इस द्रव्य से मुस्लिम-हित के कार्य किये जायंगे परन्तु कालान्तर में जब स्वतंत्र मुस्लिम रियासतें कायम होने लग गयीं तो धीरे धीरे इस खिराज ने लगान * की शक्ल ले लिया।

मूलरूप में लगान उपज के किसी भाग के रूप में थी परन्तु वह भाग कितना हो इस विषय पर इस्लाम चुप है। हाँ वास्तविकता यह प्रतीत होती है कि लाभ का अधिकाँश मुसलमानों के उपयोग में आवे। याकूब ने केवल इतना विचार रखने की व्यवस्था की है जिससे अत्यधिक लगान के कारण उपज ही कम न होने लगे। किसान से राज्य कितना ले यह तै करना शासक के ही जिम्मे था उसे केवल स्थानीय परिस्थितियों का ही विचार करना पड़ता था। वह यदि चाहे तो किसान की सारी बढ़ोत्तरी (Surplus) मांग सकता था परन्तु उसे इस बात का हमेशा ध्यान रखना पड़ता था कि कहीं लगान की अधिकता से तंग आकर किसान भाग न जाँय या कम भूमि न जोतने लगें। लगान निर्धारण कैसे हो यह तै करना भी शासक का काम था और अबू यूसुफ † याकूब के पुस्तक में भी उन्हीं दो तरीकों का ही वर्णन है जिन्हें हम 'बँटाई' तथा 'नाप' के नाम से जान चुके हैं।

---

* देखो Appendix A

† भूमि की नाप कर ली जाती थी तत्पश्चात् कुछ नगद और कुछ गल्ले के रूप में क्षेत्रफल के हिसाब से लगान लग जाती थी इसे नाप का सिद्धान्त कहते थे और जहां उपज के अनुमान तथा उसकी वास्तविकता का कुछ अंश लिया जाता था उसे बंटाई कहते थे।

अबू यूसुफ ने वली (Gover nor) तथा किसानों के बीच प्रत्यक्ष सम्बन्ध होने पर जोर दिया है और मध्यस्थों के विषय में वह प्रायः कुछ भी नहीं कहता। 'सीरदारी' को उसने रमनात्मक कहा है परन्तु उसके वर्णनों से पता चलता है कि वह 'सीरदारी' प्रथा से परिचित था। वह उसके उपयोग को वहीं पसन्द करता था जहाँ कई किसान एक साथ ही सामूहिक निर्धारण चाहते थे। उसके द्वारा वर्णित प्रथा एक दम वैसी ही थी जिसका वर्णन हम पिछले अनुच्छेद में कर चुके हैं। अबू यूसुफ कहीं सर्दारों द्वारा लगान निर्धारण की बात नहीं करता और न वह वक्फ-दारों का और न जागीरदारों का ही वर्णन करता है। फिर भी यह निश्चित है कि देहली में मुस्लिम राज्य स्थापित करने वाले लोग इन व्यवस्थाओं से परिचित अवश्य थे। धार्मिक संस्थाओं को दान देना इस्लामी मजहब का मुख्य अंग था। १२वीं शताब्दी में अफगान बादशाह बराबर जागीरें दिया करते थे और गोरी के भारतस्थित सरदार उसे तब तक खिराज देते रहे जब तक उन्होंने स्वतंत्र रूप से अपनी बादशाहत कायम न कर ली।

इस प्रकार मुस्लिम विजेता ग्रामीण व्यवस्था का जो आदर्श अपने साथ लाये थे उससे बिल्कुल मिलती जुलती व्यवस्था उनको भारत में भी मिली। वे भूमि की उपज का एक निश्चित भाग भारतीय किसान से लेने के लिए तैयार हो कर आये थे और यहाँ उन्होंने पाया कि यहाँ के किसान निर्धारित लगान ऐसे किसी को भी देने को तैयार थे, जो लेने की स्थिति में होता। मुस्लिम विजेता या तो नाप के अनुसार या बँटाई के अनुसार लगान-निर्धारण करना चाहते थे और उन्होंने पाया कि उक्त दोनों व्यवस्थाओं से यहाँ के लोग परिचित थे। विजेताओं ने यहाँ के सर्दारों से उनके स्वामित्व में रहने वाले प्रान्तों के बदले कर लेना चाहा और यहाँ के सर्दार उसके लिये तैयार मिले। मुस्लिम विजेता जागीरदारी और वक्फ के हिमायती थे और भारत में ये प्रथायें पहले से ही थीं। भारत में प्रचलित सीरदारी से मुसलमानों का परिचय था। अतः एक बार शस्त्र के बल पर सल्तनत कायम कर पाने के पश्चात् मुसलमानों को इस बात में कोई कठिनाई नहीं हुई कि दोनों व्यवस्थाओं को वे एक में मिला दें।

हिन्दू व्यवस्था और मुस्लिम व्यवस्था में मुख्यतया दो भेद दिखाई पड़ते हैं। पहला भेद तो यह है कि इस्लामी व्यवस्था यह थी कि किसानों से पूरा लाभांश लिया जा सकता था जब कि हिन्दू व्यवस्था में राज्यांश उपज का छठवां भाग ही होता था। परन्तु हिन्दू धर्म की षष्ठांश व्यवस्था को अपने साँचे में ढाल लेने में मुसलमानों को कोई कठिनाई नहीं हुई क्योंकि यहाँ के जन जीवन के मुकाबले में उनकी शक्ति बहुत ही बढ़ी-चढ़ी हुई थी। दूसरा अन्तर यह था कि हिन्दू व्यवस्था सभी प्रकार के फसलों

के लिये समान थी जबकि इस्लामी व्यवस्था में विभिन्न फसलों के लिये विभिन्न दरें थीं। ये विभिन्नतायें बोई जाने वाली फसलों पर तथा सिंचाई की सुविधाओं पर आधारित थीं। जैसे अबू यूसुफ का कहना है कि गेहूँ और जौ की उपज का $\frac{2}{5}$ लेना चाहिये यदि उनकी सिंचाई प्राकृतिक साधनों (नदियों इत्यादि) से की जाती हो; परन्तु यदि मानव कृति साधनो (पुर, चर्खी इत्यादि) से सिंचाई की जाती हो तो $\frac{3}{10}$ भाग लेना चाहिये। खजूर, हरी फसलों तथा बाग की उपज का $\frac{1}{3}$ लेना चाहिये, गर्मी की फसलों का चौथाई ही पर्याप्त समझना चाहिये। दिल्ली सल्तनत में इस प्रकार का भेद पूर्ण निर्धारण * कभी हुआ या नहीं उसका जवाब मैं नहीं दे सकता क्योंकि सन् १३०० ई० के पहले किसी भी निर्धारण या मांग का समावेश किसी भी राजकीय लेख (Rccord) में नहीं हुआ है। सन् १३३० ई० के आप-पास ही अलाउद्दीन खिलजी ने हिन्दू व्यवस्था का सहारा सा लेते हुये उपज के आधे भाग की मांग की, परन्तु यह मांग सभी भागों में तथा सभी फसलों के लिये समान थी। कालान्तर में शेरशाह तथा अकबर ने भी हिन्दू व्यवस्था का ही अनुसरण किया। जहाँ तक निर्धारण की विभिन्न दरों का प्रश्न है और जो पूर्णतया इस्लामी व्यवस्था है उसका प्रचलन दक्षिण † भारत में मुर्शिदकुली खां ने १७वीं सदी के मध्य भाग में किया।

यह सत्य है कि शुक्रनीति नामक ग्रंथ में इस प्रकार के विभिन्न दरों (Diffe.-ential Scale) की चर्चा है और जिसके आधार पर कुछ लोग यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि विभिन्न दरों वाली व्यवस्था यह भी हिन्दू धर्म की ही व्यवस्था है। मेरी राय में यह ग्रंथ अति प्राचीन न होकर काफी इधर का है। शुक्रनीति में तोपखाने का वर्णन है इससे यह मुस्लिम विजय के बाद का लिखा हुआ मालूम पड़ता है। जहाँ तक मेरा बिचार है इस राय को पक्की मानने में कोई बाधा नहीं है कि यह सत्रहवीं शताब्दी में लिखा गया जब कि भारत में विभिन्न दरों वाली (Differential Seale) व्सवस्था प्रचार पा चुकी थी। ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे यह ग्रंथ हिन्दू कालीन व्यवस्था तथा मुस्लिम कालीन व्यवस्था को एक सा बनाने के लिये लिखा गया है। इसमें हिन्दू व्यवस्था का $\frac{1}{6}$ भाग वाला विषय है परन्तु उसे सीमित कर दिया गया है, केवल ऊसर तथा पहड़ी भागों के लिए। उपजाऊ भूमि के लिये इस ग्रंथ में चौथाई से लेकर आधे तक की व्यवस्था है। चौथाई से आधी तक का विभेद भी सिंचाई के साधनों के भेद पर ही निर्भर है। यह शायद किसी ऐसे विद्वान द्वारा लिखा गया

---

* Differential Scale

† डा० ईश्वरी प्रसाद (Meclival India P. 46) के अनुसार अरबों ने आठवीं सदी में सिन्ध में Differential Seale का प्रचलन किया था।

मालूम होता है जिसे हिन्दू धर्म की व्यवस्था का पूरा ज्ञान था, साथ ही मुस्लिम व्यवस्था से भी उसका पूर्ण परिचय था।

दोनों व्यवस्थाओं के अन्तर के उपरोक्त वर्णन के लिये पर्याप्त विस्तृत विवेचन चाहिये। फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि चौदहवीं शताब्दी में जो भी ग्रामीण-व्यवस्था भारत में प्रचलित थी, वह अपने मुख्य अंगों में इस्लामी-व्यवस्था-के अनुसार थी और हिन्दू व्यवस्था के भी प्रतिकूल नहीं थी। इस लिए मुस्लिम शासकों ने इतना भर किया कि व्यवस्था के पारिभाषिक शब्दों को अरबी या फारसी में बदल दिया। ऐसा भी एकदम से नहीं हो गया। कुछ शब्दों के तो अरबी या फारसी शब्द प्रयोग में आने लगे मगर कितने ही हिन्दू कालीन शब्द ज्यों के त्यों रह गये। इस रद्दो-बदल का वर्णन इसलिये कुछ विस्तार से कर देना उचित है कि प्राचीन ऐतिहासिकों को समझने में सबसे बड़ी कठिनाई पारिभाषिक शब्दों तथा उनके अर्थों को ही लेकर सामने उठाती है।

यदि यह वर्णन सर्वाधिक मुख्य व्यक्ति से शुरू करें तो 'एक किसान' (Individual peasant) के लिए प्रारम्भ में कोई शब्द नहीं था। किसानों के समूह के लिये "रैयत" शब्द आता था जिसे अंग्रेजों ने रियाट (Ryot) के रूप में अपना लिया है। इस शब्द का अर्थ भी विचित्र है। मनुष्य को जीवन निर्वाह के लिये पशु भी आवश्यक होते थे और साथ ही उनकी सुरक्षा भी। जैसे रेगिस्तान में ऊँट, चरागाहों में भेंड़-बकरी गाय बैल आवश्यक हैं, खेती योग्य मैदानों में वैसे ही किसान भी आवश्यक हैं। इन्हीं ऊँटों, भेंड़ों, बकरियों के झुंड को 'रैयत' कहते थे। लाक्षणिक अर्थों में किसानों के समूह को भी रैयत ही कहने लगे। जैसे उन जानवरों की सुरक्षा आवश्यक थी वैसी ही सुरक्षा की आवश्यकता किसानों को भी थी। भारत में अठारहवीं शताब्दी तक 'एक किसान' के लिये कोई भी शब्द प्रचलित नहीं रहा और पूरे मुस्लिम काल में "रैयत' शब्द समूह वाचक संज्ञा (Noun of Multitude) के ही रूप में इस्तेमाल होता रहा। बहुबचन में प्रयुक्त होने पर इससे 'जानवरों' का बोध होता था न कि किसानों का।

जहाँ तक सरदार (Chief) शब्द का सम्बन्ध है, यह शब्द धीरे-धीरे प्रयोग में आया। तेरहवीं शताब्दी के मध्य के इतिहास कार मिनहाजुल सिराज * ने शुद्ध भारतीय शब्दों से काम लिया है जैसे राय, राना इत्यादि। एक शताब्दी बाद

* तुजक नासरी में पृष्ठ ६ पर राय शब्द है आगे सर्वत्र राना शब्द का प्रयोग हुआ है।

जियाउद्दीन बरनी * ने 'सरदार' (Chief) के लिये 'खूत' शब्द को इस्तेमाल किया, जो उत्तरी भारत के किसी भी लेखक के लेख में नहीं मिलता। बरनी ने 'सरदार' शब्द के लिये कहीं कहीं 'जमीन्दार' शब्द का प्रयोग भी किया है परन्तु उसके बाद के इतिहासकार शम्स अफीफ ने 'जमीन्दार' शब्द का ही प्रयोग किया और उसके बाद 'जमीन्दार' शब्द पदसूचक (Designation) बन गया। 'गाँव' शब्द के लिये फारसी का शब्द 'देह' प्रारम्भ से ही मिलता है, बाद में अरबी के 'मौजा' ने 'देह' का स्थान ले लिया, हिन्दी में कई गाँवों को मिला कर परगना कहते हैं, इसके भी विभिन्न समयों में अलग नाम थे। शुरू के लेखकों ने परगना के लिये अरबी शब्द 'कस्बा' रक्खा। परन्तु कालान्तर में शम्स अफीफ ने हिन्दी शब्द परगना ही कायम रक्खा।

हिन्दूकाल में गाँवों में और परगनों में भी मुखिया और लेखा-रक्षक होते थे, ये पद मुस्लिम काल में भी बने रहे। उनमें से दोनों ज्यों के त्यों रहे मगर बाकी दो के स्थान में नये शब्द आ गये। परगना के मुखिया को चौधरी और गाँव के लेखा रक्षक को पटवारी ही कहते रह गये, परन्तु गाँव के मुखिया को 'मुकद्दम' और परगना के लेखा रक्षक को 'कानूनगो' कहने लगे।

प्रयोग की इस भिन्नता का कारण है वह परिस्थिति जिसमें हिन्दू तथा मुस्लिम व्यवस्थायें एक में मिलीं। जहाँ तक देखा जाता है वहाँ तक नामों में परिवर्तन करने का कोई भी संगठित प्रयास नहीं किया गया। यदि किसी पद के लिये समानार्थी एवम् सरल अरबी या फारसी शब्द मिला तो रख लिया गया नहीं तो हिन्दी शब्द को ही बना रहने दिया गया। ऐसा भी हुआ है कि मुस्लिम काल, में भी फारसी और अरबी के शब्दों का स्थान हिन्दी शब्दों में ले लिया और कहीं-कहीं तो फारसी का ही एक शब्द दूसरों के बदले में आने लगा। इस असंगठित परिवर्तन से पता लगता है कि ये परिवर्तन सिद्धान्त रुपेण विद्वानों द्वारा न किये जाकर उन कर्मचारियों द्वारा समय-समय पर किये गये जो इन क्षेत्रों में काम करते थे। इन लोगों को शब्दों का कोई मोह तो था नहीं वे तो कम से कम कठिनाई पूर्वक अपनी लगान चाहते थे और इसके लिये उनको न इसकी आवश्यकता ही पड़ती थी और न फुरसत ही होती थी कि शब्दों के प्रयोग के किसी काजी या मुल्ला की राय लेने जायँ।

दिल्ली के पहले के मुस्लिम शासकों का यही दृष्टिकोण था। प्रारम्भिक पचास वर्षों तक की तो इस प्रकार की कोई सूचना ही नहीं मिलती जो किसी भी ऐतिहासिक विषय पर प्रकाश डाल सके। हाँ बलबन के शासन मंत्री तथा बादशाहत को जोड़कर प्रायः चालीस वर्षों तक था। उसके समय से सूचनाओं का मिलना शुरू हो जाता

* See Appendix.

है। बलबन अच्छा शासक था और शासन की अच्छाई ही उसका एक मात्र लक्ष्य था। उस लक्ष्य को प्राप्त करने में वह कानून या धर्म की कोई भी बाधा नहीं मानता था। अलाउद्दीन खिलजी भी उतनी ही स्वच्छन्दता से काम लेता था। मुहम्मद तुगलक केवल खलीफा का काम करता था परन्तु समय समय पर इस्लाम के विरुद्ध कार्य करने में भी नहीं हिचकता था। हाँ फीरोज तुगलक इस प्रकार का शासक अवश्य था जो पूर्णतया धार्मिक था और अपना व शासन का प्रत्येक कार्य वह मुल्लाओं तथा काजियों से सलाह लेने के बाद ही करता था। अगले अध्याय में हम देखेंगे कि मुस्लिम विजेताओं ने राजकर सम्बन्धी कोई विशेष नियम सामने नहीं रक्खा। हाँ इतना अवश्य कह सकते हैं कि इन विषयों में मुल्लाओं की राय को इन्होंने कभी भी सर्वोपरि नहीं माना।

पाठकों को शायद जिज्ञासा हो कि उन व्यवस्थाओं का समागम क्या दैवी घटना थी या उस समागम को ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में समझाया भी जा सकता है। मैं कोई निश्चित उत्तर नहीं दे सकता परन्तु इसे दैविक घटना तो माना ही नहीं जा सकता। उसी भूमि का होना अरबी व्यवस्था है परन्तु खिराजी जमीन की समस्या मुसलमानों की पूर्वी विजय की देन थी। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि उन देशों की व्यवस्था भी भारत जैसी ही रही हो। अतएव यह प्रश्न उन छात्रों के लिये छोड़ देता हूँ जो फारस तथा इराक के मुस्लिम विजय के पूर्व समय के इतिहास में रुचि रखते हों और जिसका मुझे कोई भी ज्ञान नहीं है।

———

दूसरा अध्याय

तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दी

दिल्ली की मुसलमानी सल्तनत

दिल्ली में मुसलमानी सल्तनत की स्थापना सन् १२०६ ई० से प्रारम्भ होती है, क्योंकि गोरी का गुलाम कुतुबुद्दीन ऐबक इसी साल गद्दी पर बैठा और उसने सुलतान का खिताब लिया। इसके पूर्व वह गोरी का सूबेदार मात्र था और नियमित रूप से उसे खिराज देता था। उस समय तक भारतीयों को मुस्लिम शासन का अनुभव हो चुका था। मुहम्मद बिन कासिम की सिंध-विजय को आकस्मिम घटना कह कर छोड़ भी दें तो भी अफगान बादशाह प्रायः एक शताब्दी से अपने सूबेदार हिन्दुस्तान * में रखते आ रहे थे। चूंकि इन सूबेदारों का मुख्य कार्य यहाँ से लगान वसूल कर के बादशाह को भेजना ही होता था अतः हमें यह मान लेना चाहिये कि इस समय मुसलमानी व्यवस्था का हिन्दूकालीन ग्रामीण-व्यवस्था से मेल हो चुका था। इस मेल को विस्तार से वर्णन करने के लिये कोई साधन (लेख इत्यादि) नहीं मिलते। अतः लगान के मामलों में हम केवल अन्दाज भर लगा सकते हैं। कभी-कभी ये सूबेदार बड़ी विचित्र परिस्थिति में फँस जाते थे क्योंकि उनके अधीन इतनी अधिक सेना नहीं रहती थी कि ये नाम मात्र के शासक सूबेदार लोग अपनी प्रजा पर पूर्ण नियंत्रण रख सकें। राजनैतिक रूप से मुसलमानों की शक्ति के तीन केन्द्र थे १—मुल्तान,

---

* ऐतिहासिक लेखों में 'हिन्दुस्तान' शब्द का अर्थ बदलता रहा है परन्तु इस काल में 'हिन्दुस्तान से बोध होता था उस भूभाग का, जो मुस्लिम शक्ति केन्द्रों से दक्षिण पूर्व में पड़ता था। वह केन्द्र तब जहाँ रहा हो। जैसे सन् १०९८ में जब गजनी के शाह ने हिन्दुस्तान के गवर्नर की नियुक्ति की (तबकाते नासिरी, २२) तो उसके अधीन उत्तर पश्चिम भारत का एक छोटा सा प्रदेश था किन्तु सन् १२५० में दिल्ली का सुल्लतान कन्नौज के रास्ते हिन्दुस्तान आ गया। (तबकाते नासिरी २१०) १३ वीं १४ वीं शताब्दी में हिन्दुस्तान शब्द गंगा पार के प्रदेश का अर्थ देता है तथा कभी-कभी राजपूताना तथा मध्य प्रदेश का भी।

२—लाहौर और बाद में, ३—देहली। इन तीनों केन्द्रों के आसपास के क्षेत्रों पर इन सूबेदारों का शासन था। ये क्षेत्र बड़े छोटे थे और सूबेदार के व्यक्तित्व तथा अन्य परिस्थितियों के कारण इनमें घट-बढ़ हुआ करती थी। अगली शताब्दी की घटनाओं पर ध्यान देने से पता चलता है कि इस प्रकार के मुसलमानी शासन में भी हिन्दू सरदारों पर ही सारा दारोमदार था और किसी भी सूबेदार की सफलता या असफलता निर्भर करती थी हिन्दू सर्दारों के साथ उसके सम्बन्धों पर और ये सम्बन्ध कुछ तो सूबेदार के व्यक्तित्व से बनते बिगड़ते थे और कुछ उसके अधीनस्थ सैनिकों की कमी बेशी पर, परन्तु किसी सामग्री (Record) के अभाव में इस प्रकार का अनुमान मिथ्या भी हो सकता है।

भारतीय इतिहास की १३ वीं तथा १४ वीं शताब्दी अपना अलग स्थान रखती है। उस समय में सिन्ध से बिहार एवम् हिमालय से नर्वदा नदी तक मुसलमानों का ही शासन रहा, यों कभी-कभी उसका राज्य पूर्व और दक्षिण में भी कुछ बढ़ जाया करता था। चौदहवीं शताब्दी के अन्त में यह सल्तनत अवनति को प्राप्त होने लगी तथा फलस्वरूप अनेक छोटी-छोटी स्वतंत्र रियासतें बन गयीं। इस युग के तीन मुख्य इतिहासकार हैं। १—मिनहाजुल सिराज, तेरहवीं शताब्दी के मध्य में दिल्ली का प्रधान काजी था। उसने संक्षिप्त पर सारगर्भित रूप में आदम के जमाने से लेकर अपने समय तक का इतिहास लिखा। उसके करीब एक शताब्दी बाद' २—जिया उद्दीन बरनी हुआ। वह पेंशनयाफ्ता राजकर्मचारी था। जहां तक सिराज ने लिखा था उसके आगे से चलकर फीरोज तुगलक के जमाने तक का इतिहास उसने लिखा' ३—शम्स अफीक ने १४०० ई० के बाद लिखा और बरनी के कार्य को पूरा किया। वह भी राजकर्मचारी था तथा उसे ज्ञान व अनुभव दोनों थे। अतएव १३ वीं तथा १४ वीं शताब्दी की ग्रामीण-व्यवस्था के बारे में जो कुछ भी कहा जा सकता है वह उन्हीं तीन इतिहासकारों के बल पर। यद्यपि मैंने फरिश्ता तथा अन्य लेखकों का भी सहारा लिया है पर उन्हें मैं अधिकारी व्यक्ति (Authority) नहीं मानता, कम से कम ग्रामीण-व्यवस्था के प्रश्न पर। मिनहाजुल सिराज की भी ग्रामीण-व्यवस्था में कम रुचि थी परन्तु बरनी और अफीक दोनों ही इस विषय में रुचि रखते थे क्योंकि उनका सम्बन्ध लगान विभाग से था। अतः उनके द्वारा दी गयी सूचनायें काफी पुष्ट होनी चाहिये। परन्तु वे वर्णन अफसरों की ही जुबान (भाषा) में दिये गये हैं और वह जुबान शीघ्र ही प्रचलन से हट गयी। अब उनका अर्थ लगाना कठिन ही है। फिर भी ये सूचनायें विश्वास योग्य हैं और जहां तक मेरा विश्वास है वहां तक न उनमें पक्षपात की ही भावना है और न शाही खुशामद की ही। यद्यपि में दोनों ही दोष

प्रायः सभी ऐसे इतिहासकारों में पाये जाते हैं, जो अपने समय का इतिहास लिखते हैं।

इसी समय तत्कालीन प्रशासकीय संगठन के ढांचे पर भी कुछ शब्द आवश्यक हैं। राज्य बड़ा हो चुका था और प्रारम्भ काल से ही हम इस बड़े देश को प्रादेशिक भागों में बंटा हुआ पाते हैं। इन प्रशासकीय विभागों को हम सूबे के नाम से जानते हैं और ,इसके शासक को सूबेदार (Governor) * के नाम से हमारा तात्पर्य उन शासकीय इकाइयों से है जिनमें समूचे भारत को शासन एवम् लगान वसूली की सुविधा के लिये बादशाह लोग बाँट कर उनमें एक शासक की नियुक्ति कर देते थे। इन सूबेदारों को या तो सीधे शाहंशाह से हुक्म मिलते थे या वजीर से। राज्य के बड़े छोटे होने पर ही सूबों की संख्या तथा उनका विस्तार निर्भर करता था। शासन में सुधारों के कारण भी कभी कभी नये सूबे बनते बिगड़ते रहते थे। इन सूबों में से कितने ही सूबे प्रायः सभी शाहंशाहों के समय में पाये जाते हैं। उन्हें हम वर्णन की दृष्टि से चिरस्थायी मान सकते हैं। कभी-कभी एक ही सूबेदार दो या दो से अधिक सूबों का सूबेदार बना दिया जाता था इन सूबों के अतिरिक्त दो अन्य विशिष्ट प्रशासकीय विभागों का वर्णन आवश्यक होगा।

१—दिल्ली के आस पास का प्रदेश (हवालिये-देहली) † इस प्रदेश के पूर्व में जमुना नदी, उत्तर में शिवालिक की पहाड़ियाँ या उसके निचले जंगल और दक्षिण में, इसकी सीमा स्वतन्त्रता प्रिय मेवातियों की सीमा से मिलती थी। इनसे दिल्ली प्रदेश को हमेशा ही आशंकाग्रस्त रहना पड़ता था। अत्यधिक दबाव (युद्धात्मक दबाव) पड़ने पर वे राजपूताना की पहाड़ियों में शरण ले लेते थे और अवसर पाते ही फिर से शेर हो जाते थे। शायद ही ऐसा मौका कभी आता या जब वे सम्पूर्ण रूप से अधीनता स्वीकार करते थे। पच्छिम में यह प्रदेश सरहिन्द सामन तथा हाँसी (वर्तमान हिसार) के सूबों को छूता था, इस प्रदेश की विशिष्टता इस बात में थी कि यह प्रदेश कभी सूबेदार को न दिया जाकर सदैव केन्द्रीय शासन अर्थात् सुल्तान द्वारा ही शासित होता था और दीवान (Revenue Ministry) ही उसका (सुल्तान की ओर से) प्रशासक होता था।

---

* कृपया देखिये परिशिष्ट ब में सूबेदार शब्द।

† हवाली शब्द प्रायः पड़ोसी के तात्पर्य के प्रयोग में आता है। परन्तु कुछ स्थानों में यह शब्द प्रशासकीय इकाई के रूप से प्रयुक्त हुआ है। परन्तु इसे उस प्रशासकीय इकाई से बड़ा माना जाना चाहिये जिसे मुगल काल में 'हवालिये देहली' कहते थे जो क्षेत्रफल में पर्याप्त छोटा होता था।

२—नदियों का प्रदेश (The River Country) इस प्रदेश को प्रायः इतिहासकारों ने 'दोआब' नाम से पुकारा है। परन्तु इस प्रदेश को 'दोआब' कहना भ्रमपूर्ण है। वर्तमान हिसाब से 'दोआब' प्रदेश वह प्रदेश है जो गंगा जमुना के बीचों बीच इलाहाबाद तक फैला हुआ है। तत्कालीन 'नदियों के बीच के प्रदेश' से इतिहासकारों का तात्पर्य दिल्ली के आसपास के छोटे से प्रदेश से है, जो उत्तर में जंगलों पहाड़ों तक फैला था तथा दक्षिण में अलीगढ़ के आगे कभी नहीं पहुँचा। तेरहवीं शताब्दी में यह भाग तीन सूबों में बँटा हुआ था। (१) मेरठ, (२) बरोन (आज का बुलन्द शहर) और (३) कोल (आज का अलीगढ़)। परन्तु अलाउद्दीन खिलजी ने इस भाग को भी दिल्ली की ही तरह केन्द्र शासित कर दिया। आगे चलकर हम देखेंगे कि मुहम्मद तुगलक के जमाने में किस प्रकार इसे उपेक्षित कर दिया गया।

ये दोनों प्रान्त राज्य के विशिष्ट अंग थे। इसके बाद जो शेष सूबे थे उनका बँटवारा इस प्रकार था। 'नदियों के प्रदेश के दक्षिण कन्नौज था और उसके भी दक्षिण था कड़ा। इन दोनों को मिलाने से आज का 'दोआव' पूरा होता है, परन्तु कन्नौज प्रान्त का कुछ भाग गंगा के पार भी पड़ता था और कड़ा का क्षेत्र गंगा तथा यमुना दोनों के आगे भी विस्तृत था। गङ्गा के उस पार अमरोहा तथा सम्भल * उत्तर में थे और इसके भी आगे था बदाऊँ। इस समय के पहले बदाऊँ प्रान्त के पूर्व अवध (अयोध्या या फैजाबाद) प्रान्त का उल्लेख मिलता है परन्तु बाद के कागजों में इन दोनों के बीच संडीला का उल्लेख मिलता है। अवध के उत्तर पूर्व में जफराबाद, जो बाद में फीरोज तुगलक द्वारा बसाये जाने पर जौनपुर के नाम से जाना जाने लगा। घाघरा नदी के उत्तर में बहराइच प्रान्त था और उसके अवध प्रदेश का ही एक भाग गोरखपुर आता था। उसके आगे तिरहुत या उत्तरी बिहार पड़ता था। तिरहुत के भी आगे लखनौती प्रदेश या पच्छिमी बंगाल था। लखनौती था पच्छिमी बंगाल पहले तो प्रदेश ही था, परन्तु बाद में वह परिस्थिति के अनुसार कभी स्वतंत्र और कभी करद राज्य के रूप में बनता बिगड़ता रहा।

---

* रुहेलखंड का यह भूभाग 'नदियों के बीच वाले प्रदेश' के एक विभाग के रूप में शासित होता था। शम्स अफीफ के 'नदियों के बीच तथा उनके पार' का शायद यही मतलब है। बरनी ने पृष्ठ ३२३ पर अमरोहा को भी 'नदियों के बीच वाले प्रदेश' में शामिल कर लिया है और इसका वर्णन केन्द्र शासित भूभागों (मेरठ, बरान तथा कोल) के साथ किया है।

गंगा को पार करने के बाद पश्चिम में जाने पर बिहार प्रान्त * पड़ता था जो तिरहुत या नार्थ बिहार से अलग प्रान्त था। बिहार के पश्चिम में पड़ने वाला भूभाग वास्तव में दिल्ली सल्तनत में नहीं था और उसके आगे जाने हर महोबा का प्रान्त पड़ता था और उसके भी आगे बयाना था। जिन समयों में ग्वालियर के किले पर दिल्ली राज्य का अधिकार रहता था उन समयों में बयाना ग्वालियर में ही शामिल रहता था अन्यथा वह अलग प्रान्त के रूप में रहता था। (पिछले पृष्ठों में हम कह आये हैं कि मेवाती लोग कभी भी सम्पूर्ण रुपेण दिल्ली राज्य के अधीन नहीं हुये) दिल्ली के पश्चिम में सरहेन्द, सामन तथा हाँसी (हिसार) तथा उसके और भी आगे लाहौर, दियालपुर तथा मुल्तान के सूबे थे। पिछले तीनों सूबे सरहदी सूबे थे। इस समूचे काल में मंगोल (एक आक्रमक तथा बर्बर कौम) सिन्ध के किनारे या उसके आसपास व्यवस्थित रूप से रहते थे और सरहद पर उनकी उपस्थिति के कारण दिल्ली की राजनीति में प्रायः उलट फेर होते रहते थे।

दक्षिण में गुजरात के सूबे को मान्यता प्राप्त थी। मालवा में भी कुछ सूबे थे परन्तु पता नहीं क्यों इतिहासकारों ने इस भूभाग (मालवा) के बारे में बहुत ही कम कहा है इसीलिये मैं निश्चत नहीं कर पाया कि मालवा में कितने सूबे थे। राजपूताना के भी बारे में बहुत कम सूचनायें प्राप्त होती है। कभी कभी चित्तौड़ का वर्णन एक सूबे के रूप में किया गया है, परन्तु उन वर्णनों से पता चलता है कि चित्तौर पर शायद ही कभी दिल्ली सल्तनत का प्रभावपूर्ण अधिकार रहा हो। ऊपर के वर्णन से हम नर्बदा नदी तक पहुँच जाते हैं। अलाउद्दीन ने मुस्लिम सत्ता को नर्बदा के उस पार तक पहुँचाया और थोड़े दिनों तक देवगिरि (बाद में दौलताबाद) का महत्व काफी बढ़ा। कुछ दिनों तक यह सत्ता दक्षिणी पूर्वी किनारे तक बढ़ गयी थी पर यह भाग शीघ्र ही मुसलमानों के हाथ से निकल गया। इस प्रकार इन सूबों की संख्या बीस तथा तीस के बीच रहा करती थी। यदि राज्य बढ़ जाता तो संख्या भी बढ़ जाती और यदि राज्य छोटा हो जाता तो सूबों की संख्या भी घट जाती थी। बरनी ने बलबन कालीन दिल्ली सल्तनत † को आयके साधनों का वर्णन करते हुये सूबों की संख्या जो बीस मानी है वह बहुत कुछ अंशों में सही है।

उस समय में दो विभाजनों का पता लगता है। राज्य सूबों में बँटे होते थे

---

* इन पृष्ठों में प्रान्त, प्रदेश तथा सूबा तीनों को समानर्थी रूप में लिया गया है।

† सल्तनत तथा राज्य समान अर्थों में प्रयुक्त हैं।

और परगने गावों में बँटे होते थे अर्थात् कई गाँवों को मिलाकर परगना बनता था। अब प्रश्न होता है कि सूबा तथा परगना के बीच आज कल के कमिश्नरी और जिला के समान और भी कोई विभाजन होता था या नहीं। पूरा श्रम करके भी मैं इस प्रश्न का कोई उत्तर न पा सका। कुछ लेखों में 'शिक' नाम के किसी प्रकार के विभाग (Division) का वर्णन आया है। हो सकता है कि 'शिक' वर्तमान कालीन जिलों की तरह ही होता रहा हो। परन्तु यह अनुमान ही है, प्रमाणिक नही। इसका भी तो पता नही चलता कि ये 'शिक' साधारण व्यवस्था के अन्तर्गत आते थे या अपवाद (Exception) के रूप में। यह भी तो हो सकता है कि 'शिक' शब्द किसो दूसरे ही शब्द का पर्याय हो। मेरा तो विचार है कि चौदहवीं शताब्दी में 'शिक' शब्द उस अर्थ के लिये व्यवहार में आता था जिस अर्थ में हम प्रान्त, राज्य या सूबा शब्दों को व्यवहार में लाते हैं। भय है कि इस प्रकार का और भी अधिक विवेचन करने से विषयान्तर हो जायगा अतः इस प्रश्न का निर्णय विद्वान लोग करें।

तत्कालीन सूबों के विषय में इतना कह लेने पर तथा उनकी संख्या भी गिना चुकने के पश्चात् भी इन इतिहासकारों ने ऐसी कोई भी सामग्री नहीं रक्खी जिससे इन सूबों की सुनिश्चित सीमा दे सकें या यह कह सकें कि इन सभी सूबों में तथा किसी सूबे के सभी स्थानों में प्रशासन का समान दबाव नियंत्रण था। प्रान्तीय राजधानी में गवर्नर (सूबेदार) अपनी अधीनस्थ सेना के साथ रहता था। सम्भव है कि उसके आधीन प्रान्त में कुछ और सत्ताकेन्द्र होते रहे हो जहाँ उसका छोटा मोटा वेतन भोगी या जागीर प्राप्त कर्मचारी छोटी मोटी सेना के साथ रहता हो। गाँवों में सुबेदार के कर्मचारी लोग ही किसानों से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखते रहे हो या कुछ गाँव में उसके सीरदार व वक्फदार लोग कार्य करते रहे हों। मेरा अनुमान है की अधिकांश स्थानो में सरदारों के (Chiefs) द्वारा हो सूबेदार लोग लगान वसूल करते रहे थे यदि सरदार विद्रोह करते थे अर्थात लगान का निर्धारित रुपया सुबेदार को नहीं भेजते थे तो शाह को सेना का सहारा लेना पड़ता था और कहीं यह विद्रोह बड़े पैमाने पर हुआ तो शाहंशाह को स्वयम् जाना पड़ता था। यह सोचना ठीक ही है कि संचार साधन के अभाव तथा पथ की दूर्गमता के कारण विद्रोह अधिकांश राजधानी से दूर * ही होते रहे होंगे। राजधानी के पड़ोसी प्रान्तों ने तो शायद ही कभी

---

* बरनी ने (पृ० ५७) लिखा कि मंगोलों के भय से बलबन अपनी विजय यात्रा पर दूर तक नहीं गया। उसका अधिकांश समय मेवात, बदाऊँ, कन्नौज या अन्य विद्रोहों को दबाने में बीता।

विद्रोह किया होगा। सरहदी सूबों में सीमा पार की जातियों की सहायता से विद्रोह करना और भी सरल था। ऐसे भी क्षेत्र रहे होंगे जहाँ के सरदार लोग भी सूबेदार के नियन्त्रण से निकल जाते रहे होंगे और सूबेदारों को भी उन्हें नियन्त्रण में लाना कठिन होता रहा होगा। हाँ यह निश्चय है कि सरदारों तथा किसानों के बीच वाले प्रत्यक्ष सम्बन्ध पर मुस्लिम-शासन की स्थापना से कोई खास प्रभाव नहीं पड़ा। अन्तर इतना ही रहा होगा कि किसानों से ली जाने वाली लगान की दर अवश्य ही हिन्दू काल से कुछ अधिक हो गई होगी। गाँवों में हिन्दू कालीन ग्रामीण-व्यवस्था ही प्रचलित रही।

तेरहवीं शताब्दी

सन् १३०० ईसवी के आस पास अलाउद्दीन खिलजी ने तत्कालीन ग्रामीण-व्यवस्था में कुछ प्रभावपूर्ण परिवर्तन किया था, परन्तु उसके पहले किसी प्रकार के प्रभाव व महत्वपूर्ण परिवर्तनों का पता कहीं किसी भी इतिहासकार के लेखों में नहीं मिलता। प्रश्न होता है कि आखिर ये इतिहासकार इन परिवर्तनों के विषय में इतना चुप क्यों रहे और क्या इस चुप्पी का कोई अर्थ लगाया जा सकता है या कोई परिणाम निकाला जा सकता है? जहाँ तक तेरहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध का प्रश्न है, हम कह सकते हैं कि इतिहासकारों की यह चुप्पी कोई महत्वपूर्ण नहीं है। मिनहाजुल सिराज इसी काल का इतिहासकार था। वह प्रधान काजी था। शहर के बाहर जाने की उसे न आवश्यकता होती थी और न इच्छा। अतएव ग्रामीण-व्यवस्था की जानकारी एवम् उसके प्रकाशन में उसकी रुचि का न होना स्वाभाविक माना जा सकता है। यह सही है कि प्रधान काजी * होने के नाते उसके सामने अनेकों बार मुकदमों की बहसों में ग्रामीण-व्ययस्था का विषय भी आया रहा होगा परन्तु ऐसा प्रतीत होता जैसे ग्रामीण-व्यवस्था पर उसकी कोई रुचि ही नहीं थी। 'उसने मुकदमे सुने, अपने दृष्टिकोण से न्याय किया और भूल गया।

---

* सिराज ने बलवन की बड़ी प्रशंसा की है, परन्तु जियाउद्दीन बरनी के अनुसार शासन में बलबन धार्मिक नियमों को आवश्यक नहीं मानता था, इसका वर्णन सिराज ने नहीं किया। बलबन कठोर शासक था इसीलिये सिराज मौन रह गया।

परन्तु जियाउद्दीन बरनी की बात भिन्न है। वह प्रशासकीय * विभाग में था। उसके वर्णनों से ग्रामीण-व्यवस्था में उसकी रुचि का प्रदर्शन होता है। मेरे विचार से यह सम्भव है कि यदि उसने बलबन कालीन किसी परिवर्तन या सुधार की बात सुना या जाना होता तो अवश्य ही उसका वर्णन किया होता और ऐसे सुधारों या परिवर्तनों की आशा बलबन द्वारा ही हो सकती थी। अतएव जियाउद्दीन बरनी के मौन होने का स्पष्ट अर्थ है कि समूची तेरहवीं शताब्दी में भारतीय ग्रामीण-व्यवस्था में कोई भी उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं हुये। यत्र तत्र आकस्मिक वर्णनों तथा कुछ के लिखित घटनाओं से यह पता चलता है कि किसान मालगुजारी दे देकर बादशाहों का पेट भरते थे तथा बादशाह प्रायः होते रहने वालों सूबेदारों तथा सरदारों के विद्रोहों का दमन करने में व्यस्त रहते थे। इस बात का कहीं से कोई भी पता नहीं चलता कि लगान-निर्धारण के क्या सिद्धान्त थे और लगान वसूल किस तरह की जाती थी। यह भी पता नहीं चलता कि किसानों के सूबेदार अथवा सरदारों के साथ क्या सम्बन्ध थे और किसानों का रहन सहन कैसा था। इतना ही कहा जा सकता है कि वक्फ धड़ल्ले से दिये जाते थे तथा जागीरदारी की प्रथा भी थी। आगे चल कर जागीरदारी की प्रथा को ऐतिहासिक महत्ता मिली है, इसी स्थान पर इस पर विचार कर लेना अधिक ठीक होगा।

वर्णन में स्पष्टता लाने के लिए हमें बड़ी तथा छोटी जागीरदारियों को अलग कर लेना चाहिये। फारसी में दोनों को 'इक्ता' ही कहते थे और उनसे यह आशा की जाती थी कि समय पर वे शहंशाह को सामरिक सहायता देंगे। छोटे जागीरदार हम उन्हें कहेंगे जो सेना में थे और छोटी-छोटी जागीरें उन्हें दी गयी थीं। इन लोगों को अपना घोड़ा तथा अपने शस्त्र रखने पड़ते थे और निरीक्षण या किसी सेवा के लिये बुलाये जाने पर उन्हें शाहंशाह के सामने उपस्थित होना पड़ता था। बरनी द्वारा लिखित एक घटना से इन छोटे जागीरदारों की स्थिति का पता चलता है। इस घटना को 'शम्सी इक्तदार' के शीर्षक से लिखा गया है। इसमें बताया गया है कि बलबन को इस बात की सूचना मिली कि शमसुद्दीन के समय में कुछ सैनिकों को छोटी-छोटी जागीरें दी गयी थीं। इनमें से अधिकांश वृद्ध हो गये थे और सैनिक सेवा के योग्य

* बरनी ने खुद ही कहा है कि उसके पिता बरान सूबे में नायक तथा ख्वाजा थे। उसने ख्वाजा के कर्तव्यों का वर्णन नहीं किया परन्तु शायद नायब शब्द से नायब सूबेदार से मतलब है। बरनी शायद अधिक महत्वपूर्ण पद पर नहीं था, परन्तु उसने लिखा है कि वह प्रधान कार्यालय में मुहम्मद तुगलक के अधीन १७ वर्ष तक नौकरी करता रहा।

नहीं थे। केन्द्र के फौजी महकमें के कर्मचारियों से मेल-जोल बढ़ाकर उन्होंने सैनिक सेवाओं से अपनी बचत भी कर ली थी, कितनों ने ही अपना ओहदा तथा जागीर पैत्रिक सम्पत्ति के रूप में अपने पुत्रों को दे दी थी। ये जागीरदार जागीरदार न रह कर वास्तविक स्वामी का सा अधिकार भोग रहे थे और यह कहने लगे थे कि हमें जागीर नहीं बल्कि वक्फ मिली हुई है। बादशाह ने विचार करके इन मामलों का फैसला किया। जो योग्य थे उन्हें नई सनदें दी गयी जो अयोग्य पाये गये उनकी जागीरें छीन ली गयी। बदले में उन्हें जीवनयापन के लिये नकद पेंशने दी गयीं। परन्तु जागीरदारों की अपील पर ये सारे फैसले रद्द कर दिये गये। इससे पता चलता है कि वास्तव में इन जागीरों ने वक्फ की शकल ले ली थी। अब इनके मालिकों (जागीरदारों) के लिये इन जागीरों के बदले बादशाह की सेवा करना आवश्यक नहीं रह गया था।

उक्त घटना से दिल्ली के पड़ोसी भूभाग की ग्रामीण-व्यवस्था पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। कोई भी सैनिक शक्तिपूर्वक किसी गाँव में रहने लगता था। वही गाँव से लगान वसूल करके उसका उपयोग करता था। गाँव वाले भी इस व्यवस्था को स्वीकार कर लेते थे। यदि गाँव वाले इस पर प्रायः आपत्ति करते रहते और उस व्यक्ति (सैनिक) को लगान मिलने में कठिनाइयाँ उठानी पड़ती होती तो ये जागीरें कभी भी इतने अधिक आकर्षण का केन्द्र न बनती। चूंकि इन जागीरों पर तत्कालीन सैनिकों का अत्याधिक मोह था, इसलिए यह व्यबस्था किसानों को अवश्य सुविधा जनक रही होगी अन्यथा वे इतनी आसानी से लगान न दे देते।

ग्रामीण जीवन पूर्व की ही भाँति चलता रहा। यह नया लगान वसूल करने वाला 'मुहासिल' है। वहाँ के लिये एक नया व्यक्ति था, बाकी सब तो प्राचीन ही था। सुल्तान की शक्ति का साया उस सैनिक के सर पर था। इसके अतिरिक्त उसके पास कोई अन्य शक्ति नहीं होती थी। लगान वसूल करने वाले सैनिक तथा किसानों के बीच विवाद तो अवश्व ही जब तब उठते रहे होंगे फिर भी यह व्यवस्था स्थायी सिद्ध हुई। इसी से पता चलता है कि तत्कालीन किसान को लगान दे देने से मतलब था। कौन किस अधिकार से लगान ले रहा है इससे उन्हें कोई भी मतलब नहीं था।

बड़ी जागीरों तथा बड़े जागीरदारों की स्थिति स्पष्ट करने वाली कोई सामग्री तत्कालीन साहित्य में नहीं मिलती। ये जागीरें प्रख्यात व्यक्तियों के हाथों में होती थी। 'जागीरें थीं, जागीरदार थे' बस इतना ही कहा जा सकता है। यह बताना कठिन है कि इन जागीरों के बदले उन्हें स्वयम् अकेले शाही खिदमतं करनी पड़ती थी या इसके लिये उन्हें बाकायदा फौज रखनी पड़ती थी। 'चौदहवीं शताब्दी के जागीरदार सेना नायक या ऊँचे अफसर होते थे जो अपनी कोई सेना नहीं रखते थे बल्कि

शाही सेना का ही संचालन उनके जिम्मे रहता था। अन्य मुस्लिम प्रदेशों में तथा मुगलकालीन भारत में भी ये जागीरदार शाही खिदमत के लिये अपनी फौज रखते थे और समय पर इस सेना के नायक के रूप में उन्हें युद्ध में जाना पड़ता था। हम नहीं कह सकते कि तेरहवीं शताब्दी की जागीरें किस शर्त पर दी गयी थी। साधारण रूप से इतना ही कहा जा सकता है कि उस समय जागीरदारी की व्यवस्था दिल्ली के आसपास के प्रदेशों में प्रचलित थी, परन्तु दिल्ली में रक्षित भूमि * खलीसा (Reserve) भी होती थी जिनका प्रबन्ध दीवान स्वयम् शाही खजाने के लिये करता था। इस प्रकार शाही आमदनी के दो साधन होते थे, १—रक्षित भूमि का लगान तथा; २—सूबों के खर्च से बची अतिरिक्त † आय।

अलाउद्दीन खिलजी द्वारा किये गये परिवर्तनों के अध्ययन से उपरोक्त वर्णन में कुछ और भी जोड़ा जा सकता है। यह स्पष्ट है कि केन्द्र में मुस्लिम शासन होते हुये भी सारे देश में हिन्दू राजाओं, सरदारों, सीरदारों इत्यादि की ही बहुतायत थी और इस संख्या की अधिकता से ये लोग मुस्लिम राजनीति पर भी छापे रहते थे। इससे यह नतीजा सरलता से निकाला जा सकता है कि ग्रामीण-व्यवस्था भी उन्हीं से प्रभावित रहती थी। वे हिन्दू सरदार राज्य की सेवा करते थे तथा उसके बदले में उन्हें कुछ भूमि मिल जाया करती थी जो शाही लगान से मुक्त हुआ करती थी। उस भूमि की आय से उनका पोषण होता था। यह लगान उनका 'हक' समझी जाती थी। परन्तु ऐसा विश्वास किया जाता था और यह सही भी था कि जितना वे राज्य को देते थे उससे कहीं अधिक वे किसानों से लिया करते थे और इसका नतीजा यह होता था कि 'जबर्दस्तों का बोझा निर्बलों पर पड़ता था'। इससे स्पष्ट है कि लगान निर्धारण तथा वसूली सुलतान के हाथ में न होकर सरदारों के ही हाथ में होती थी।

तेरहवीं शताब्दी की घटनाओं से स्पष्ट है कि सरदारों के अधिकारों में वृद्धि

---

* इस विषय का वर्णन तत्कालीन लेखों में बहुत कम मिलता है परन्तु 'तबकाते नासीरी' में पृष्ठ २४६ पर 'रक्षित भूमि के अध्यक्ष' का वर्णन आता है। खलीसा शब्द का अर्थ होता है शुद्ध या स्वतंत्र या बेदाग। जिसका अर्थ यह हुआ कि इस प्रकार की सारी भूमि की आय शाही खजाने में जाती थी, शेष भूमि जागीर में दे दी जाती थी। सुल्तान अथवा वजीर की आज्ञा से रक्षित भूमि जागीर में तथा जागीरी भूमि रक्षित भूमि में बदल जाया करती थी।

† Surplus Income (अतिरिक्त आय) के लिये बरनी 'फवाजिल' शब्द का प्रयोग करता है। (बरनी पृ० १६४,२०० तथा अन्य)

नहीं हुई होगी क्योंकि कुछ विशेष समयों को छोड़ कर बाकी समय में दिल्ली के सुल्तानों की शक्ति काफी बढ़ी चढ़ी थी और उनका राज्य भी दूर दूर तक फैला हुआ था। इससे यह सिद्ध होता है कि १३वीं सदी के मध्य में इन सरदारों के पास उतनी ही शक्ति थी जितनी १३वीं सदी के अन्त में और यह भी कि इस शताब्दी के प्रारम्भ में उनकी स्थिति शताब्दी की मध्यकालीन स्थिति से अधिक दृढ़ थी। इसीलिये हमने कहा था कि इतिहासकारों की चुप्पी इस तथ्य को प्रमाणित करती है कि उनके समय में इतने कम परिवर्तन हुये और महत्वहीन भी कि उनके उल्लेख को इतिहास के पृष्ठों पर लाना अनावश्यक नहीं समझा गया। वही पुरानी ग्रामीण-व्यवस्था कायम रही। बदलते रहे केवल सरदार वगैरह और जहाँ कहीं किसानों का सम्बन्ध प्रत्यक्ष रूप से मुसलमानों से था भी वहाँ भी वही व्यवस्था कायम रही जो हिन्दू सरदारों के यहाँ थी। 'सरदारों एवम् किसानों के बीच कैसा सम्बन्ध हो' इस विषय में 'केन्द्रीय लगान-महकमा' से कोई मतलब नहीं था। 'सूबेदारों तथा सरदारों के बीच कैसा सम्बन्ध रहे' यह विषय आपसी समझौते का था। केन्द्रीय-लगान-महकमा भी धीरे-धीरे उन भूमियों के प्रबन्ध से अनुभव प्राप्त कर रहा था जो 'रक्षित' थीं या किसी को दी नहीं गई थी। यह कह देना ठीक ही होगा कि उपरोक्त परिणाम किसी ऐतिहासिक सामग्री पर आधारित न होकर उन घटनाओं पर विचार करके निकाले गये अनुमानों पर आधारित है, जो समय-समय पर तथा स्थान-स्थान पर लिखी गई है।

मुसलमान सरदारों द्वारा नियन्त्रित एवम् शासित प्रदेशों में भी गाँव का 'मुखिया' एक मान्यता प्राप्त अधिकारी माना जाता था। परिशिष्ट 'स' को देखने से मालूम होता है कि इन मुखिया लोगों को भी वैसे ही अधिकार प्राप्त थे जैसे सरदारों को और यह स्पष्ट ही समझ पड़ता है कि ये अधिकार उन्हें शाही सेना के बदले में मिले थे। कहने का तात्पर्य यह है कि जो भूभाग सरदारों को नहीं दिये जाते थे उनका प्रबन्धकर्ता मुखिया ही होता था। मुखियों की अधिकार-सीमा को स्पष्टतया निर्धारित करने वाली कोई भी सामग्री इन इतिहासकारों ने नहीं दी है अतः इतना ही कहा जा सकता है कि 'मुखिया' के पद को मुस्लिम शासकों द्वारा भी मान्यता प्राप्त थी।

इस शताब्दी का वर्णन समाप्त करने के पहले यह कह देना वांछित होगा कि इन सुल्तानों का रुख किसानों के प्रति कैसा था। दिल्ली के तमाम सुल्तानों में बलबन ही एक ऐसा व्यक्ति था जिसके समय के विषय में इस प्रश्न का कुछ अंगों में उत्तर दिया जा सकता है, मन्त्रित्व तथा शाहंशाही दोनों को मिला कर बलबन ने दीर्घकाल तक शासन किया। बंगाल के सूबेदार तुगरिल बेग के विद्रोह को दबा देने

तथा विद्रोही और उसके साथियों को कड़ा दंड देने के पश्चात् जब उसने अपने बेटे बुगरा खाँ को बंगाल की गद्दी पर बैठाया तो उसने अपने बेटे को जो सामयिक सीख दी, उससे उसके ग्रामीणों के प्रति दृष्टिकोण का पता चलता है। उसने अपने लड़के को सावधान किया कि भले ही पूर्वस्थिति अनुकूल हो परन्तु किसानों के ऊपर कभी भी अधिक लगान न लगाना चाहिये (बरनी पृ० १००) तथा शासन सुदृढ़ तथा न्यायपूर्ण होना चाहिये। लगान के निर्धारण में मध्यम मार्ग अपनाने की सलाह दी, क्योंकि अत्यधिक लगान लेने से देश गरीब हो जाता है परन्तु यदि लगान की रकम बहुत कम हुई तो किसान आलसी तथा नियन्त्रणहीन हो जायँगे। यह आवश्यक है कि उनके पास इतनी कमी न हो कि वे भूखों मरने लगे परन्तु उनके पास अधिक भी न रहने पावे। इससे यह प्रमाणित होता है कि बलबन ने ग्रामीण अर्थ-नीति का सारतत्व ग्रहण कर लिया था। भारतीय किसानों की वास्तविक मनोवृत्ति को परख लिया था। खास कर ऐसे समय में जब कि वैयक्तित उन्नति का अवसर कम ही लोगों को प्राप्त था, बलबन का उद्देश्य था कि किसानों में शान्ति भी रहे और सन्तोष भी। उसकी इच्छा थी कि सभी शासक इसी मध्यम मार्ग का अनुसरण करें।

अलाउद्दीन खिलजी (१२९६-१३१६)

बादशाह होने के पहले ही अलाउद्दीन ने देवगिरि * के राजा रामदेव को हरा कर प्रभूत धनसम्पत्ति प्राप्त की थी। सन् १२९६ ई० में जब उसने अपने चचा तथा ससुर सुल्तान जलालुद्दीन खिलजी को मार कर दिल्ली का सिंहासन प्राप्त किया तो असन्तुष्ट सरदारों को इसी दौलत के सहारे सन्तुष्ट किया गया। अलाउद्दीन ने पहले सोचा था कि एकबार सल्तनत प्राप्त कर लेने पर उसकी रक्षा स्वयमेव होती रहेगी,

---

* उपरोक्त वर्णन बरनी (पृ० २४१) के आधार पर किया गया है। बरनी का वर्णन निजी अनुभव पर आधारित है। बरनी कुछ मामलों में अलाउद्दीन की प्रशंसा करते हुये भी उसके सिंहासन-प्राप्ति के प्रयत्नों की कड़ी निन्दा करता है। बरनी ने पक्षपात विहीन होकर अलाउद्दीन के शासन काल का वर्णन किया है। वर्णन के ढंग से प्रतीत होता है कि या तो राजकीय कागज पत्रों तक उसकी पहुँच थी या कुछ महत्व-पूर्ण कागजों की नकल उसे कहीं से प्राप्त हो गयी थी। उसके वर्णन से काल निश्चय में गड़बड़ी पड़ती है क्योंकि उसने घटनायें ही दिया है उनकी तारीखें नहीं और ये घटनायें भी समय क्रम से नहीं दी गयी हैं। गम्भीर अध्ययन ही उक्त कठिनाई को दूर कर पाता है।

परन्तु शासन के प्रारम्भ में उसे एक के बाद एक कई विद्रोहों का सामना तथा दमन करना पड़ा तो उसके विचार पलटे और उसे यह सोचने को बाध्य होना पड़ा कि सल्तनत की रक्षा के लिये सुदृढ़ प्रशासन आवश्यक है और उसके बाद का अलाउद्दीन एक पूर्ण निरंकुश तथा दयाहीन शासक के रूप में सामने आता है। उसके सामने केवल दो उद्देश्य थे साम्राज्य को बढ़ाना तथा उसकी सुरक्षा। इसीलिये उसके द्वारा ग्रामीण-व्यवस्था में जो परिवर्तन हुये उनके पीछे न तो अन्य कोई अर्थनीति ही थी और न लोकहित को कोई भावना। उसके सामने शुद्ध राजनैतिक तथा सैनिक भावना थी। व्यक्तिगत रूप से वह बदनाम व्यक्ति था। प्रारम्भ में उसके साथ विश्वासपात्र सरदार भी न थे, साथ ही वह धार्मिक मुल्लाओं का भी विश्वास न कर सकता था। उसके दर्बारी सर्वदा विद्रोह करने को प्रस्तुत थे, उधर सिंध पार के मंगोल उसे भयभीत किये रहते थे। उनके कारण उसकी पश्चिमोत्तर सीमा भी अरक्षित थी। इस प्रकार अलाउद्दीन की सबसे बड़ी तात्कालिक आवश्यता थी आन्तरिक एवम् बाह्य सुरक्षा की और इसी लिए अलाउद्दीन ने साम्राज्य वृद्धि के इरादों को तब तक के लिए स्थगित कर दिया जब तक उसका आन्तरिक सुरक्षा का प्रश्न हल न हो गया।

आन्तरिक सुरक्षा ही सबसे बड़ी समस्या थी। अतः सन् १३०० या उसके आसपास ही उसने अपने सरदारों को काबू में करने के लिये कदम उठाया। उद्देश्य प्राप्ति के लिये उसने कई नियम बनाये, परन्तु हमें उसके एक नियम से काम है। अपने चाचा को मारने के बाद असन्तुष्ट सरदारों को सन्तुष्ट करने के लिये उसने मेहरबानियों की वर्षा सी कर दी थी। उसी सिलसिले में पुराने वक्फदारों के वक्फों को उसने स्थापित्व * प्रदान कर दिया था। इस स्थायित्व को तोड़ कर उसने उनका फिर से बन्दोबस्त किया। इस परिवर्तन से उसका यह मतलब था कि लोग समझ जाँय कि बादशाह की कृपा बिना उनकी भूमि स्थायी रूप से उनकी नहीं होगी। इसका परिणाम यह हुआ कि अक्सर ये लोग शाही कृपा के इच्छुक रहने लगे। इस परिवर्तन ने सिद्ध कर दिया कि ये व्यवस्थायें तभी तक बनी रह सकती है जब तक बादशाह की कृपा बनी रहे। परन्तु इस परिवर्तन का प्रभाव तो देश के छोटे से भाग पर ही पड़ा। ठीक

* बरनी (२४८) स्थायित्व के लिये तथा (२८३) दुबारा बन्दोबस्त के लिये। यह दुबारा व्यवस्था धार्मिक संस्थानों तथा व्यक्तियों के साथ हुई। इसी को सूत्ररूप में 'डाउसन' ने लिखा है कि—"The resumption was extended to religious endowments as personal grants and was effected summarily "with one stroke of the pen."

इसके उसने हिन्दू सरदारों तथा ग्रामीण मुखियों को काबू * में करने के लिए दूसरा कदम उठाया।

अलाउद्दीन तथा उसके सलाहकारों का सोचना था कि यदि सरदारों के पास आय के अधिक साधन होंगे तो उन्हें विद्रोह करने में सरलता होगी क्योंकि साधारण व्यय से बची रकम वह सैनिकों की संख्या बढ़ाने तथा शस्त्रादि खरीदने में व्यय करके अपनी शक्ति बढ़ावेंगे। बढ़ी हुई शक्ति ही विद्रोह करने का उत्साह पैदा करती है। इसमें सन्देह नहीं कि उनका सोचना सही था। ये हिन्दू सरदार लोग चिरकाल से अपनी तलवार के बल पर स्वतन्त्र रहते आये थे। कोई कारण नहीं था कि वे सब सामूहिक रूप से उस विदेशी शासक के प्रति वफादार हों जो सर्वथा शस्त्र बल से उनके ऊपर लद गया था और अनायास ही उनके देश से अपार दौलत लगान के रूप में वसूल कर रहा था। उनका स्वातंत्र्य प्रेम यों भी जोर मारा करता था और कभी-कभी शक्ति-मद † में चूर एकाध अभिमानी मुसलमान भी अपने कार्य व व्यवहार से अनजान रूप में ही इन सरदारों के दिल में विद्रोह की आग सुलगा देते थे। ऐसा विश्वास करने के अनेक कारण हैं कि सरदारों में से कुछ लोग मौका पाते ही मुस्लिम जुये को

---

* परिशिष्ट 'ख' में एक पूरे अनुच्छेद का अनुवाद दिया गया है। पाठक उसे देखें। बरनी ने 'हिन्दू' शब्द का प्रयोग अवश्य किया है परन्तु यहाँ तथा अन्य कई स्थलों पर जब भी हिन्दू शब्द का प्रयोग हुआ है तब सन्दर्भ के अनुसार इसका अर्थ समूची हिन्दू जाति न होकर केवल हिन्दुओं की उच्चवर्गीय श्रेणी ही होता है। यह शब्द किसानों को सरदारों से अलग कर देता है। उसके समूचे ग्रंथ का अध्ययन करने से यह परिणाम निकलता है कि सल्तनत में तीन प्रकार के लोग थे १—मुसलमान २—हिन्दू और ३—रैयत किसानों के लिये आया है। आगे भी उसका मतलब है कि अलाउद्दीन का संकल्प ग्रामीण नेताओं की शक्ति चूर करने का था न कि किसानों का। वास्तव में ये नियम परिवर्तन किसानों के लिए लाभ प्रद थे। लगान की दर अवश्य बढ़ गयी, परन्तु निर्बलों के सर से सबलों का बोझ उतर गया। अब निर्बलों के लिए यह आवश्यक नहीं रह गया कि वे सबलों का भी हिस्सा दिया करें।

† कृपया बरनी (पृ० २६०) का ग्रंथ देखिये। उसने शक्ति मद का अच्छा उदाहरण दिया है 'बयाना के काजी ने कहा कि यह इस्लाम की व्यवस्था है कि हिन्दू लोग मुसलमान लगान वसूल करने वाले (मुहासिल) का पूरा सम्मान करें, यहाँ तक की यदि वह किसी हिन्दू के मुंह पर थूंक भी दे तो हिन्दू को चाहिये कि वह अपना मुंह खोल कर थूंक को रोक ले, साथ ही किसी प्रकार का दुर्भाव भी न प्रगट करें।

उतार फेंकने की बात निरन्तर सोचते रहते थे और इस लिए वे लोग अपनी अवशिष्ट आय सैनिक भर्ती करने, घोड़े खरीदने तथा शस्त्र इकट्ठा करने में लगाते थे और इस प्रकार अपनी शक्ति बढ़ाने का निरन्तर प्रयास करते रहते थे। उनकी इस भावना को अलाउद्दीन ने अवश्य ताड़ लिया था और इसीलिये उसने इस प्रकार की व्यवस्था करने का इरादा किया जो विद्रोह के मूल साधन को ही समाप्त कर दे। न सरदारों के पास रुपया बचेगा, न उनकी शक्ति बढ़ेगी और न विद्रोह होगा। अपने संकल्प को कार्यान्वित करने के लिए उसने निम्न लिखित कार्य किये।

१—यह निश्चय है कि कोई भी किसान जितनी भूमि अपने कब्जे में रक्खेगा उसकी औसत पूरी उपज का अनुमान लगाया जायगा और कुल अनुमान (बिना किसी छूट व्यय विचार के) की आधी उपज सरकार ले लेगी।*

२—सरदारों के हक का खात्मा कर दिया गया ताकि जो भी भूमि उनके पास हो सब पर लगान लगाई जा सके। उनको भी किसी और किस्म की छूट नहीं दी गयी। उनसे भी आधी उपज लिये जाने का निश्चय किया गया।

३—लगान निर्धारण के लिये नाप का तरीका अपनाया गया। किसी के भी कब्जे की कुल भूमि की नाप होती थी। फिर उसकी उपज का औसत निकाला जाता था फिर प्रति नाप की इकाई की कुल अनुमानित आय का आधा सल्तनत की मांग थी।

४—चारागाहों पर भी टैक्स लगाया गया ताकि सरदार लोग उनसे भी कुछ अतिरिक्त आय अपने लिये न कर सकें।

इन परिवर्तनों से चाहे सरदारों तथा किसानों की गरीबी भले ही बढ़ गयी हो मगर अलाउद्दीन का उद्देश्य निस्संदेह पूरा हो गया। सरकार द्वारा आधी उपज ले लिये जाने के बाद शायद ही किसी किसान व सरदार के पास खाने भर को बचा रह जाता था। रोटी की समस्या इन्सान के दिमाग को उलझा देती है और फिर वह और कुछ भी करने के अयोग्य हो जाता है। पहले सरदार लोग किसान से मनमानी वसूल करके अधिकांश अपने खर्च के लिए रख लेते थे और इस प्रकार उनके पास मनमाना खर्च के लिए पैसे बच जाते थे और उस पैसे को वे लोग अपनी शक्ति बढ़ाने में खर्च करते थे। अब वे भी किसानों की श्रेणी में आ गये। उनके चरागाहों की अतिरिक्त आय का भी खात्मा कर दिया गया। इसका आर्थिक परिणाम सुल्तान के

---

* इस आधी लगान या मांग को 'सल्तनत' ही ले लेती थी उसमें का कोई अंग मध्यस्थों के लिये नहीं छोड़ा जाता था। परिशिष्ट 'अ' में लगान शब्द की विवेचना देखें।

लिये बहुत अच्छा परन्तु सरदारों तथा मुखियों के लिये बड़ा खराब हुआ। सल्तनत की आय अत्याधिक बढ़ गयी तथा सरदार लोग अपनी ही रोटी चलाने के प्रश्न में उलझ गये। सल्तनत से विद्रोह की बात सोचने तक की फुरसत उन्हें नहीं रह गयी। एक ही प्रश्न था कि क्या इस प्रकार की मांग सफलता-पूर्वक वसूल की जाती थी या इसका वसूल किया जाना सम्भव भी था।

लगान की माँग तथा उसकी सफल वसूली के विषय में इतिहासकारों का कहना है कि इन नियमों को सख्ती से लगाया गया और उसका उद्देश्य पूरा हो गया। कुछ वर्षों के निरन्तर प्रयत्न से सरदारों, गावों तथा परगनों के मुखियों की शक्ति ही क्षीण नहीं हो गयी वरन् वे गरीब भी हो गये। इन लोगों के घरों में सोने चाँदी का नाम तक नहीं रह गया और इस प्रकार वे घोड़े, हथियार तथा युद्ध के अन्य सामान खरीदने के बिल्कुल अयोग्य हो गये। यहाँ तक कि उनके घरों की स्त्रियों तक को रोटी की समस्या हल करने के लिये मुसलमानों के घरों में नौकरी का सहारा लेना पड़ा। इतिहासकारों ने शायद कुछ अत्युक्तिपूर्ण वर्णन किया हो परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि बादशाह का उद्देश्य सम्पूर्ण रीति से पूरा हो गया क्योंकि इन परिवर्तनों का ६ वर्ष तक दृढ़तापूर्वक पालन करने के बाद सामाज्य में चारों ओर आन्तरिक शान्ति छा गयी और बादशाह को दक्षिण विजय के लिये आवश्यक फौज तथा सामग्री जुटाने का न केवल अवकाश ही मिल गया वरन् पर्याप्त धन भी उसे प्राप्त होने लगा। उसके लम्बे शासन काल में उसे किसी भी गम्भीर आन्तरिक विद्रोह का सामना न करना पड़ा। अतः हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि सरदारों को एकदम अलग कर के सल्तनत ने किसानों से सीधा सम्पर्क साम्राज्य के अधिकांश भागों में सफलता पूर्वक स्थापित कर लिया।

ये परिवर्तन जिन क्षेत्रों में लागू किये गये उनकी निश्चित सीमा देना कठिन है। इतिहासकार ने सूबों की एक लम्बी सूची दी है परन्तु उनमें कितने ही नाम विकृत होकर अस्पष्ट हो गये हैं और एक के बाद एक की जाने वाली प्रतिलिपियों में कुछ नामों का छूट जाना भी सम्भव है। दिल्ली, 'नदियों के बीच का भूभाग' तथा शेष दोआब में ये नियम लागू किये गये। पूर्व में रुहेलखंड भी शामिल कर लिया गया। अवध या उत्तरी बिहार इसमें शामिल नहीं थे। दक्षिण में मालवा प्रान्त तथा राजस्थान के कुछ भागों में इन परिवर्तनों को लागू किया गया मगर गुजरात को छोड़ दिया गया। पश्चिम में पंजाब के मुलतान प्रान्त को छोड़ कर सभी प्रान्त इस नवीन व्यवस्था में ले लिये गये। यह सूची विश्वासनीय प्रतीत होतों है क्योंकि यह राजधानी के समी-

पस्थ सभी सूबों को शामिल कर लेती है तथा सुदूरस्थ एवम् सरहदी इलाकों को छोड़ देती है। परन्तु इसकी सम्भावना है कि ये सभी छूटे हुये प्रान्त या इनमें से अधिकांश मूलग्रन्थ में रहे हों परन्तु प्रतिलिपिकारों अथवा अनुवादकों की असावधानी से छूट गये हों। यदि यही सूची ठीक हो तो भी हम नायब वजीर शरफकाय की प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकते, जिसने इतने बड़े प्रदेश पर नवीन व्यवस्था सफलता पूर्वक लागू किया। इतिहासकार ने भी इस व्यक्ति की खूब प्रशंसा की है।

नवीन व्यवस्था को इतने बड़े भूभाग पर लागू करने के कारण देश के करोड़ों किसानों से सल्तनत का सीधा सम्बन्ध स्थापित हो गया। इस कार्य के लिये बहुत अधिक कर्मचारियों की भर्ती करनी पड़ी होगी और इसीलिये इसका परिणाम अवश्य ही यह हुआ होगा कि अनेक भ्रष्टाचारी तथा लुटेरे लोग भी इन कर्मचारियों में स्थान पा लिये होंगे। इसी प्रकार के लोगों के भ्रष्टाचार तथा लूट ने नायब वजीर को चौंका दिया होगा तभी उसने (बरनी पृ० ९२८८-२८९) स्थानीय कर्मचारीयों के हिसाब की जाँच पड़ताल का कदम उठाया होगा। इसी जाँच की प्रथा के करण 'क्लर्कों का कार्य असम्मान जनक' तथा उच्च कर्मचारियों के कार्य को 'बुखार से भी खराब' (Clerkship was a great disgrace and executive position was acconuted worse than fever) कहा गया है। ध्यान रखना चाहिये कि जाँच (audit) गाँव के पटवारी के कागजों पर ही आधारित होती थी। पटवारी के कागजों में उन सभी रकमों का उल्लेख होता था जो नियमित वा अनियमित रूप से किसी भी किसान द्वारा किसी भी कर्मचारी को दी जाती थी। वास्तव में यह एक प्रशंसनीय प्रशासकीय व्यवस्था है कि सुदूरस्थ गाँवों में भी इस प्रकार के कागज (Reeord) रक्खे जाते थे। आगे चल कर हम देखेंगे कि अपने शासन काल में भ्रष्टाचारियों को रोकने के लिये औरंगजेब के वजीर ने भी यही तरीका अपनाया। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि इन पटवारियों के कागजात चिरकाल से ग्रामीण व्यवस्था के मूल अंग रहते आये हैं।

अलाउद्दीन द्वारा किये गये उपरोक्त परिवर्तन आन्तरिक शान्ति एवम् सुरक्षा के दृष्टिकोण से किये गये थे, परन्तु सीमा पार के मंगोलों के कारण भी उसे कुछ करना पड़ा। उपरोक्त परिवर्तनों के प्रचलित किये जाने के कुछ ही दिनों बाद अलाउद्दीन ने राजस्थान के किसी किले पर चढ़ाई की। इसमें उसे सफलता नहीं मिली। वहाँ से जब वह अपनी थकी हुई तथा अव्यवस्थित सेना लेकर लौटा तो अचानक ही उसे दिल्ली के बाहर ही मंगोलों की एक सशक्त फौज दिखाई पड़ी। मंगोलों की यह सेना सल्तनत के लिये भयंकर खतरा थी। परन्तु एक बार मंगोलों के लौटते ही उसने पक्का इरादा किया कि ऐसा प्रबन्ध होना चाहिये कि ऐके आक्रमण भविष्य में सम्भव ही न

हो सकें। सीमा की रक्षा पंक्तियों को उसने पूरी तरह मजबूत किया। वहाँ पर फौजें रक्खीं। फौज रखने के अतिरिक्त उसने सोचा कि मंगोलों को खदेड़ने के लिये एक सुदृढ़ शाही सेना होनी चाहिये जो जागीरों में फैली हुई न रह कर सदैव राजधानी में ही या उसके पास स्थायी रूप से रहे और जागीरों के बदले में उसके सिपाहियों को नकद वेतन दिया जाया। वेतन भोगी सेना के लिये वेतन, हथियार, कपड़े, घोड़े तथा अन्य सामानों के लिये अत्यधिक धन की आवश्यकता सामने आई। जमाना मंहगी का था, सिक्कों की कीमत घट गई थी, चीजों का दाम अत्यधिक बढ़ गया था। ऐसी दशा में इतनी बड़ी सेना रखने में खजाने का धन कुछ ही समय में खर्च हो जाता। इस कठिनाई को दूर करने के लिये अलाउद्दीन ने एक बड़ा महत्वपूर्ण कदम उठाया। उसने सभी चीजों की कीमतें अत्यधिक कम करके उन पर कठोर नियंत्रण प्रारम्भ किया जिससे थोड़े से धन से ही अत्यधिक बढ़ी हुई आवश्यकता की भी पूर्ति सम्भव हो सके। इस कदम से ही अलाउद्दीन की महत्वकांक्षा सिद्ध हो सकी।

अलाउद्दीन की आर्थिक नीति के आवश्यक अंगों पर विचार कर लेना उचित होगा क्योंकि एक तरफ इतने विस्तृत साम्राज्य में इस प्रकार का नियंत्रण असम्भव ज्ञात होता है तथा दूसरी ओर जितने क्षेत्र में यह नीति लागू की गयी उसका वर्णन भी अत्युक्तिपूर्ण मालूम पड़ता है। इतना तो मान ही लेना चाहिये कि दिल्ली तथा उसके आस पास के इलाकों में वस्तुओं के दाम बहुत घटा दिये गये और यह घटे हुये दाम बहुत दिनों तक (१३-१४ वर्षों तक) कायम रहे और समुचित * कारणों के उपस्थित होने पर भी दिल्ली में जनजीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं का अभाव सामने नहीं आया। जिया बरनी को इस प्रकार की कहानी (अलाउद्दीन की अर्थ-नीति) कहने की न तो आवश्यकता ही थी और न उसे अर्थ शास्त्र का इतना विस्तृत ज्ञान ही था कि वह इतनी बड़ी अर्थनीति की कल्पना कर लेता। वस्तुओं के घटे हुये

---

* बरनी ने (पृ० ३०८) कहा है कि ऐसे कारण मौजूद थे जिनके कारण दिल्ली में अकाल पड़ सकता था, परन्तु उसकी भाषा से पता चलता है कि वह नीति के परिणामों पर ध्यान केन्द्रित किये हुये था। अन्य स्थानों में भी जहाँ उसने अकाल शब्द का प्रयोग किया है वहाँ उसने इसका अर्थ कमी या अभाव के अर्थ में लिया है। उसका तात्पर्य यही प्रतीत होता है कि यदि यह नीति न लागू की गयी होती तो यह सम्भावना थी कि दिल्ली में चीजों की अत्यधिक कमी हो जाती तथा अभाव के कारण वस्तुओं के दाम बढ़ जाते। अकाल (Famine) को उसने पूर्ति की कमी के रूप में लिया है।

मूल्य निर्धारण एवम् नियंत्रित करने वाली अलाउद्दीन की इस अर्थनीति को संक्षिप्त रूप में यों कह सकते हैं : १—पूर्ति पर नियंत्रण २—परिवहन (माल आने जाने पर) पर नियंत्रण- ३—आवश्यक होने पर उपभोग पर भी नियंत्रण (जैसा कि द्वितीय युद्ध काल में इंगलैन्ड, भारत तथा अन्य देशों में हुआ था) ४—उच्च व्यवस्था युक्त खुफिया महकमा तथा ५—विधान तोड़ने वालों को कड़ा दंड। ठीक ठीक उपरोक्त विधान इंगलैन्ड में भी द्वितीय युद्ध-काल में चलाया गया था और पूर्ण रूप से सफल हुआ था। यह एक दम से अकल्पनीय है कि जिया बरनी इतनी महान् अर्थनीति की कल्पना स्वतंत्र रूप से कर डाले। हाँ यह अवश्य कल्पनीय है कि सुयोग्य वजीरों (जैसे वजीर अलाउद्दीन की खिदमत में थे) की सलाह से अलाउद्दीन जैसा बादशाह अवश्य ही इस प्रकार की अर्थनीति चालू कर सकता था। अलाउद्दीन के सामने कुछ बातें स्पष्ट थीं; इसीलिये वह इतना सोच सका होगा। १—थोड़े धन से अधिक सेना को काफी अधिक दिनों तक रखना था। यह तभी हो सकता था जब सिक्कों की कीमत बढ़े। सिक्कों की कीमत बढ़ाने का एक ही तरीका है, चीजों का दाम घटा कर स्थिर करना और बाजार में भावों की समानता लाने का प्रयत्न करना। इतना सब कुछ करने के बाद भी इस नीति का सुचारू रुपेण पालन कराने के लिये खुफिया महकमा तो जरूरी ही था। शासन के विषयों में आजकल की अधिकांश सरकार अपनी नीतियों भावनाओं, एवम् लोकहितैषिता के कारण जिस स्थल पर कमजोर पड़ती है उसी स्थल पर अलाउद्दीन मजबूत था। उसे विश्वास योग्य खुफिया अफसर मिलने सम्भव थे और सख्त से सख्त दंड * देने से रोकने वाली न तो कोई अन्य सत्ता ही थी और न नैतिकता का भय।

इस प्रकार की नीति सम्भव थी या नहीं इसका उत्तर निर्भर करता है उस क्षेत्र के विस्तार पर जहाँ इस प्रकार की प्रणाली चलाई गयी। क्षेत्र के बारे में इतिहास-कार ने बताया है कि सारे साम्राज्य में कीमतें नहीं घटायी गयीं या यों कहें कि घटी हुई कीमतों की नियंत्रण व्यवस्था सारे साम्राज्य में न होकर केवल दिल्ली के आस पास के प्रान्तों में ही थी। क्योंकि सेना को दिल्ली में ही रखना था। अतएव यह

---

* शुरू शुरू में बादशाह नर्मी से ही काम निकालना चाहथा था परन्तु बनियों ने उसे मजबूर कर दिया कि सख्त दंडविधान की व्यवस्था की जाय। अतः बादशाह ने आज्ञा प्रचारित कर दी कि यदि कोई भी व्यापारी कम तौलता हुआ पाया जायगा तो उसके बदन से उतना ही मांस काट लिया जायगा, सख्त सजा के भय ने ही इस नीति को सफल बनाया।

नीति केवल उतने ही क्षेत्र पर लागू की गयी जिससे दिल्ली का बाजार अन्य सभी बाजारों से अलग हो जाय। तत्कालीन परिस्थिति में ऐसा अलगाव सम्भव भी था, क्योंकि दिल्ली के आसपास का प्रदेश अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए निर्भर था चन्द पेशेवर धनी व्यपारियों * पर जो अत्यंत खर्चीले परिवहन द्वारा पूर्व में नदियों के प्रदेश से तथा पश्चिम में पंजाब से व्यापार किया करते थे। उत्तर के जंगलों तथा दक्षिण में मेवात का कम उपजाऊ प्रदेश था और उनसे सल्तनत की कभी बनती भी नहीं थी। केवल उपरोक्त पूर्तिकर्ता व्यापारियों पर नियंत्रण कर पाने से ही दिल्ली बाजार का अलगाव सम्भव हो सकता था।

उपरोक्त वर्णन में जिस बात से हमारा विशेष मतलब है, वह है 'कृषि-उपज की पूर्ति'। नदियों के प्रदेश की पूरी-पूरी लगान तथा दिल्ली प्रदेश की आधी लगान अनाज के रूप में देने का आदेश दिया गया। यह अनाज लाया जाकर राजधानी में जमा किया जाता था और समय पर आवश्यकता पड़ने पर सरकारी गोदामों से बाहर निकाला जाता था; साथ ही साथ देहाती व्यापार तथा किसानों को भी आदेश दिया गया कि वे अपने खानेखर्च से बचा हुआ गल्ला (Surplus) बँधी हुई कीमत पर सरकार के ही बताये व्यापारी के हाथ बेच। यह आदेश भी दिया गया कि अपनी निजी आवश्यकता से अधिक गल्ला जमा करने वालों को अत्यन्त कड़ा दंड दिया जायगा। मेरे विचार में यह एकदम स्पष्ट है कि इन परिवर्तनों ने लगान देने की क्रिया में भी परिवर्तन कर दिया, क्योंकि इसके पहले तक (१३वीं सदी तक) लगान अनाज के रूप में नहीं वरन् सिक्कों के रूप में दी जाया करती थी। इन तमाम नियमों, उपनियमों पर विचार पूर्वक दृष्टि डालने से उस विचारधारा के लोगों को कोई बल नहीं मिलता जिनका कहना है कि '१३ वीं शताब्दी में भारत के लगान सम्बन्धी नियम अति साधारण (Simple) तथा सुलझे हुये थे। सिक्कों में लगान देने की व्यवस्था पूर्ण मान्यता प्राप्त कर चुकी थी और गाँवों तथा शहरों में अनाज के व्यापारी रहते थे'।

ग्रामीण-व्यवस्था में अलाउद्दीन द्वारा किये गये परिवर्तनों तथा बनाये गये नियमों,

---

* बरनी इन व्यापाररियों को 'कारवानियाँ' कहता है। उन्हे आप उस अर्थ में ले सकते है जिस अर्थ में कालान्तर में बनजारा शब्द व्यवहृत होने लगा। बरनी (पृ० ३०६) के अनुसार ईमानदारी पूर्वक तिजारत करने की जमानत की शकल में इन बनजारों के बीबी बच्चे जमानत में रहते थे। उनके लिये सरकारी कर्मचारी की देख रेख में शहर के एक भाग में निवास की व्यवस्था थी।

उपनियमों द्वारा जो रद्दोबदल सामने आये वे उसके पूरे शासनकाल भर बने रहे और उन्हें संक्षेप में इस प्रकार रक्खा जा सकता है :—

१—'दिल्ली तथा 'नदियों के प्रदेश' साथ ही रुहेलखण्ड का कुछ भाग' यह सब रक्षित (Reserved) था तथा सीधे दीवान द्वारा ही इनके प्रबन्ध की देख भाल की जाती थी। दीवान के कर्मचारी किसानों से सीधा सम्बन्ध रखते थे। किसी प्रकार के मध्यस्थ की व्यवस्था नहीं थी। लगान नाप के हिसाब से (प्रति बिस्वा) अनुमानित उपज की आधी देनी पड़ती थी। इस लगान को पूरा-पूरा या कभी अधिकांश ही गल्ले के रूप में लिया जाता था। निस्सन्देह इस भाग में कुछ जागीरें थीं, वक्फ भी थे परन्तु वे महत्वपूर्ण नहीं थे। किसानों को अपना अतिरिक्त (Surplus) अनाज सरकार द्वारा बाँधी गयी दर पर ही बेंचना पड़ता था।

२—इस केन्द्र के चारों ओर के सूबों में सूबेदार लोग किसानों से अपने कर्मचारियों द्वारा सीधा सम्पर्क रखते थे। लगान निर्धारण नाप के अनुसार होता था और साधारणतया सिक्कों के रूप में लिया जाता था। इन भागों में खरीद और बिक्री पर किसी प्रकार के नियन्त्रण * का प्रमाण नहीं मिलता।

३—सुदूरस्थ सूबों के सूबेदार का किसानों के साथ सीधा सम्पर्क नहीं रहता था और हम यह भी मान सकते हैं कि यहाँ की व्यवस्था में सरदारों का प्राधान्य था। इन सूबों के बारे में यह भी पता नहीं चलता कि उपज का कौन सा अंश लगान के रूप में मांगा जाता था तथा उसका निर्धारण कैसे होता था या किस शकल (गल्ला या नकद) में लगान वसूल की जाती थी। अनुमानतः इन सूबों की पुरानी ग्रामीण-व्यवस्था ही कायम रही तथा नवीन परिवर्तनों के कोई भी नियम या उपनियम इन सूबों में लागू नहीं किये गये।

फीरोज तुगलक के जन्म की कहानी से तत्कालीन सरदारों की सत्ताहीन स्थिति पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। इतिहासकार शम्स अफीफ ने (पृ० ३७) यह कहानी इस प्रकार कहा है। दियालपुर के सूबेदार ने अपने भाई की दुलहन बनाने के लिये अपने ही सूबे में रहने वाले एक हिन्दू सरदार की लड़की पसन्द की। जब उसे सन्देशा दिया गया तो उसने धार्मिक अड़चन बता कर इन्कार कर दिया। सूबेदार बहुत ही क्रोधित हुआ और उसने तुरन्त उस सरदार के क्षेत्र में सेना के साथ पहुँच कर स्वयम् ही किसानों के मुखियों से लगान वसूल करने लगा। अपने पिता पर अपने ही कारण

---

* मालवा में भी गल्ले का सरकारी गोदाम था, परन्तु मालवा के किसानों पर किसी प्रकार के नियंत्रण की चर्चा बरनी नहीं करता।

आर्य हुये इस सङ्कट को देखकर लड़की ने स्वयम् ही कुर्बानी की और स्वयम् अपने को सूबेदार के हाथों समर्पित कर दिया। विधिपूर्वक विवाह हुआ और उसी कन्या के पेट से फीरोज तुगलक का जन्म हुआ। कहानी का अन्त शम्स अफीफ की इस मान्यता से होता है कि तत्कालीन जनता शासकों के सामने एकदम बेबस थी, क्योंकि उस समय अलाउद्दीन सिंहासन पर था जो किसी भी शासित को किसी अधिकार की मान्यता नहीं देता था तथा जो अपनी कठोर दंड संहिता के लिये प्रख्यात (या कुख्यात) था। इससे यह परिणाम निकलता है कि सशक्त शाहंशाह के अधीनस्थ सशक्त सूबेदार लोग प्रजा के साथ मनमाना व्यवहार करने को स्वतन्त्र थे।

अलाउद्दीन किसी भी प्रकार वक्फ या जागीर देकर मालगुजरी कम करने के खिलाफ था। अपने राज्य में उसने पहले से ही इन जागीरों तथा वक्फों को खत्म सा कर दिया और आगे चलकर भी या तो उसने जागीरें दी ही नहीं या दी भी तो बहुत कम। निस्सन्देह उसका दर्बार शानदार था, विद्वानों तथा कलाकारों का वह आदर करता तथा उन्हें इनाम व वृत्तियाँ देता था, पर पुराने शाही ढंग से नहीं वरन् बड़ी ही मितव्ययिता से। उसके अधिकांश पुरस्कार नकद * दिये जाते थे। जागीरदारी की व्यवस्था को वह मूलतः खराब समझता था। उसका खयाल था कि ये जागीरदार आपस में संगठन करके विद्रोही बन सकते हैं। सैनिका को छोटी जागीरें देना भी वह पसन्द न करता था। उन्हें तो वह सरकारी खजाने से नकद वेतन ही चुकाया करता था। बड़ी जागीरों के दिये जाने का भी कोई प्रमाण नहीं मिलता। सम्भव है कि कुछ पुरानी जागीरें रह गयी हों या कुछ नयी जागीरें दी भी गयी हों परन्तु इतिहासकारों ने इसका वर्णन महत्वपूर्ण न माना हो। इतना तो सत्य ही है कि खुद अलाउद्दीन इस व्यवस्था के खिलाफ था। सीरदारी का तो निशान ही उसके शासनकाल में नहीं मिलता। सम्भव है कि इस विषय की अपूर्ण सूचनायें ही प्राप्त हुई हों। हम इतना ही कह सकते हैं कि अलाउद्दीन का शासन सुदृढ़ तथा किसानों से प्रत्यक्ष सम्पर्क रखने वाला था। मध्यस्थ श्रेणियों पर उसका विश्वास नहीं था।

गयासुद्दीन तुगलक (१२२० से १३२५)

अलाउद्दीन द्वारा किये गये परिवर्तन व नियम तथा अन्य व्यवस्थायें अपने

---

* बरनी (३४१, ३६५, ३८६) ने उस महमूद गजनी के विपरीत स्वभाव का दिखाया है। उसका कहना है कि महमूद गजनवी अमीर खुसरो जैसे शायर को पूरा सूबा या पूरा देश ही इनाम में दे सकता था जब कि अलाउद्दीन ने उन्हें सिर्फ १००० टका वेतन स्वरूप दिया।

नियामक * की मृत्यु के बाद चालू न रह सकीं। उसके बाद उसका पोता कुतुबुद्दीन गद्दी पर बैठा। वह एक सुन्दर तथा लोगों द्वारा पसन्द किया जाने वाला लड़का था। उसने जीवन के आनन्दों को भोगना ही अपना लक्ष्य बनाया। उसने स्वयम् किसी नई ग्रामीण-व्यवस्था को नहीं जन्म दिया। अलाउद्दीन द्वारा चलाये गये नियमों को दृढ़तापूर्वक पालन करना तो दूर रहा उसने स्वयम् ही उन्हें ढील देना शुरु कर दिया। लगान की मांग (demand) घटा दी गयी पर कितना घटा दी गयी इसका पता नहीं चलता। महकमा लगान का प्रशासन अव्यवस्थित हो गया। यत्र तत्र सटोरिये (Speculature) सीरदार दिखाई पड़ने लगे। जागीरें तथा वक्फ धड़ल्ले से दिये जाने लगे। उसके सरदार भी उसी का अनुकरण कर के शराबी एवम् ऐयाश बन गये। परिणाम स्वरूप शासन सम्पूर्ण रूप से प्रभावहीन हो गया। बादशाह को उसके एक कृपापात्र ने ही मार डाला तथा पूरे शाही खानदान को नष्ट करके स्वयम् शाहंशाह बन बैठा। उसका भी शासन स्थायी न हो सका और दियालपुर के सूबेदार गयासुद्दीन तुगलक ने उसको भी कत्ल कर दिया। गयासुद्दीन ने शाहंशाह के एक एक साथी को ढूँढ़-ढूँढ़ कर मारा तथा समी सरदारों एवम् दर्बारियों की राय से गद्दी पर बैठा, क्योंकि उस समय तक गद्दी का कोई भी असली हकदार जीबित न बचा था।

गयासुद्दीन ने सल्तनत के 'लगान महकमा' को फिर से संगठित किया। उसने कितनी लगान लेने का फैसला किया, इसका ठीक पता नहीं चलता। (आगे इस का वर्णन किया जायगा) उसने नाप की व्यवस्था को नापसन्द करके 'बँटाई' (Sharing) की प्रथा को फिर से प्रचलित किया और सरदारों को फिर से उसी स्तर पर लाने का प्रयास किया जिस स्तर पर वे अलाउद्दीन के शासन के पहले थे। गया-सुद्दीन के सुधारों के दृष्टिकोण का पता इस बात से चलता है कि इतिहासकार ने लिखा है कि 'उसने' किसानों को नवीनताओं से तथा खराब फसल होने वाले साल में भी पूरी लगान देने से मुक्ति दी'। गयासुद्दीन की व्यवस्था

---

* बरनी (पृष्ठ ३८१) अकेला समकालीन इतिहासकार था जिसने कुतुबुद्दीन तथा गयासुद्दीन के शासन काल का वर्णन किया है। गयासुद्दीन के सुधारों का वह बड़ा प्रशंसक था, परन्तु उसका वर्णन क्रम हीन और इसी लिये काफी उलझा हुआ है। उसकी शैली से ज्ञात होता है कि उसने अधिकांश घटनाओं को अपनी स्मृति एवम् छिटपुट लेखों का सहारा लिया है या कभी-कभी सुल्तान के मुख से निकली बातों को मान्यता दी है। परिशिष्ट 'स' देखिये।

में किसान को उसी भूमि पर लगान देना पड़ता था जिसे वह बोता था चाहे उसके कब्जे में कितनी भी भूमि क्यों न हो। इसलिये सिद्धान्त रूप से ऐसा समझा जाता था कि फसल चाहे खराब हो या अच्छी परन्तु किसान को पूरी लगान देनी पड़ेगी। परन्तु ऐसा नियम कार्यरूप में परिणत नहीं किया जा सकता था क्योंकि समूचे मुस्लिम युग में लगान अधिक ली जाती थी। ऐसी स्थिति में यदि फसल खराब होने की छूट नहीं दी गई तो किसान लगान देने में असमर्थ हो जायँगे। तत्कालीन ऐतिहासिक लेखों में प्रायः ऐसे वर्णन मिलते हैं जिनसे पता चलता है कि फसल खराब होने पर छूट मिला करती थी। जैसा कि हम आगे देखेंगे कि अकबर के शासन काल में जिस भूमि की फसल खराब होती थी उसकी लगान नहीं ली जाती थी। ऐसा ही कुछ नियम अलाउद्दीन के जमाने में भी रहा होगा। 'नवीनताओं' से शायद यह तात्पर्य होगा कि जहाँ लगान-निर्धारण में नाप की प्रणाली व्यवहार में नहीं थी वहाँ भी अलाउद्दीन ने उसे चालू का दिया था। यह सामान्य ज्ञान की बात है कि जहाँ भी खराब फसल पर छूट होने की व्यवस्था होगी वहाँ सुयोग्य एवम् ईमानदार प्रशासन की आवश्यकता पड़ेगी क्योंकि इनके अभाव में फसल की खराबी का ठीक ठीक अनुमान असम्भव हो जायगा। बेईमान कर्मचारी किसानों से सम्पर्क स्थापित करके गलत अनुमान देकर कुछ किसानों (जो उसे कुछ देंगे नहीं) को भी हानि पहुँचा सकेंगे और राज्य को भी (जिन किसानों से कुछ मिल जायगा उसकी फसल को ज्यादा खराब बता देंगे)। खराब फसल के अनुमान लगाने की सारी कार्यवाही में शीघ्रता की आवश्यकता होती है। चौदहवीं शताब्दी में जैसी पारिथतियाँ थीं उनमें नाप प्रणाली द्वारा लगान निर्धारण में भ्रष्टाचार की काफी गुञ्जायश थी। भय दिखाकर रकम लेने वालों की संख्या अवश्य ही अत्यधिक रही होगी। बल्कि बँटाई प्रथा (Sharing) में भ्रष्टाचार की गुञ्जाइश अपेक्षाकृत कम थी। इसीलिये 'नाप प्रणाली' देश से दो शताब्दियों के लिये गायब हो गयी तथा शेरशाह ने १६ वीं शताब्दी में उसे फिर से चालू किया।

जहाँ तक सरदारों और मुखिया लोगों का प्रश्न था, गयासुद्दीन अलाउद्दीन के इस मत से सहमत न हो सका कि इन लोगों को गरीब किसानों की श्रेणी में पहुँचा दिया जाय। उसका विचार था कि इन लोगों का कार्य काफी उत्तरदायित्व पूर्ण है और उसी उत्तरदायित्व के मुकाबले उनको पारिश्रमिक भी मिलना चाहिये। उनके हक (Perquisitos) की भूमि को बिना लगान के छोड़ देना चाहिये। चरगाहों द्वारा होने वाली आमदनी पर भी टैक्स न लगाना चाहिये परन्तु सूबेदारों को सावधान रहना चाहिये कि कहीं ये सरदार तथा मुखिया लोग निर्धारित दर से अधिक लगान किसानों से न लेने लगें। इस प्रकार ऐसी व्यवस्था चालू करने

का इरादा किया जिससे सरदार लोग आराम से रह तो सकें परन्तु उनके पास इतनी दौलत न हो जाय कि वे विद्रोह करने का इरादा करने लगें। जहाँ तक यह व्यवस्था कार्यान्वित की गयी यह परिणाम निकाला जा सकता है कि वहाँ सरदारों की स्थिति फिर से प्रायः वैसी ही हो गयी जैसी तेरहवीं शताब्दी में थी। हाँ सशक्त सूबेदारों के नियन्त्रण (जहाँ कहीं ऐसा नियन्त्रण था) के कारण किसानों के प्रति मनमाना व्यवहार करने की छूट उन्हें अवश्य ही नहीं थी।

उसकी नीति का निर्णायक तीसरा तत्व था कि सूबेदारों की प्रतिष्ठा बढ़ाई जाय और साथ ही उनसे अच्छे चालचलन की आशा की जाय। यह स्पष्ट है कि उसके शासन के प्रारम्भ में सट्टेबाज (जो ऊँची दर पर लगान देने का वादा करके भूमि पर स्वामित्व प्राप्त करते थे) किसानों की बहुतायत थी, उसके मंत्रियों में अनेक ऐसे प्रकार के लोग थे जो नाना प्रकार की उपद्रव पूर्ण व असंतोष पूर्ण कार्यवाहियों के जिम्मेदार थे। उनकी महत्ता उनके पदों (Designations) से आंकी जा सकती है। उनमें से कोई खुफिया (Spies) था तो कोई 'किसान' (Farmers) कोई 'लगान-वर्द्धक' (Enhance mongers) था तो कोई कुछ। बादशाह ने इन उपद्रवियों की कार्यवाहियों को एकदम से रोक दिया और उच्चकुलीन लोगों में से सूबेदार चुनना प्रारम्भ किया। उनको आश्वासन दिया गया कि केन्द्रीय लेखा निरीक्षक गण उनके साथ उचित तथा सहानुभूति पूर्ण व्यवहार करेंगे। उनसे बादशाह ने यह भी कह दिया कि उनकी स्थिति तथा प्रतिष्ठा उनके ही व्यवहारों पर आधारित होगी। वे ईमानदारी से कार्य करते हुये अपने पद के 'हक' (लगान का १,२० य १,२२ भाग और लगान का १/१० या १ १५) का उपभोग स्वतंत्रता पूर्वक एवम् सम्मान पूर्वक करें। उनके सहायक कर्मचारी लोग भी अपनी तनखाह के अतिरिक्त १,२% या १% रकम लगान से ले सकते हैं परन्तु इससे अधिक वे किसी भी हालत में न लें। हम लोग मान सकते हैं कि यह व्यवस्था भी परम्परा * से चली आ रही थी। उपरोक्त आज्ञाओं का तनिक भी उल्लंघन करने वाला कठोर दण्ड का भागी होता था।

उपरोक्त आदेशों को स्पष्ट करने के लिए उस संबन्ध के बारे में कुछ कहना आवश्यक होगा जो इन सूबेदारों तथा केन्द्रीय लेखानिरीक्षक विभाग के बीच स्थापित था। लेखानिरीक्षण कभी भी हो सकता था। उसके लिये कोई अवधि नहीं निर्धारित की गयी थी। किसी कर्मचारी को कुछ दिन काम करने दिया जाता था फिर उसे

---

* इब्न बतूता का कथन है कि (iii ११२) सूबेदारों को परम्परा से लगान का दशमांश मिलता था। वह मु० तुगलक के जमाने में भारत आया था।

निरीक्षण के लिये राजधानी में बुलाया जाता था। निरीक्षण को मुहासब (Audit) तथा जो रकम उनके जिम्में निकलती थी उसे मुतालबा (Balance to be recovered) कहते थे। मुतालबा की वसूली के लिए कठोर शारीरिक यंत्रणा तक दी जाती थी। बरनी ने (पृष्ठ २८८) एक ऐसी घटना का वर्णन दिया है। अलाउद्दीन के जमाने में शरफ काय के वर्णन में भयानक शारीरिक यंत्रणा द्वारा मुतालबा की वसूली की बात आयी है। उस वर्णन में ऐसा कोई सुझाव नहीं है जिससे यह कहा जा सके कि सूबेदारों तक को शारीरिक यंत्रणा (Torture) दी जाती थी। परन्तु गयासुद्दीन के आदेशों से साफ जाहिर है कि सूबेदार भी इससे मुक्त नहीं थे क्योंकि वह नहीं चाहता था कि बड़े लोग पद का अनुचित लाभ उठा कर शाही हुक्मों में लापरवाही करें। फीरोज तुगलक ने शारीरिक यंत्रणा की निषेधाज्ञा प्रचारित किया था, इससे पता चलता है कि मुहम्मद तुगलक के जमाने तक शारीरिक यंत्रणा प्रचलित थी। शम्स अफीफ ने फीरोज के लेखा निरीक्षण विभाग के सहृदयता की बड़ी प्रशंसा की है परन्तु एक स्थान पर उसने लिखा है कि जब गुजरात के सहायक सूबेदार ने लगान की रकम से कुछ गबन कर लिया और लेखा निरीक्षण के समय उस पर मुतालबा निकला तो उसे महीने में कई बार कोड़ों से मारा गया। इससे यह परिणाम निकाला जा सकता है कि उस समय साधारण कर्मचारियों को तो शारीरिक यंत्रणायें दी ही जाती थी, सूबेदार जैसे उच्च कर्मचारी भी भयंकर अभियोग होने पर इससे बरी नहीं किये जाते थे। जैसे कि हम आगे देखेंगे कि अकबर के जमाने में भी यह प्रथा प्रचलित थी, और सत्रहवीं शताब्दी में भी गोलकुंडा राज्य में इसका प्रमाण * मिलता है। इसलिए यह आवश्यक है लगान देने वाले किसानों की स्थिति का वर्णन करते समय उस व्यवस्था का भी विचार कर लिया जाय जिसमें लगान न देने पर सूबेदार तक को शारीरिक यंत्रणा का शिकार होना पड़ता था। यदि किसान बेचारे लगान न दे पाते होंगे तो ये सूबेदार या सरदार उन्हें भी शारीरिक यंत्रणा अवश्य देते रहे होंगे।

स्पष्ट है कि गयासुद्दीन द्वारा नियुक्त किये गये सूबेदार उच्च कुल से होते थे। उन्हें सेवाओं के बदले भूमि दी जाती और प्रतिवर्ष सल्तनत को वह कितनी लगान देगा

---

* कृपया मेथोल्ड की "Relatios of the Kingdom of Golkunda" नामक पुस्तक देखिये, चौथा एडीशन पृष्ठ ६६६। मसलीपट्टम के सूबेदार ने पूरी लगान अदा नहीं किया। फलस्वरूप उसके पीठ, पेट तथा पैरों पर तब तक बेंत मारे गये जब तक वह मर न गया।

यह भी निश्चित हो जाता था। इस निर्धारित रकम से सूबे की वास्तविक आय तथा प्रबन्ध में व्यय हो जाने वाली रकम से कोई मतलब नहीं था। वास्तविक आय चाहे जो हो तथा सूबे के प्रबन्ध का खर्च चाहे जितना हो, सूबेदार को निर्धारित रकम सरकारी खजाने में देनी ही पड़ती थी। हाँ इस निर्धारित रकम को आवश्यक होने पर तथा खुफियों की रिपोर्ट के अनुसार फसल अत्यधिक अच्छी होने पर १ १० या १, ११ ही और बढ़ायी जा सकती थी।

किसानों से बँटाई के आधार पर लगान निर्धारण होता था अतः यह फसलों के समय के अनुसार होता था। केन्द्रीय लगान महकमा बिना लगान के दर बढ़ाये उनसे अधिक की मांग नहीं कर सकता था। अगर यह घट बढ़ साधारण ही रही तो इसका उल्लेख राजकीय लेखों (Records) में नहीं किया जाता था। यदि सूबेदार द्वारा देय धन बढ़ा तो वे लोग किसी न किसी प्रकार इस वृद्धि के बोझ को किसानों के ऊपर ही डाल देते थे। फलस्वरूप देश के किसानों का विकास रुक जाता था और अक्सर सुल्तान का उद्देश्य भी यही होता था। अतः लगान वृद्धि दस प्रतिशत तक ही सीमित कर देना अच्छी नीति थी। (सूबेदारों द्वारा देय धन भी धीरे धीरे ही बढ़ाना चाहिये परन्तु वह इतना भी न बढ़ जाय कि सूबे की शक्ति के बाहर हो जाय)।

उपरोक्त वर्णन में पाठभेद से यह भी अर्थ * निकाला जाता है कि लगान वास्तव में उपज के दशमांश तक ही सीमित थी और कभी कभी तो ग्यारहवाँ (१|११) भाग ही लिया जाता था। यदि यह अर्थ ठीक है तो इस काल के हमारे ज्ञान में वृद्धि ही होती है। परन्तु इस अर्थ को स्वीकार करने का कोई कारण नहीं मालूम पड़ता। यदि लगान की सीमा यही थी तो 'खुफियों' तथा 'लगान वर्द्धकों' द्वारा दी गयी सूचनाओं का जिक्र क्यों किया गया। सन्दर्भ से तो यही सही मालूम होता है कि उपरोक्त अर्थ सूबेदारों तथा सल्तनत के बीच के सम्बन्ध को स्पष्ट करता है न कि सूबेदारों तथा किसानों के संबन्ध को और वृद्धि की बात लगान पर लागू होती है न कि निर्धारण पर। किसी भी इतिहासकार ने गयासुद्दीन द्वारा निर्धारित लगान की दर का उल्लेख नहीं किया है और यह विश्वास करने का पर्याप्त कारण है कि गयासुद्दीन ने वही दर कायम रक्खी जो उसे प्रचलन में मिली। परन्तु यह दर भी कहीं लिखी हुई नहीं मिलती। जियाउद्दीन बरनी सिर्फ यही कहता है (पृ० ३८३) कि कुतुबुद्दीन ने भारी लगान तथा सख्त वसूली को रोक दिया। परन्तु कितना कम

---

* कृपया देखें। Mediaual India by Dr. Ishwari Prasad P 231 and Cambridge History of India (III 128)

किया इसके बारे में वह कुछ नहीं कहता। हम लोग केवल इतना ही कह सकते हैं कि उसने किसानों के सर पर अलाउद्दीन द्वारा लादे गये अर्द्धांश लगान के बोझ को कुछ हलका कर दिया पर इसका प्रमाण नहीं मिलता कि वह बोझा कितना हल्का हुआ।

वास्तव में गयासुद्दीन का शासन इतना अल्पकाल तक रहा कि वह कोई नवीन परंपरा कायम न कर सका अतः वह नीति निर्धारक ही के रूप में जाना जायगा। चूंकि अपने पूर्व जीवन में वह सैनिक रह चुका था अतः सबसे पहले उसे सेना का ख्याल था। उसका दूसरा ख्याल था किसानों की उन्नति पर। उसका आदर्श था कि किसान अपनी भूमि को तो जोतें ही साथ ही साधनों के बढ़ने पर अर्थात् समृद्ध होने पर खेती योग्य और जमीन भी अपनी जोत में ले लें। वह यह समझता था कि इस प्रकार की सफलता शासन के अच्छे होने पर ही निर्भर है। उसकी राय में लगान की अचानक तथा अत्यधिक वृद्धि विपत्ति जनक हो सकती है। जब भी सल्तनतों का विनाश होता है तो उसके कारणों में से दो ही प्रधान होते है १—अत्यधिक लगान का बोझ तथा २—सल्तनत की बढ़ती हुई मांग। वह विनाश ध्वंसात्मक सूबेदारों अथवा कर्मचारियों द्वारा ही आगे बढ़ता है। इस प्रकार गयासुद्दीन—बलबन की श्रेणी में आता है यद्यपि उसकी मृत्यु के तुरन्त बाद ही उसका पुत्र ही उसकी व्यवस्थाओं को छोड़ने में अग्रसर हुआ।

मुहम्मद तुगलक

गयासुद्दीन के बाद उसका पुत्र मुहम्मद तुगलक गद्दी पर बैठा। उसकी योग्यता एवम् चरित्र के पक्ष तथा विपक्ष में विद्वानों द्वारा बहुत कुछ कहा जा चुका है। बरनी उसका समकालीन * इतिहासकार था अतः उसकी पक्षपात हीनता भी अछूती नहीं

---

* मु० तुगलक का वर्णन बरनी पृष्ठ ४५४ से शुरू करता है। उसके विषय में बरनी का मूल्यांकन (Estimatr) पृ० ४६६, ४६७ तथा ५०४ पर हैं। बरनी की आलोचना के लिये देखिये "Page 235 of Elliot lii;" तथा "Chapter of Medieual India by Dr. Ishwari Prasad. बरनी के समकालीन इतिहासकार इब्न बतूता ने उसके राज्य की कुछ बातों का सुरुचिपूर्ण वर्णन दिया है परन्तु ग्रामीण व्यवस्था पर बहुत कम कहा है।

रह सकी है। एक ओर तो प्रोफेसर डाउसन ने बरनी के वर्णनों को विरुदावली कह कर उसके अनुवाद को ही छोटा कर दिया दूसरी ओर डा० ईश्वरी प्रसाद ने मु० तुगलक को घोर विरोधी (Bitterly prejudiced aginst the King) कह कर उसका परिचय दिया। मेरा विचार है कि इस इतिहासकार को ऐसा कार्य करना पड़ा जो उसकी योग्यता एवम् शक्ति के बाहर था। वह अलाउद्दीन तथा गयासुद्दीन जैसे सशक्त एवम् साधारण व्यक्तियों का चित्रण तो सफलता पूर्वक कर सकता था क्योंकि उनके उद्देश्य स्पष्ट थे, परन्तु मु० तुगलक का चरित्र अनेक विरोधाभासों का सम्मिश्रण था। उसके कार्य अस्थिरमतित्व के समूह थे अतः बरनी का वर्णन न तो प्रशंसापूर्ण, प्रतीत होता है और न पक्षपात पूर्ण ही, बल्कि उनसे उसका आश्चर्य एवम् घबराहट ही अधिक प्रकट होती हैं। वह स्वीकार करता है कि ऐसे व्यक्ति के बारे में न तो उसने सुना ही है और न कभी पढ़ा ही है जिसका चरित्र इस प्रकार समझ में न आने वाला हो तथा मु० तुगलक को किसी प्रकार की ज्ञात श्रेणी में नहीं रक्खा जा सकता और इस दृष्टिकोण को तो उसने एकाधिक बार दुहराया है कि बादशाह मु० तुगलक ईश्वर की विचित्र एवम् आश्चर्यजनक कृतियों में है, वह वास्तव में प्रकृति का खेलवाड़ है। ऐसी दशा में यह स्वाभाविक ही है कि बरनी की भाषा प्रशंसा में भी अत्युक्तिपूर्ण है और विपक्ष में भी। वह इस बात के प्रयत्न में था कि ऐसे विचित्र बादशाह के वास्तविक चरित्र का वर्णन कर सके। बादशाह की 'शानदार प्रतिभा तथा प्रयोगात्मक कार्यों में उसकी असमर्थता' दोनों का ही यथार्थ चित्रण कर दे। खलीफा के प्रति उसका समर्पण परन्तु इस्लाम के नियमों का अनादर समझ में न आने वाली बातें थीं। अतः वांछित तो यह है कि उसकी अत्युक्तियों को छोड़ दिया जाय परन्तु जिन तथ्यों का उसने वर्णन किया है उन्हें विश्वसनीय मान लिया जाय। विशेषतया तत्कालीन ग्रामीण-व्यवस्था का जो चित्र उसने दिया है वह तो अविश्वसनीय कदापि नहीं है।

मुहम्मद तुगलक के समकालीन इतिहासकारों ने उसकी ग्राम्य नीति के बारे में कुछ भी नहीं कहा है। बादशाह के आदर्शों का भी ठीक-ठीक अन्दाज नहीं लग पाता। हाँ उस समय की कुछ घटनायें उपलब्ध हैं। उन घटनाओं को दो समूहों में बाँटा जा सकता है। इनमें से एक समूह तो प्रान्तीय शासन का तथा दूसरा नदियों के प्रदेश में उसके द्वारा किये गये विभिन्न कार्यों का। बादशाह का सबसे पहला कदम यह था कि उसने प्रयत्न किया कि दूरस्थ प्रान्तों का शासन भी दिल्ली की ही भाति कर दिया जाय। अर्थात् वे सभी सूबे सल्तनत के प्रत्यक्ष शासन में ले लिये जायँ। इस प्रकार उसने सारी शक्ति केन्द्र में ही रखने का प्रयत्न किया। बरनी ने शासन के

इस केन्द्रीय करण की कटु आलोचना की है। उसने कहा है कि मु० तुगलक विद्वान था प्रतिभावान था परन्तु वह कार्य कुशल न था। उसी सिलसिले में सुदूरस्थ प्रान्तों में से प्रत्येक का विस्तृत लेखा मांगा गया। लेखा आने पर निरीक्षकों ने खूब जोर शोर से उसकी जांच की। एक एक पैसे का हिसाब हुआ। हिसाब की यह जांच पड़ताल सालों तक चलती रही। हिसाब के जांच के परिणामों का उल्लेख नहीं किया गया है परन्तु दो घटनाओं से पता चलता है कि सट्टेबाज सीरदारों की उस समय तक बहुतायत हो चली थी। पहली घटना (पृ० ४८८) उस व्यक्ति की है जिसने बीदर (एक प्रान्त) में तीन साल के लिये काफी जमीन ली थी। शर्त यह थी कि वह उस भूमि के लिये एक करोड़ टंका (तत्कालीन रुपया) देगा। उस व्यक्ति का असली पेशा गल्ले का व्यापार करना था। अतः वह खेती के कार्यों में एकदम अयोग्य था। वह उक्त स्थान का रहने वाला भी नहीं था। बाद में उसे जब यह पता चला कि उस भूमि के लगान स्वरूप वह पूरी रकम की तिहाई या चौथाई भी वसूल नहीं कर पायेगा तो वह लगान देने से ही इन्कार करने लगा अर्थात् उसने विद्रोह कर दिया और अपने को एक किले में बन्द कर परिणाम की प्रतीक्षा करने लगा। बादशाही सेना ने उसे गिरफ्तार किया और एक कैदी के रूप में उसे दिल्ली भेज दिया।

दूसरी घटना * कड़ा प्रान्त की है। उसके एक किसान का वर्णन बरनी ने बड़ी ही लच्छेदार भाषा में किया है। उसने उस किसान को घृणित तथा मूर्ख बतलाया है। उसके पास न तो पूंजी थी, न अन्य साधन थे और न मददगार ही, फिर भी उसने कुछ भूमि किसी निर्धारित रकम के बदले में ले लिया। जितनी रकम देने का

---

* बरनी ने उस किसान का वर्णन इस प्रकार किया है 'Marduki' Bhangri Bhangi, khurafati.' इसमें मर्दुकी शब्द का अर्थ होता है 'घृणित' 'भंगी' का अर्थ है नशेबाज तथा खुराफाती का अर्थ है नित नई शरारतें करने वाला। कुछ इतिहासकारों ने भंगी का अर्थ "झाड़ू देने वाले लोग" (मेहतर) लगाया है परन्तु किसी मेहतर को तो सूबे की सीरदारी दी नहीं गयी होगी। परन्तु उस अर्थ को बिल्कुल तर्कहीन इसलिए न कहना चाहिये कि (पृ० ५०५) पर बरनी ने स्वयम् ही लिखा है कि बादशाह नीच जाति वालों की हिमायत करता तथा उन्हें बढ़ावा दिया करता था। कितने ही नाई, कलवार (शराब बेचने वाले) माली, जुलाहे इत्यादि को कुलीनों का सा महत्व बादशाह ने दिया था। उन्हें दरबार में भी और सूबों में भी ऊँचे पद दिये गये थे। अतएव किसी सूबे के लिये किसी मेहतर के निबिदा (Tender) को स्वीकार कर लेना असम्भव भी नहीं था।

उसने वादा किया था उसका दशमांश भी वह वसूल न कर सका। तब उसने कुछ देहातियों को इकट्ठा करके विद्रोह कर दिया। उसने शाहंशाह की पदवी भी धारण कर लिया। समीपस्थ सूबेदार ने तुरन्त उस विद्रोह को कुचल दिया। विद्रोही की खाल खिचवा ली गयी और उसे (चमड़े को) दिल्ली भेज दिया। हम चाहें यह भी मान लें कि इन दोनों सट्टेबाज सीरदारों का वर्णन अत्युक्ति पूर्ण है तब भी हम इस परिणाम पर तो पहुँच ही जाते हैं कि उस समय इस देश में सट्टेबाज सीरदार भी थे, और उन्हें भूमि दिये जाने का एकमात्र कारण था कि वे लोग लोभवश अधिक लगान देने को तैयार हो जाते हैं। यह सोचना भी ठीक नहीं होगा कि उपरोक्त दोनों घटनायें अापवाद * (Exception) स्वरूप थीं, सामान्य नहीं। इतिहास में उनका समावेश इसलिये हो गया है कि दोनों ने विद्रोह का स्वरूप ले लिया था। फिर भी इनका वर्णन इस प्रकार तथ्यपूर्ण किया गया है कि उससे यह परिणाम निकालना तर्क-सम्मत ही प्रतीत होगा कि वे सामान्य प्रान्तीय व्यवस्था (प्रचलित व्यवस्था) की हीं विशिष्ट घटनायें थी और ये घटनायें उस समय के बाद की हैं जब मुहम्मद तुगलक का केन्द्री करण का प्रयास असफल हो चुका था। हमारे सामने ऐसी ही घटनाएँ आ पायी हैं जिनमें सट्टेबाज सीरदार या तो वादे की रकम ही न दे सके और न वादा-खिलाफी का जुर्माना ही; वरन् उल्टे वे विद्रोह कर बैठे। ऐसी भी घटनायें अवश्य हुई होंगी जहाँ सफलतापूर्वक इन सट्टेबाजों ने निर्धारित रकम चुका दी होगी अथवा न चुका सकने की अवस्था में आवश्यक जुर्माना देकर मुक्ति पायी होगी। इन लोगों के साथ सरदारों ने लगान वसूली के लिये क्या व्यवहार किया होगा इसका पाठक ही अनुमान कर लें।

मुहम्मद तुगलक के शासान काल में 'नदीप्रदेश' (River Country) का कुछ विस्तृत वर्णन आवश्यक है। इस प्रान्त के वर्णन में तारीखों का अभाव है परन्तु घटनाओं का पूर्वापर (Sequence) सम्बन्ध अवश्य ही लगाया जा सकता है। उसका शासन छब्बीस वर्षों तक रहा और यह सारा समय 'बर्बाद कर देने वाली लगान बृद्धि, विद्रोह-दमन, भारी जुर्मानों की वसूली के लिये किये प्रयत्नों की कथाओं से भरा पड़ा

* इब्न बतूता को सूचना मिली थी कि दक्खिन के सारे प्रान्तों को एक हिन्दू सरदार को १७ करोड़ टंका की सीरदारी पर दे दिये गया था और बाद में उसकी खाल खींच ली गयी थी। मुमकिन है कि यह वही घटना हो जिसे बरनी ने पहली घटना के रूप में वर्णन किया है या कोई और ही घटना हो। मुझे तो वह एक अलग घटना सी ही प्रतीत होती है।

है। सुलतान अपनी प्रतिभा से कोई स्कीम निकालता, कार्य-कुशल न होने से स्कीम के कार्यान्वयन में असफलता हाथ लगती, उसकी पूर्ति के लिये फिर कोई तरीका सोचा जाता और कार्यान्वयन में फिर असफलता मिलती। इसी प्रकार के शैतानी चक्कर में बादशाह तथा उसके दर्बारी फंसे रहते थे। इस चक्कर का खात्मा साम्राज्य की विश्रृंखलता पर ही हुआ।

शासन के प्रारम्भ में ही बादशाह ने 'नदी प्रदेश' की मालगुजारी बढ़ाना चाहा और इस प्रकार सरकारी खजाने में वृद्धि करने की सोचा, क्योंकि यह प्रदेश केन्द्र के लिये रक्षित था। यह लगान वृद्धि बहुत ही विनाशकारिणी * सिद्ध हुई। किसान गरीब हो गये, लगान देने की उनकी शक्ति मारी गयी। जिनके पास कुछ भी साधन था वे विद्रही हो गये। इसके कुछ ही वर्षों बाद उसने राजधानी परिवर्तित किया। सन् १३२९ में सचूची दिल्ली पूरी तरह खाली करायी गयी तथा दक्षिण में देवगिरि को दौलताबाद का नाम देकर उसे राजधानी बनाया गया। कर वृद्धि का परिणाम वैसे ही प्रतिकूल पड़ रहा था। तब भी जो कुछ किसानों के खाने खर्च से बेंचता था उसे किसान लोग दिल्ली की बाजार में वेंच लेते थे। अब दिल्ली की बाजार खतम हो गयी। अब बाकी बचे अनाज को बेंचा कहां जाय। बाजार के अभाव में अधिक गल्ला उपजाने से किसी लाभ की गुञ्जाइज न रही। फलतः किसानों ने कम भूमि पर ही खेती करना शुरू कर दिया जिससे लगान भी कम देनी पड़े। नतीजा यह हुआ कि खजाने का धन बढ़ाने के लिये की गयी कर वृद्धि ने लगान की रकम में पहले से भी अधिक कमी कर दी।

बरनी ने (पृ० ४७३) पर का वृद्धि को "यकी बा दाह बा यकीं बा विस्त" कह कर वर्णन किया है। डा० ईश्वरी प्रसाद ने ठीक ही आलोचना की है कि मि० डाउसन द्वारा निर्देशित दस या पाँच प्रतिशत वृद्धि से वह परिणाम सम्भव नहीं था जो सामने आया। अगर इसका अर्थ 'दस या बीस गुना' लगाया जाय तो इतनी लगान वृद्धि असम्भावना पर पहुँच जाती है। ऐसा समझ पड़ता है कि ये अंक काव्यमय हैं न कि गणित के। कई और स्थानों पर भी बरनी के १० गुना, १०० गुना, तथा १००० गुना सूचक शब्द गड़बड़ी में डाल देते हैं। अतः इनकी अंकीय महत्ता नगण्य हैं। पृष्ट ३०, ८४, ६१, १०६, २६४, ३६८, ३६४, तथा ५३२ पर के वर्णनों में भी ऐसी ही गड़बड़ियां हैं अतः इस प्रकार के शब्दों का अर्थ "अत्यधिक" ही वांछित होगा या सन्दर्भ से कोई अन्य अर्थ निकलता हो तो उसे ही ग्रहण करना चाहिये।

सन् १३३२ ई० में बादशाह फिर दिल्ली आया। राजधानी अभी दक्खिन में ही थी। उसने देखा कि अन्य कर वृद्धि ने दिल्ली प्रदेश तथा 'नदी-प्रदेश'* को बर्बाद कर दिया है। गल्ले के गोदाम जला दिये गये हैं। गांव में कृषि योग्य पशु दिखाई नहीं पड़ते। जिन किसानों का काम केवल, खेती करना तथा लगान देना था वे अब विद्रोह पर उतारु हो चुके थे। उनकी कृषि व्यवस्था भंग हो चुकी थी वे भयंकर गरीबी में जीवन को घसीट रहे थे। बादशाह के विद्रोह दमन के आदेश ने कोढ़ में खाज का काम किया कितने मार डाले गये, कितनों की आँखें फोड़ डाली गयीं और हम यह कह सकने की स्थिति में हैं कि जब बादशाह दौलताबाद से लौटा तो उसने समस्त प्रदेश को उजाड़, जनहीन तथा पहले † से भी खराब अवस्था में छोड़ा।

दिल्ली के सारे निवासियों को दौलताबाद में बड़ी तकलीफों का सामना करना पड़ा। दिल्ली में मिलने वाले आराम वहाँ कहा थे। बादशाह भी समुचित प्रबन्ध न कर सका। हारकर सन् १३३७ ई० में बादशाह का हुक्म हुआ कि 'फिर दिल्ली चलो' सब लोग फिर दिल्ली की ओर चले। सभी नागरिक तथा कर्मचारी जब शाही फौज के साथ दिल्ली पहुँचे तो उसे एकदम से उजड़ा हुआ पाया। खाने का ठिकाना नहीं था। इतिहासकार के शब्दों में 'पहले से हजारवें भाग में भी' खेती नहीं हो रही थी। बादशाह ने पैदावार बढ़ाने की पूरी कोशिश की। खेती को पुनर्गठित करना प्रारंभ किया। खेतिहरों को लम्बी लम्बी रकमें अग्रिम सहायता (तकावी के रूप में) में दी गयीं। दुर्भाग्य से उस वर्ष वर्षा भी ठीक से नहीं हुई और सब किया धरा मिट्टी हो गया। हारकर बादशाह को फौज एवम् कर्मचारीयों के साथ गंगा के किनारे खेमे डाल-कर रहना पड़ा। शहर के अधिकांश नागरिक भी वहीं आ गये। यह अस्थायी निवास कन्नौज से दूर नहीं था। इन लोगों की आवश्यकता पूर्ति कड़ा एवम् अवध प्रान्त से

---

* बरनी यह नहीं बताता कि उस समय 'नदी प्रदेश' की लगान की कितनी दर किस रूप में बढ़ी। वह इतना ही कहता है कि 'कर' बढ़ा दिये गये। T. Mubarak-Shahi में लिखा मिलता है कि नाप प्रणाली पर लगान बढ़ायी गयी और परिणाम को देखते हुये यही सम्भव भी प्रतीत होता है।

† इब्न बतूता दिल्ली में सन् १३३४ ई० में आया। बादशाह उस वक्त कन्नौज में था। उस समय तक सारा नदी-प्रदेश बर्बाद हो गया था। अतः स्पष्ट है कि बादशाह सन् १३३३ ई० में अस्थायी निवास में रहने चला गया था।

होने लगी। कुछ वर्षों तक वहाँ रहकर बादशाह फिर दिल्ली * लौटा। तीन वर्ष तक वह प्रशासन के संगठन में लगा रहा। इसी बीच वह इस प्रयत्न में भी लगा रहा कि नदी प्रदेश फिर से हरा भरा हो जाय।

उपरोक्त उद्देश्य को सामने रख कर एक नया वजीर मुकर्रर किया गया। पूरा भूभाग कई क्षेत्रों में बाँट दिया गया और नये नये कर्मचारी नियुक्त किये गये। इन कर्मचारियों को आदेश था कि वे खेती की भूमि को उपजाऊ बनावें, साथ ही किसानों को प्रोत्साहित करें कि वे लोग अधिकाधिक भूमि को जोत में ले आवें। लक्ष्य यह रक्खा गया कि खेती योग्य एक इंच भी जमीन बिना जोती बोई न बचे। जौ की जगह गेंहूँ ने लिया, गेहूँ का स्थान गन्ना ने लिया। परन्तु कर्मचारियों की आयोग्यता (या बेईमानी) ने सब गुड़ गोबर कर दिया। सारा कार्य अव्यवस्थित ढंग से किया जा रहा था। कर्मचारियों की संख्या एक सौ के करीब थी। उन लोगों ने खेतिहरों को लम्बी लम्बी रकमें अग्रिम रूप में दिया। बहुत सा रुपया बीच में ही उड़ा लिया गया। जिन भूमिखंडों पर ये रकमें लगायी गयीं उनमें से अधिकांश खेती के अयोग्य थे। दो वर्ष में सरकारी खजाने से इस कार्य के लिये सत्तर लाख रुपये निकाले गये। तीन साल की योजना बनायी गयी थी। इन तीन वर्षों में तथा सत्तर लाख रुपयों में से शतांश की कौन कहे योजना का सहस्रांश भी नहीं पूरा हो सका। अब कर्मचारियों को यह भय सताने लगा कि कहीं बादशाह नाराज होकर उनको सख्त दंड देने की व्यवस्था न करने लगे। सौभाग्य यही हुआ कि उनका भंडाफोड़ होने से पहले ही बिगड़ी राजनैतिक परिस्थितियों ने बादशाह को सन् १३४५ ई० में दक्खिन की ओर खींच लिया। इतिहासकार की राय है कि यदि बादशाह को उधर न जाना पड़ गया होता तो उन कर्मचारियों में से शायद ही किसी की जान बँच पाती। परन्तु उन लोगों पर भाग्य देव प्रसन्न थे। बादशाह फिर दिल्ली का मुंह ही

---

* यदि इब्न बतूता की बात को प्रमाणिक मानें तो यह मानना पड़ेगा कि बादशाह सन् १३४१ ई० में दिल्ली लौटा। जब खलीफा का राजदूत सन् १३४३ ई० में आया था तो बादशाह दिल्ली में ही था (बरनी ४६२) इब्न बतूता ने सन् १३४२ ई० में दिल्ली छोड़ा और उसके बाद में किये गये उसके वर्णनों से तत्कालीन इतिहास को कोई भी मदद नहीं मिलती।

न दे सका और उसके उत्तराधिकारी फीरोज तुगलक ने दया का परिचय दिया और उन सभी रकमों को मुआफ * कर दिया।

उपरोक्त वर्णन अपनी गाथा स्वयम् गा रहा है। इसमें से हमें केवल दो बातों पर ध्यान देना है। पहली बात तो यह है कि योजना की असफलता को बर्सात की अत्यधिक कमी के मत्थे मढ़ दिया जाता है। परन्तु वास्तव में बर्सात की कमी के कारण योजना उतनी असफल नहीं हुई जितना प्रशासनिक गड़बड़ी के कारण। निस्सन्देह भारत के कई भागों को इस वर्ष भयंकर अकाल का सामना करना पड़ रहा था, तथा योजना के पहले वर्ष को वास्तव में वर्षा की कमी ने ही असफल कर दिया था, परन्तु दूसरे वर्ष तो पूरी वर्षा हुई थी, और उस वर्ष भी उसी असफलता का सामना करना पड़ा। इससे तो यही नतीजा निकालना समुचित प्रतीत होता है कि यदि प्रथम वर्ष में पूरी तथा नियमित वर्षा हुई भी होती तो भी कर्मचारियों की अयोग्यता अपनी असफलता को बदल पाने में समर्थ न हो पाती। हमें यह भी ध्यान रखना चाहिये कि इतिहासकार ने अकाल शब्द का प्रयोग केवल दिल्ली निवासियों को ध्यान में रख कर किया है। दिल्ली में अकाल तो सचमुच पड़ा था, परन्तु इसकी वजह वर्षा की कमी नहीं थी। बात यह हुई कि, जैसा पिछले पृष्ठों में कह आये हैं, राजधानी के परिवर्तन ने दिल्ली बाजार को तोड़ दिया और समुचित बाजार के अभाव में खेती में भी कुव्यवस्था फैल गई। दिल्ली से बादशाह के हटते ही कर्मचारी असावधान हो गये, प्रशासन में गड़बड़ियाँ होने लगीं, खेतिहरों का कोई पुरसाहाल तक न रह गया। इधर दिल्ली का बाजार टूट ही चुका था। इन सब कारणों ने मिलकर खेती तथा खेतिहरों को नष्ट भ्रष्ट कर दिया तथा कितने ही किसान अपना घर बार छोड़कर जहाँ सींग समाथी वही चले गये। प्रशासन की गड़बड़ियों तथा कर्मचारियों की भयंकर भूलों ने किसानों को निराश कर ही दिया था। जब खेती के पुनरुद्धार का प्रश्न सामने आया तो वह उन निराश हृदयों में आशा का संचार करने में पूर्णतः असफल सिद्ध हुआ।

दूसरी ध्यान देने योग्य बात यह है कि भारतीय इतिहास में पहली बार यह

---

* शम्स अफीफ (पृ० ९३, ९४)। इस इतिहासकार के अनुसार दो करोड़ रुपया दिया गया था। बरनी ७० लाख देने की बात कहता है। परन्तु बरनी केवल दो वर्षों में ही ७० लाख खर्च होने की कहता है सम्भव है कि अगले वर्षों को मिलाकर २ करोड़ ही हो गया हो। यह भी हो सकता है कि जन श्रुतियों ने शम्स अफीफ के समय तक ७० लाख को ही बढ़ा कर दो करोड़ कर दिया हो।

जाहिर हुआ कि खेती, खेती के तरीकों * तथा खेती के साधनों को सुधारना भी सरकार के कर्तव्यों में आता है। दूसरे शब्दों में भारत के लिये यह पहला मौका था जब सल्तनत ने (विवश होकर ही सही) खेती के सुधार पर न केवल बल दिया वरन् सरकारी खजाने से एक लम्बी रकम भी खर्च की। कृषिनीति की घोषणा में वास्तविक बल इस बात पर दिया गया था कि 'जो भूमि जोती जा रही हो वह तो बराबर जोत' में रक्खी ही जाय साथ ही जो भूमि खाली पड़ी हुई है उसे भी जोत में लाया जाय। हो सकता है कि मुहम्मद तुगलक के पहले भी खेती के सुधार एवम् प्रसार पर बल देने वाले बादशाह हुये हों परन्तु किसी इतिहासकार ने उनका कहीं भी उल्लेख नहीं किया है। इस प्रकार के प्रयत्न का पहला वर्णन मुहम्मद तुगलक के ही सम्बन्ध में इतिहास में दिया गया है। सम्भव है कि उसके प्रयत्नों को बढ़ा चढ़ा कर लिखा गया हो क्योंकि तत्कालीन मेरठ तथा बुलन्दशहर प्रदेशों की दशा उस समय में भी चिन्ताग्रस्त थी; परन्तु इससे योजना की उत्तमता में कोई अन्तर नहीं आना चाहिये। इस योजना की महत्ता का मूल्यांकन उसकी सफलता से नहीं परन्तु इस दृष्टि से करना चाहिये कि सल्तनत द्वारा किया गया वह प्रथम प्रयत्न था जिसने इस विषय को राजकीय कर्तव्यों में स्थान दिला दिया।

मुहम्मद तुगलक के शासनकाल में जागीरदारी की प्रथा चालू थी या नहीं इसका कोई भी वर्णन किसी भी भारतीय ग्रंथ में नहीं मिलता, परन्तु दमिश्क † के एक ग्रंथ से कुछ सूचनायें मिल सकती है कि जिसमें स्पष्ट लिखा है कि उस समय मुहम्मद तुगलक दिल्ली का सुलतान था। उक्त पुस्तक को देखने से पता चलता है कि दिल्ली के सुलतानों की फौजी व्यवस्था सीरिया एवम् मिश्र की सैनिक व्यवस्था से भिन्न थी। भारत में सेनापति को अपनी फौज नहीं रखनी पड़ती थी, वरन् वह शाही सेना का ही संचालन किया करता था। सेनापतियों की आय उनकी व्यक्तिगत आय हुआ करती थी। उसकी अधीनस्थ सेना को सरकारी खजाने से वेतन मिला करता था।

---

* कैम्ब्रिज हिस्ट्री के अनुसार (iii. १६१) सरकारी आदेश था कि खेतों में फसलें अदल-बदल कर बोई जायें परन्तु मैं इस बात से सहमत नहीं हूँ। मेरी समझ में इसका यह तात्पर्य है कि कम कीमत वाली फसलों का स्थान अधिक कीमत तथा पोषण देने वाली फसलों को दिया जाय।

† 'मसालि कुल अबसा' मैंने स्वयम् इस ग्रंथ को नहीं देखा है परन्तु 'इलियट' ने जिस प्रकार इसके वर्णनों को उद्धृत किया है उससे मेरा अनुमान है कि उस पुस्तक में शब्द 'कस्बान' परगनों के अर्थ में आया है।

सेनापति के वेतन के बदले में उसे उसी कीमत की जागीर मिल जाती थी जिसकी लगान उसकी व्यक्तिगत आय होती थी । प्रायः इन जागीरों की आय अनुमानित आय से अधिक होती थी । दर्बार में रहने वाले उच्चपदस्थ कर्मचारियों को भी जागीर में परगने तथा गाँव दिये जाते थे । यह वर्णन उन वर्णनों से मेल खाता है जिनका जिक्र हम पिछले पृष्ठों में कर आये हैं । इस जमाने की जागीरदारी प्रथा मुगलकालीन जागरदारी की प्रथा से भिन्न थी क्योंकि जागीर की लगान उस वेतन की रकम के बदले बख्शी जाती थी जो किसी भी कर्मचारी को मिलती थी । तात्पर्य यह है कि कोई सूबा, परगना या गाँव ही जागीर में नहीं दिये जाते थे वरन् दी जाती थी उस सूबे, परगने या गाँव की लगान, और जागीरदार को मिलने वाली यह लगान प्रायः सिद्धान्तरूप से उतनी ही होती थी, जितना वेतन पाने का वह अधिकारी होता था । अर्थात् पहले वेतन की रकम निर्धारित हो जाती थी तब उतनी ही लगान देने वाली कोई जागीर उसके नाम कर दी जाती थी । इस वेतन के सभी लगान का उपभोग वह कर्मचारी खुद ही करने का हकदार था । अगर कोइ सेना उसके पास रहती भी थी तो उसके सैनिकों का वेतन शाही खजाने से दिया जाता था । नकद वेतन देने की यह प्रथा अल्लाउद्दीन ने चालू किया था, गयासुद्दीन ने उसे चालू ही रक्खा तथा मुहम्मद तुगलक ने भी उसमें परिवर्तन नहीं किया । एक बात और ध्यान देने की है कि इसी जमाने में सूबों, परगनो तथा गाँवों की सही आर्थिक स्थिति आंकने का प्रयास किया गया । आगे चलकर हम देखेंगे कि राज्यों के इस मूल्यांकन को बहुत महत्वपूर्ण समझा गया । कितने वेतन के लिये कितनी बड़ी जागीर दी जाती थी इसका कोई भी जिक्र किसी भी ग्रंथ में नहीं आया है परन्तु चूंकि तनख्वाह उस जमाने में बहुत ऊँची थी अतः जागीर भी उसी हिसाब से बड़ी होती रही होंगी । इब्न बतूता * का कहना है कि अधिकांश कर्मचारियों का वेतन इसी भांति दिया जाता था । अस्तु, यह मानना चाहिये कि सीरदारी एवम् जागीरदारी प्रथायें तत्कालीन ग्रामीण व्यवस्था का मुख्य अंग थीं ।

फीरोज शाह (१३५१-१३८८)

मुहम्मद तुगलक की मृत्यु के बाद उसका चचेरा भाई फीरोज तुगलक गद्दी पर बैठा । वह प्रौढ़ावस्था में सुलतान हुआ । गद्दी पर बैठने के पूर्व ही राज्य के शासन का कार्य उसे दिया गया था । मु० तुगलक के जमाने में ही उसे शासन का कुछ अनुभव हो चुका था । उसके शासन के वर्णनों के लिए हमारे सामने तीन साधन है ।

---

* विशेष तौर पर देखिये iii ४००,४२०-जिन पृष्ठों में इबने बतूता तथा उसके साथियों के वेतनों का वर्णन है। उनमें से हर एक को वेतन के बदले जागीरें मिली थीं।

पहले तो फीरोज शाह ने स्वयं ही कुछ संस्मरण लिखे हैं। इसके अतिरिक्त जिया उद्दीन बरनी तथा शम्स अफीफ के भी वर्णन हमारे सामने हैं। बरनी ने फीरोज तुगलक के प्रारंभ के छः वर्षों तक का ही हाल दिया है; जिससे पता चलता है कि उन दिनों शाही कर्मचारियों एवम् दरबारियों को उन परेशानियों से छुटकारा मिल चुका था जिनके पंजों में वे मु० तुगलक के जीवन के अन्तिम दिनों में फंसे हुये थे। लोगों की खुशहाली लौट रही थी। जिया बरनी के अन्तिम अध्यायों को देखने से पता चलता है कि उसकी लेखन शक्ति तेजी से क्षीण हो रही थी। जिया बरनी काफी बूढ़ा होकर मरा। अपने कार्य को (इतिहास लेखन) को वह अपूर्ण ही छोड़कर मरा। फीरोज के बारे में उसने जो कुछ भी लिखा है वह प्रशंसात्मक अत्युक्तियों से पटा पड़ा है। इसीलिये उसके वर्णनों का सब कुछ ज्यों का त्यों मान लेना ठीक नहीं होगा। शम्स अफीफ फीरोज का समकालीन था। बादशाह ने ही उसे महकमा लगान में नौकर रक्खा था, परन्तु फीरोजशाह के शम्स का जो कुछ भी वर्णन अफीफ के ग्रंथ में मिलता है वह बादशाह की मृत्यु के बाद ही लिखा गया। इस ग्रंथ के लिखे जाने के पहले तैमूर का आक्रमण हो चुका था और तुगलक साम्राज्य छिन्नभिन्न होता जा रहा था। अफीफ ने फीरोज के शासन का तथा उसके बाद के शासन का जो तुलनात्मक वर्णन दिया है उससे अपने मालिक (फीरोज तुगलक) के प्रति उसकी श्रद्धा का परिचय मिलता है, परन्तु इसी श्रद्धा के कारण उसकी भाषा में अत्युक्ति दोष आ गया है। इतिहास में रुचि रखने वालों के सौभाग्य से अफीफ छोटी घटनाओं का वर्णन करने का प्रेमी था और इन्हीं घटनाओं के आधार पर फीरोजकालीन शासन का कुछ अन्दाज लगा पाना संभव हो जाता है। इन घटनाओं के वर्णनों से भरे हुये उसके अन्तिम अध्याय पूर्व के अध्यायों के मुकाबले में इतिहास प्रेमियों के लिए अधिक काम की चीज हैं। फीरोज पक्का मुसलमान था अतः उसके द्वारा हिन्दुओं के प्रति किये गये कुछ व्यवहारों की कटु आलोचना की जा सकती है; परन्तु उसकी समूची शासन नीति को देखते हुये उसे लोकहितैषी शासक कहा जा सकता है। कोई भले ही उसे कमजोर * शासक कह

* कुछ लोग ऐसा सोच सकते हैं कि यदि फीरोज कमजोर शासक था तो इतने अधिक दिनों तक उसका शासन कैसे चलता रहा। परन्तु उन्हें सोचना चाहिये कि उसे खान जहाँ मकबूल जैसे वजीर की सेवायें प्राप्त थी जो अपनी शक्ति, प्रतिभा एवम् वफादारी के लिये मशहूर है। खान जहाँ का पुत्र योग्य पिता का योग्य पुत्र था। पिता के बाद पुत्र ने उसी शक्ति प्रतिभा एवम् वफादारी के साथ शासन-सचालन किया। यही दोनों व्यक्ति फीरोज के शासन के सुदृढ़तम स्तम्भ थे और शासन तब तक दृढ़ बना रहा जब तक खान जहाँ द्वितीय की वफादारी कायम रही।

ले। कम से कम राज्य के केन्द्रस्थल में रहने वाले कर्मचारियों एवम् दर्बारियों के लिये उसका युग स्वर्ण युग था। शायद इस प्रकार के प्रशंसा पूर्ण वर्णनों का यह भी कारण हो कि ये एक ऐसे व्यक्ति द्वारा लिखे गये हैं जो स्वयम् एक कर्मचारी था। यह सत्य है कि प्रान्तीय सूबेदारों के ऊपर फीरोज शाह का नियंत्रण पर्याप्त ढीला था, कुछ काफी अयोग्य व्यक्तियों की नियुक्तियाँ भी हुई थीं और इस बात में सन्देह करने की काफी गुंजाइस है कि सुदूरस्थ प्रान्त के लोग भी फीरोज शाह की लोकहितैषिता से लाभान्वित हुये थे। हाँ सल्तनत का केन्द्र तथा उसके आस पास के लोग अवश्य ही पहले से अधिक सुखी एवम् शान्ति पूर्ण जीवन बिता रहे थे, यह सही है।

गद्दी पर बैठते ही फीरोज ने देखा कि महकमा लगान एक दम अव्यवस्थित हो गया था। अतः उस विभाग के वजीर का पहला काम * था कि वह इस महकमे को फिर से गठित करे। 'नदी प्रदेश' प्रायः निर्जन हो चुका था, सूबे सटोरियों के हाथ जा पड़े थे। इन सटोरियों को न तो इससे कोई मतलब था कि जन जीवन कैसे चल रहा है और न वे इसी की परवा करते थे कि लगान के नियम उपनियम क्या हैं। उनका मतलब सिर्फ इससे था कि वे अधिक से अधिक लाभ उठा सकें और वह भी कम से कम समय में। ऐतिहासिक उल्लेखों से तत्कालीन लगान दर का कोई भी पता नहीं चलता अतः मैं उन लोगों की हाँ में हाँ मिलाने का कोई कारण नहीं देखता, जो यह दावा करते हैं कि उस समय में लगान की दर उपज का दशमांश † थी। ऐतिहासिक लेखों के अभाव में वास्तविक दर का आधार अनुमान ही हो सकता है। लगान निर्धारण के लिये 'बँटाई प्रणाली प्रचलित थी। इतिहासकारों का कहना है कि अतिरिक्त मांग की प्रणाली को खत्म का दिया गया। अफीफ के लेखों से यह अनुमान

---

* बरनी ५७१, अफाफ ६४। कृपया परिशिष्ट 'स' देखिये।

† उपरोक्त वर्णन का जो अङ्गरेजी अनुवाद मि० डॉसन ने किया है उससे बहुत से लोग भ्रम में पड़ सकते हैं। पहले मुझे भी भ्रम हो गया था। डॉसन ने लिखा है "प्रथम तो खिराज है या दशमांश है" प्रथम दृष्टि में ऐसा मालूम होता है जैसे 'खिराज' शब्द को समझाने के लिये ही दशमांश शब्द इस्तेमाल किया गया है। परन्तु ध्यान से देखने पर सन्दर्भ के अनुसार पता चलता है कि वह उन मौलिक साधनों को गिना रहा था जो इस्लाम मजहब ने मुस्लिम शासकों को दिया है। यानी इसे इस प्रकार पढ़ना चाहिये "First, the Khiraj, the ushur and the zakat and the jazia etc."

लगाना सरल है कि शायद मुहम्मद तुगलक ने स्थान स्थान पर नाप की प्रणाली भी अपनायी थी। यह भी संभव है कि वह सुनी सुनाई बातों को ही लिख गया हो। शायद वह स्वयम् नाप प्रणाली से बँटाई प्रथा को अच्छा समझता रहा हो। 'अतिरिक्त मांग' से भी स्पष्ट है कि मुहम्मद तुगलक के जमाने में बादशाह लगान के अतिरिक्त भी कुछ रकम समय-समय पर किसानों के मांगा करता था। इन सब बातों से यह समझा जा सकता है कि उस समय किसान लोग अपनी उपज का एक अंश (चाहे वह जितना होता हो) सल्तनत को दे देते थे और उन्हें कुछ भी न देना पड़ता था। यह बतलाने का कोई साधन नहीं है कि लगान गल्ले के ही रूप में ली जाती थी या सिक्कों के रूप में। अब यदि यह प्रश्न किया जाय कि खेतिहर लोग लगान देते किसको थे, तो इसके दो सम्मत उत्तर हो सकते हैं। या तो वह सूबेदार को देते रहे होंगे या जागीरदार को।

प्रारम्भ में ही बरनी ने स्पष्ट कर दिया है कि उस समय सूबेदारों की नियुक्ति उनके व्यक्तिगत चरित्र के बल पर होती थी न कि सट्टेबाजी के बल पर। इसके अतिरित जो अयोग्य, बेईमान अथवा खुराफाती कर्मचारी थे उनको निकाल भी दिया गया था। इस कार्य में फीरोजशाह ने अपने चाचा गयासुद्दीन का अनुकरण किया। साथ ही लेखा निरीक्षण का कार्य भी नर्मी से करने का आदेश दिया गया तथा 'मतालवा' (Balance) वसूल करने में भी नर्मी बर्ती जाने लगी। इसी के साथ बादशाह ने यह आदेश दिया कि सूबेदारों द्वारा दी गयी 'सालाना खिदमती' * की कीमत के बराबर रकम उनके वार्षिक लगान की रकम में से काट दी जाया करेगी। अब सूबेदारों के सामने ऐसी परिस्थितियाँ आ गयी कि वे खेतिहरों के साथ उचित व्यवहार कर सकते थे। वैसे भी इस काल के खेतिहरों में जो सम्पन्नता दिखाई पड़ी उससे जाहिर है कि उनको राहत की सांस लेने का अवसर † मिल गया था, वे दिनों दिन खुशहाल

* सूबेदार लोग प्रतिवर्ष सुल्तान के प्रति आदर प्रकट करने के लिये दरबार में हाजिर होकर बादशाह को भेंट देते थे उसी को 'खिदमती' कहते थे। प्रायः यह नजर नकद न होकर सामानों के रूप में होती थी जैसे हाथी, गुलाम इत्यादि। कहते हैं कि बादशाह के पास १,८०००० गुलाम थे।

† बरनी (पृ० ५७४) के अनुसार बादशाह के आदेशों का यह परिणाम निकला कि प्रत्येक सूबे में न केवल औसत उपज ही बढ़ी वरन् जोत की भूमि का क्षेत्रफल भी बहुत बढ़ गया। अफीफ (२९५) के अनुसार 'नदी प्रदेश' में कहीं भी ऐसी भूमि बाकी न बची जिसे जोता न गया हो तथा सूबों में प्रति क्रोह (१½ मील) चार

होते जा रहे थे और उनके सामने उन्नति का मार्ग खुला हुआ था। ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जहाँ सुल्तान ने भूलें की हैं, उसका विवेक उसे धोका दे गया है। समाना के सहायक सूबेदार को बेईमानी करने पर बर्खास्त कर किया गया था परन्तु बादशाह ने उसकी नियुक्ति फिर गुजरात में कर दी और बाद में फिर बेईमानी करने पर उसे फिर से बर्खास्त करना पड़ा। उसकी बर्खास्तगी से जनता * को बड़ी राहत मिली। परन्तु इतिहास में उसकी ऐसी भूलें ज्यादा नहीं है अतः इस प्रकार भूलें अपवादात्मक प्रतीत होती हैं न कि सामान्य। निस्सदेह बादशाह दयापूर्ण व्यक्ति था। उसके सामने रोने धोने से मुआफी मिल जाने की काफी सम्भावनायें रहती थी और कर्मचारी उसकी इस कमजोरी को ताड़ गये। वे अवसर पाकर इससे उचित अनुचित लाभ उठाने से नहीं चूकते थे।

जागीरदारों का महत्व सूबेदारों के लिये उतना नहीं था जितना खेतिहरों के लिये, क्योंकि बादशाह जागीरदारी प्रथा को बहुत पसन्द करता था। उसके कर्मचारियों का वेतन पहले सिक्कों में तै कर लिया जाता था, ये वेतन काफी ऊँचे होते थे और बाद में जितनी भूमि से वेतन के बराबर लगान मिल जाती थी उतनी ही भूमि कर्मचारी को जागीर में दे दी जाती थी। सैनिकों को भी छोटी-छोटी जागीरें देने की प्रथा को फिर से शुरू किया गया। शम्स अफीफ ने यह कहने में अवश्य अत्युक्ति की है देश का एक-एक गाँव जागीर में लगा हुआ था क्योंकि इसको यदि सही मान लिया जाय तो प्रश्न उठता है कि खुद बादशाह की गुजर कैसे होती थी। अवश्य ही उसने अपने निजी खर्च के लिये कुछ प्रदेश रक्षित कर लिये होंगे। शम्स अफीफ के उक्त कथन का इतना ही अर्थ हो सकता है कि फोरोज शाह के समय में जागीरदारी की प्रथा पूर्णतया प्रचलित थी।

सिपाहियों की जागीरें किस प्रकार की थीं इस पर कुछ अधिक प्रकाश डालना सम्भव नहीं है। तत्कालीक ऐतिहासिक पुस्तकों में दिये गये कुछ वर्णनों से पता चलता

गाँव जोते जा रहे थे। दोनों लेखकों की भाषायें काव्यात्मक है परन्तु उनसे यह परिणाम निकाला जा सकता है कि इस समय में पिछले से अधिक भूमि भी जोती जा रही थी तथा उपज भी पहले से अच्छी हो रही थी। इससे ज्यादा सही सूचना शम्स अफीफ ने आगे (३२१) में दी है। उसके अनुसार किसानों में खेती के प्रति इतना अधिक उत्साह था कि खेल के मैदानों को कानूनन रक्षित (Resierved) करना पड़ता।

* अफीफ (४५४,४५५) सहायक सूबेदारों की नियुक्ति तभी होती थी जब सूबेदार को दरबार में भी रहना आवश्यक होता था।

है कि जागीर के गाँव सैनिकों के ही नियंत्रण में रहते थे, परन्तु एक वर्णन ऐसा भी मिलता है जिसका यह भी अर्थ लगाया जा सकता है कि किसी सैनिक का उसको दिये जागीर के गाँव से किसी भी प्रकार का प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं रहता था। उसे केवल एक सनद मिलती थी जिसके बल पर उसे गाँव की लगान मिल जाया करती थी और वह उस सनद को राजधानी में ही किसी के हाथ बेंच देता था (आजकल जिस प्रकार जमीन्दारी के बान्ड विक रहे हैं) जो इस प्रकार के व्यापार में विशेष दक्ष होते थे और इस ढंग से काफी रुपया पैदा करते थे। सनद खरीदने वाले को मालगुजारी की रकम मिलती थी इसका असर खेतिहरों पर भी पड़ता रहा होगा परन्तु इस बात से हमारे इस विषय पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। हम यह तो कह ही सकते हैं कि उस समय की अधिकांश लगान जागीरों * के रूप में ही उठी थी।

जागीरदारी की इस व्यवस्था से एक महत्वपूर्ण प्रश्न हमारे सामने आता है। इस प्रश्न का कोई ठीक अन्य नाम न पा सकने के कारण हम इसे 'मूल्यांकन' का नाम देंगे। सभी प्रकार के प्रशासनिक एवम् सैनिक कर्मचारियों की तनखाहें नकदी के रूप में तै की जाती थीं। लगान निर्धारण बँटाई की प्रथा से होती थी। बँटाई की प्रथा का प्रधान दोष है 'उपज की अच्छाई व खराबी तथा जोत की भूमि की वृद्धि तथा कमी के कारण होने वाली घट-बढ़'। प्रत्येक फसल की लगान दूसरे से भिन्न होती है। इस प्रकार वेतन के बदले में जागीर देते समय इस बात का ध्यान अवश्य रखना पड़ता होगा। उसे यह देखना पड़ता रहा होगा कि कर्मचारी की औसत आय उसके वेतन की रकम के आसपास हो। परन्तु लगान की मात्रा निश्चित न होने पर जागीर की बड़ाई छोटाई कैसे निश्चित होती रही होगी। किसी फसल की लगान को मानदन्ड मानना कठिन था। मान लीजिये कि एक कर्मचारी को पाँच हजार टंका वार्षिक पाना है। इसके बदले में उसे वह जागीर तो दी नहीं जानी चाहिये जिससे पिछले साल पाँच हजार टंका की आय हुई हो क्योंकि कि इस साल मुमकिन है उस जागीर की लगान चार हजार टंका ही आवे या छः हजार टंका हो जाय। अतः यह निश्चित है कि मूल्यांकन का कोई न कोई निश्चित मानदन्ड अवश्य ही रहा होगा और प्रत्येक जागीर की लगान का कुछ न कुछ वार्षिक औसत अवश्य निर्धारित कर लिया गया

---

* अफीफ अक्सर 'सैनिकों के गांव' तथा 'जागीर' को समान अर्थ में प्रयोग करता है तथा उसने गुजरात की सेना के पुनर्गठन का वर्णन करते हुए कहा है कि सैनिक अपने खर्च के लिये अपने गाँव की लगान पर निर्भर थे न कि प्रान्त के बैंकर्स पर। उनकी लगान सीधे गांव से उनके पास आ जाया करती थी।

होगा। इसी प्रकार ही क्रियाप्रणाली को हमने 'मूल्यांकन' की संज्ञा दी है। हम यह मान लेने को विवश है कि उस समय राजधानी के कार्यालय में इस प्रकार की कोई सूची अवश्य रक्खी जाती रही होगी जिससे यह पता तुरन्त लग सकता था कि अमुक गाँव, परगना तथा सूबे की लगान इतनी है। जब भी किसी कर्मचारी को वेतन निश्चित किया जाता था तो उतनी ही लगान वाली जागीर को उस सूची में से खोज-कर उस कर्मचारी को दे जाती होगी।

यह तो निश्चित ही है कि शासन की सफलता का अधिकांश इस प्रकार के मूल्यांकन पर ही निर्भर है, हाँ यह मूल्यांकन तथ्यों को दृष्टि में रख कर किया जाना चाहिये। जहाँ लगान की आय का अधिक मूल्यांकन हो जायगा वहाँ के कर्मचारी को अवश्य ही घाटा लगेगा, अतः कर्मचारी अवश्य ही नौकरी के प्रति उदासीन रहेगा और मुसलमान बादशाह कर्मचारियों की उदासीनता बर्दाश्त कर सकने की स्थिति में नहीं थे। दूसरी ओर यदि मूल्यांकन कम हुआ तो राज्य की आमदनी घट जाने का भय था। मुहम्मद तुगलक के शासन काल में हमने देखा है कि कर्मचारियों की वास्तविक आय अनुमानित आय से कहीं अधिक थी। अतः फीरोज तुगलक ने राज्य भर के गाँवों, परगनों तथा सूबों का फिर से मूल्यांकन कराया। इस कार्य में छः वर्ष लगे (अफीफ पृ० ९४) और पूरी सल्तनत की कुल अनुमानित आय पौने छः करोड़ टंका आयी। मुस्लिम युग में यह प्रथम घटना थी जिसके द्वारा सारी सल्तनत की आय जानने का प्रयास किया गया। मुगल काल में ऐसे अनेक प्रयास हुये और तत्कालीन प्रशासनिक साहित्य इस प्रकार के वर्णनों से भरा पड़ा है।

इसी मूल्यांकन को फीरोजशाह ने पूरे शासन काल में कायम रक्खा और चूंकि उसके शासन काल में खेती की उपज एवम् क्षेत्रफल दोनों में पर्याप्त वृद्धि होती रही अतः तत्कालीन कर्मचारियों का लाभ भी बराबर बढ़ता गया एवम् उनकी सम्पन्नता में बराबर वृद्धि होती गयी। शायद यही कारण है कि शम्स अफीफ ने उस समय की बढ़ती हुई खुशहाली का इतना प्रशंसापूर्ण वर्णन किया है। वह स्वयम् एक राजकर्म-चारी था और अपनी सम्पन्नता तथा खुशहाली में उसने समूची सल्तनत को सम्पन्न तथा खुशहाल समझा। इधर चूंकि रक्षित प्रदेशों की भी लगान की मात्रा (दर नहीं) बराबर बढ़ती ही जा रही थी अतः सरकारी खजाने पर भी कर्मचारियों की इस बढ़ती हुई सम्पन्नता का कोई उलटा प्रभाव नहीं पड़ा। यहाँ इस बात को भी ध्यान में रखना चाहिये कि अलाउद्दीन खिलजी द्वारा चलाये गये नियमों एवम् नियंत्रणों के ढीले हो जाने के बाद कीमतें फिर ऊँची उठ गयी थीं परन्तु फीरोजशाह के जमाने में कीमतें फिर नीचे आ गयी। परन्तु इससे यह समझ लेने की भूल न होनी चाहिये कि चीजों

की कीमत अलाउद्दीन कालीन स्तर पर उतर गयीं। शम्स अफीफ (२९३, २९४) ने कहा है कि यह सस्ती किसी शाही हुक्म के कारण नहीं हुई थी वरन् परिस्थितियों ने वास्तविक सस्ती ला दी थी। यह सत्य है कि फसल के समय तथा अच्छाई या खराबी से भाव चढ़ते उतरते रहते थे परन्तु कीमतों का सामान्य स्तर काफी नीचा था। दूसरे शब्दों में मुहम्मद तुगलक कालीन मुद्रा प्रसार का दुष्प्रभाव खत्म हो चुका था और फलस्वरूप उपज वृद्धि तथा क्षेत्र वृद्धि के बावजूद भी खजाने में नगद लगान की आमद में उतनी वृद्धि नहीं हुई क्योंकि सिक्कों की क्रयशक्ति काफी बढ़ गयी थी। उपरोक्त वर्णन से यह नतीजा निकालना गलत न होगा कि फीरोज शाह के शासन में छोटे बड़े हर प्रकार के जागीरदार अपने उचित भाग से कहीं अधिक शान्ति पूर्वक पाते जा रहे थे और उनकी बढ़ती जाने वाली सम्पन्नता से खेतिहारों की सुखशान्ति भी अवश्य बढ़ी होगी क्योंकि अभावग्रस्त कर्मचारी ही किसानों की सुख समृद्धि का सबसे बड़ा दुश्मन है। सम्पन्न होने के कारण उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति हुआ करती है तथा उन्हें इस बात की आवश्यकता कम महसूस होती है कि वे किसानों को सता कर धन कमाएँ। ऐसा प्रतीत होता है कि सभी दर्बारी लोग काफी सम्पन्न हो चुके थे क्योंकि इसके आगे ऐसे भी लोगों के वर्णन मिलने शुरू हो जाते हैं जो अपने उत्तराधिकारियों के लिये बड़ी-बड़ी रकमें छोड़ कर मरे।

फीरोज शाह वक्फ देने के मामले में भी बहुत उदार था। अपने पूर्ववर्ती बादशाहों द्वारा खत्म कर दिये गये वक्फों को उसने फिर से चालू कर दिया तथा अपने शासन के प्रारंभ के वर्षों में भी उसने बहुत से नये वक्फ दिये। इतिहासकार के शब्दों में उसके दर्बार में नित्य ही विभिन्न उम्मेदवारों को वक्फ दिये जाते थे। उसके कथनानुसार वे वक्फ भी चालू कर दिये गये जो एक सौ सत्तर वर्ष प्राचीन थे। परन्तु इसके वर्ष पहले दिल्ली में मुसलमान सल्तनत ही कहाँ थी। इसीलिये उसके वर्णन पर अधिक विश्वास करना भूल होगी। परन्तु इतना तो विश्वसनीय है कि फीरोज ने उन सभी वक्फों को मान्यता दी जो उसके पहले किसी भी मुसलमान शासक द्वारा चालू किये गये थे। उन सभी को फिर से चालू करना उसने अपना कर्तव्य समझा। इस वर्णन की पुष्टि फीरोज शाह की स्ववम् की लिखी हुई पुस्तक के एक परिच्छेद से भी होती है। बादशाह ने स्वयम् लिखा है कि उसने उन सभी वक्फ के दावादारों को अपने अपने प्रमाण व गवाह उपस्थित करने का आदेश दिया जो कहते थे कि उनको कभी वक्फ मिली हुई थी, परन्तु बाद में जब्त कर ली गयी। इस आदेश के साथ बादशाह ने प्रतिज्ञा भी की थी कि यदि प्रमाण पुष्ट हुये तो किसी को भी निराश नहीं किया जायगा। इसी काल से हम 'वक्फ' को एक प्रकार के वैधानिक अधिकार के

रूप में पाने लगते हैं परन्तु यह अधिकार स्थायी न हो सका क्योंकि मुगल बादशाहों ने इस विषय में किसी भी प्रकार के नियमों का बन्धन स्वीकार नहीं किया। उस काल में 'वक्फ' किसी का अधिकार न होकर दाता की इच्छामात्र पर निर्भर रह गया।

फीरोज के शासनकाल में हमें हिन्दू सरदारों का बहुत ही कम वर्णन मिलता है। इसके पूर्व प्रायः वे ही खेतिहारों एवम् सूबेदारों अथवा सुलतानों के मध्यस्थ हुआ करते थे। इस जमाने में देश में पूर्ण शान्ति ही रही क्योंकि इस जमाने में विद्रोहदमन के वर्णन भी प्रायः नहीं मिलते। इससे सिद्ध होता है कि इन हिन्दू सरदारों के संबन्ध सुलतान के साथ अच्छे थे। परन्तु उनकी स्थिति क्या थी इसे बताने वाला कोई वर्णन नहीं मिलता। केवल अवध के दो सरदारों के वर्णन उपलब्ध हैं। एक बार जब बादशाह बंगाल की ओर विद्रोह दमन के लिए जा रहा था तो अवध से होकर गुजरा। इस प्रान्त के दो सरदार विद्रोही हो गये थे अर्थात् उन्होंने लगान देना बन्द कर दिया था। इन में से एक गोरखपुर का सरदार (राय) था और दूसरा खरोसा का राय। पहले वे अवध के सूबेदार को लगान दिया करते थे परन्तु बाद में उन्होंने किसी को भी लगान देना बन्द कर दिया था। उन्हें जब बादशाह के उस रास्ते से जाने का समाचार मिला तो वे कर लेकर सामने आये और बादशाह को बहुमूल्य भेंट दिया (बरनी, ५८७)। उन्होंने वकाया के रूप में तो कई लाख दिया ही साथ ही भविष्य में भी पूर्वनिर्धारित लगान देते रहने का वादा किया। अपने देश में पड़ने वाले पड़ावों तक वे बादशाह के साथ रहे। उनके अधीनता प्रदर्शन के कारण सेना को बादशाह का आदेश मिला कि उनके क्षेत्र का एक भी गाँव न लूटा जाय और यदि इस क्षेत्र के कोई पशु पकड़ लिये गये हों तो उन्हें छोड़ दिया जाय। हम इस घटना को एक उदाहरण के रूप में ले सकते हैं। मुहम्मद तुगलक के समय में जब शासन ढीला हुआ तो अधिकांश सरदार विद्रोही हो गये और जब शाही सेना आ गई और उन्होंने उसका मुकाबला करने में अपने को मजबूर पाया तो अधीनता स्वीकार कर ली और पुराने इकरारनामे को फिर से नया करा लिया। परन्तु उपरोक्त वर्णन को देखते हुए यह मानना ही पड़ेगा कि अगर उन्होंने अधीनता स्वीकार न कर लिया होता तो उनके देश के गाँव लूट लिये जाते, पशु छीन लिये जाते। इसी वर्णन से यह भी पता चल जाता है कि लगान सालाना निर्धारण केवल किसानों के लिए था। सरदारों अथवा सूबेदारों द्वारा दी जाने वाली रकम आपसी समझौते द्वारा कई वर्षों तक के लिए तै कर ली जाती थी और वे सूबेदार कर के रूप में उसे भविष्य में प्रति वर्ष दिया करते थे।

अन्त में हम इस पर भी विचार कर लें कि फीरोजशाह का खेतिहारों के प्रति

क्या दृष्टिकोण था। इतिहासकारों के प्रशंसापूर्ण वर्णनों के अनुसार फीरोज शाह का भी रुख वैसा ही था जैसा गयासुद्दीन का। प्रशासन का लक्ष्य था कि खेती बढ़े तथा उपज की दर भी बढ़े। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये आवश्यक था राज्य किसानों के प्रति न्यायपूर्ण व्यवहार भी करे। अत्युक्तियों एवम् अलंकारों को छोड़ कर यदि इन इतिहासकारों का अध्ययन किया जाय तो पता चलता है कि यह नीति अमल में भी लायी जा रही थी और इसीलिये खेती की उन्नति हो रही थी और खेतिहर लोग सम्पन्नता की ओर जा रहे थे। फीरोजशाह ने खेतिहारों की उन्नति के लिए एक कदम और भी आगे बढ़ाया। उसने किसानों को सिंचाई की सुविधा बढ़ाने का भी प्रयत्न किया। उसने नहर खुदवाई। निस्सन्देह इन नहरों से उन नये नगरों की भी जलपूर्ति हो जाती थी, जिन्हें उसने बसाया था, परन्तु इसमें शक नहीं कि इन नहरों ने कृषि विकास में भी बहुत बड़ा योग प्रदान किया। शम्स अफीफ के वर्णनों से तो यही पता चलता है। उसने लिखा है कि वर्षा की ऋतु में बादशाह कर्मचारियों द्वारा इस बात का पता लगाने का प्रयास करता था कि इन नहरों के कारण जो बाढ़ आ जाती थी, उसका फैलाव कितने क्षेत्र में हुआ और जब उसे यह पता चलता था कि पानी का फैलाव देश के दूर-दूर भागों में हुआ है तो वह बड़ा प्रसन्न होता था। इसमें शक नहीं कि ये नहरें प्रारम्भिक अवस्था में थीं। इन्हें उस रूप में ग्रहण नहीं करना चाहिये जिस रूप में आज की नहरें हैं। फिर भी उनकी उपयोगिता पर सन्देह करने का कोई कारण नहीं दिखाई पड़ता। वही इतिहासकार आगे चल कर लिखता है कि (पृ० १२८) हिसार के आसपास के प्रदेश में, जहाँ केवल खरीफ की फसल पैदा होती थी वहाँ अब रबी फसल भी बोई जाने लगी और पैदावार बढ़ गई। उनके द्वारा होने वाले लाभों का अन्दाज इसी से लग सकता है कि नहरों से होने वाली लगान वृद्धि ही दो लाख हुई थी। पौने छः करोड़ टंका लगान की तुलना में दो लाख टंका की आमदनी यद्यपि नगण्य ही है परन्तु यह भी सोचने की बात है कि ये नहरें देश के छोटे से भाग में ही फैली हुई थी तथा बहुत थोड़ी से कृषि भूमि की सिंचाई इनसे सम्भव हो सकती थी। नहरों का निर्माण एक अन्य दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है, वह यह कि इतिहास में पहली बार राज्य की ओर से सिंचाई की सुविधा देना राज्य का कर्तव्य माना गया।

निस्सन्देह नहरों से सिंचाई करने वाले खेतिहारों से कुछ अतिरिक्त लगान ली गई होगी, तभी तो दो लाख की आमदनी हुई। यह लगान कैसे तथा किस दर से ली गई यह भी एक मजेदार विषय है। बादशाह ने काजियों की समिति के सामने यह प्रश्न रक्खा कि क्या प्रजा से सिंचाई का कर लेने की व्यवस्था इस्लाम में है। बहुत

तर्क वितर्क के बाद यह निर्णय मिला कि बादशाह सिंचाई कर (हकेशर्ब) * के रूप में वास्तविक लगान के अतिरिक्त और भी लगान ले सकता है और वह अतिरिक्त कर उपज का दशमांश होना चाहिये। बादशाह ने इसी दर से लगान लगाने का हुक्म दिया। इस प्रणाली का वर्णन अफीफ ने बड़ी ही तकनीकी की भाषा में दिया है और उसका अर्थ पूरी तरह समझ पाना मेरी शक्ति के बाहर है परन्तु पुराने बसे हुये गाँवों को तथा नए आबादियों (नये बसे हुये क्षेत्रों) को अलग अलग वर्गों में बाँट दिया गया था। ये नई आबादियाँ उन क्षेत्रों में थीं जो अभी-अभी नई जोत में लिये गये थे। पुराने गाँवों का सिंचाई कर तथा नये गाँवों की पूरी लगान खजाने में एक नये मद में जमा होने लगी। इस मद को बादशाह दातव्य के कार्यों में खर्च करता था।

उपरोक्त वर्णन को समझने में एक कठिनाई सामने आती है। किसानों का लगाव निर्धारण बँटाई-प्रथा से होता था, परिणाम स्वरूप प्रत्येक उपज वृद्धि के साथ लगान की मात्रा में स्वयमेव वृद्धि हो जाती थी। सिंचाई के साधन सुलभ होने से उपज में वृद्धि ही हो रही थी और इसी लिये उनसे सिंचाई का कर माँगा जा रहा था। इसके अर्थ यह हुये कि सिंचाई की सुविधा के बदले किसानों को दोहरा कर चुकाना पड़ रहा था। उपज वृद्धि से स्वयमेव लगान-वृद्धि तो होती ही थी ऊपर से सिंचाई-कर भी देना पड़ रहा था। मेरी राय में अलग से सिंचाई कर की कोई आवश्यकता ही नहीं थी। सिंचाई कर खास कर इसीलिये लिया जा रहा था कि बादशाह ने स्वयम् अपनी पूंजी लगायी थी परन्तु उपज वृद्धि से स्वयमेव उसकी आमदनी बढ़ रही थी। इस विषय को समझाने का कोई प्रयास इतिहासकारों ने नहीं किया है। परन्तु इसका वास्तविक स्पष्टीकरण तत्कालीन परिस्थितियों पर ध्यान देने से होता है। हम कह चुके हैं कि फीरोजशाह के पूरे शासन काल में एक ही 'मूल्यांकन' काम में लाया जाता रहा। अतः उपज वृद्धि होने पर भी राज्य को कोई अतिरिक्त लाभ नहीं हो रहा था क्योंकि मूल्यांकन प्रतिवर्ष के लिये एक ही था अतः सिंचाई-साधन-जनित सारा का सारा लाभ जागीरदारों को मिल रहा था। राज्य की आमदनी तो केवल रक्षित प्रान्तों से ही कुछ बढ़ रही थी। अगर ये प्रान्त भी सीरदारी पर उठे हुये थे तो भी उनकी उपज वृद्धि का सारा लाभ प्रान्तीय सूबेदार को हो मिल रहा था। बादशाह को तो

---

* हिदाया का हैमिल्टन कृत अनुवाद (iv 147)। थामस ने अपनी पुस्तक में (पृ० १७१) बताया है कि सिंचाई कर १० प्रतिशत था। परन्तु मुझे कहीं कोई ऐसा अधिकृत उल्लेख नहीं मिला जिससे मैं कह सकूँ कि सिंचाई कर किस दर से लिया जाता था।

तब तक आय के बढ़ने का कोई रास्ता नहीं था जब तक वे इकरारनामें फिर से नये नहीं किये जाते। इतिहासकारों ने इस बात का कहीं जिक्र नहीं किया है कि इस रक्षित प्रदेश के सूबेदारों को जमींन किस शर्त पर दी गई थी परन्तु अन्य वर्णनों को देखने से ज्ञात होता है कि सारे प्रान्त सीरदारी पर ही उठे हुये थे और मेरी राय में यही बात सम्भव भी थी।

बादशाह ने सिंचाई कर लगाने की व्यवस्था काजियों से प्राप्त की थी। यह कोई प्रथम घटना नहीं है। अपने शासनकाल भर फीरोजशाह की कोशिश यही रही कि सारी कार्यवाहियाँ इस्लाम के अनुसार हों। प्रशासकीय कार्यों में वह सदा इस्लाम के नियमों को मानता था विशेष कर आर्थिक विषयों में तो उसका सख्त हुक्म * था कि सल्तनत के खजाने में ऐसी एक भी कौड़ी न जमा की जाय जो इस्लाम की व्यवस्था के अनुकूल न हो। इसीलिये उसने अनेक कर बन्द कर दिये। इस प्रकार के करों में नगर-कर (Town tax) भी था, परन्तु चारगाहों को भी कर मुक्त कर देने से बादशाह का शायद यह इरादा जाहिर होता है कि गाँवों तथा शहरों के निवासियों को अधिकाधिक करों से मुक्ति मिल जाय। आगे चल कर हम देखेंगे कि मुगलकाल में अकबर तथा औरंगजेब ने भी इसी प्रकार की नीति अपनाई थी। यद्यपि फीरोज द्वारा पालन की जाने वाली कर नीति स्थायी न हो सकी फिर भी इससे बादशाह के इसी आदर्श का ज्ञान होता है कि किसानों से लगान के अतिरिक्त कुछ भी न लिया जाय।

सारांश

फीरोज शाह की मृत्यु से मुस्लिम युग का एक भाग समाप्त होता है। थोड़े ही दिनां बाद साम्राज्य नष्टभ्रष्ट हां गया तथा पन्द्रहवीं शताब्दो के पूर्वार्ध तक कोई भी ऐसा मुस्लिम शासक न रह सका जिसको बादशाह का नाम दिया जा सके। दक्षिण भारत तथा खानदेश, मालवा, बंगाल तया गुजरात सभी छोटे-छोटे स्वतंत्र राज्य ये। लाहौर तथा दिल्ली में शुत्रुता चला करती थी। इस जमाने में संगठित शासन का इतना अभाव था कि किसी प्रकार की ऐसी ग्रामीण-व्यवस्था का वर्णन करना असम्भव है जिसे सार्वदेशिक कहा जा सके। १४ वीं सदी का वर्णन समाप्त करने के पूर्व यह वांछित होगा कि खिलजी तथा तुगलक कालीन ग्रामीण-व्यवस्था के विभिन्न अंगों का संक्षिप्त विवेचन कर लिया जाय।

---

* फतूहात देखिये (iii ३३७)

अलाउद्दीन ने खेतिहरों की उपज का आधा राज्यांश (लगान) निश्चित किया था परन्तु दूसरे शासकों के जमाने में लगान की दर क्या थी, इसका वर्णन इतिहासकारों ने नहीं किया है। किन्तु यह निश्चित है कि लगान की दर अलाउद्दीन के समय में ही सबसे अधिक थी। जहाँ तक कर निर्धारण की प्रणाली का प्रश्न है, दो मत सामने आते हैं; प्रथभ तो यह मत है कि किसान नाप के हिसाब से लगान दे अर्थात् जितनी भूमि में वह जिस साल बोआई करे, उस साल में उसी भूमि की अनुमानित उपज का कुछ भाग (जो राज्य द्वारा निश्चित किया गया हो) लगान में दे दे। दूसरे मत के अनुसार यह व्यवस्था होती थी कि किसान को अपनी पूरी उपज का कुछ अंश लगान में देना पड़ता था। इसे बँटाई प्रथा में उपज पर लगान देनी पड़ती थी चाहे उपज एक ही विस्वे की हो अथवा बीस विस्वे की। विभिन्न शासकों ने जब जिस को सुविधा जनक समझा, तब उस प्रथा का सहारा लिया। निस्सन्देह शासकों के आदेश वहीं चलते थे जहाँ उनका शासन होता था। दूसरे शब्दों में सुल्तानों के आदेश का पूरा असर केवल रक्षित प्रदेशों में ही होता था। देश का अधिकांश भाग सूबेदारों के जिम्मे रहता था। ये सूबेदार लोग कभी अपने सूबे की भूमि सीरदारी में चला देते थे या कभी सरदारों द्वारा इनका प्रबन्ध करते थे। अपने क्षेत्र में अपनी सुविधानुसार व्यवस्था प्रचलित करने में वे सूबेदार लोग न्यूनाधिक स्वतन्त्र रहते थे। अतएव किसी भी प्रथा के विषय में यह कहना भ्रमपूर्ण होगा कि अमुक समय में अमुक व्यवस्था समूचे देश में प्रचलित थी। उससे अधिक सही तो यह है कि उपरोक्त दोनों ही प्रकार की व्यवस्थायें देश के विभिन्न भागों में एक साथ ही प्रचलित रहती थीं। जब जिस प्रबन्धक को (सुल्तान से लेकर चौधरी व मुखिया तक) जिस प्रथा में सुविधा जान पड़ती थी, तब वही प्रथा प्रचलित हो जाती थी। इन दोनों व्यवस्थाओं में से न तो कोई व्यवस्था कभी सार्वजनिक ही हो सकी और न सम्पूर्ण रूप से समाप्त ही। हाँ इन स्थानीय विभिन्नताओं के बावजूद जागीरदारी की प्रथा किसी न किसी रूप में सदा ही प्रचलित रही और इस प्रथा की प्रधानता के कारण कर निर्धारण कभी एक रूप न हो सका। बादशाह को प्रायः इतने से ही मतलब रहता था कि जागीरदार अपनी निर्धारित खिदमत करता जा रहा है अथवा नहीं। उसे इस बात से कोई विशेष मतलब नहीं रहता था कि जागीरदार अपनी जागीर में किस व्यवस्था को प्रचलित रख रहा है। जागीरदार को भी केवल इसी से मतलब रहता था कि उनकी लगान येन केन प्रकारेण वसूल हो जाय। वसूली के लिये कौन व्यवस्था सिद्धान्ततः अधिक सही है इसकी पर्वाह न करके वे यही सोचते थे कि व्यवस्था सिद्धान्ततः अच्छी हो या न हो परन्तु उसे सुविधापूर्ण होना चाहिये। सुविधा से उनका तात्पर्य अपनी

ही सुविधा से होता था न कि खेतिहरों की सुविधा से। अब दूसरा प्रश्न है लगान की मांग (Demand) का, अर्थात् सल्तनत किस रूप में किसानों से लगान की मांग करती थी, गल्ले के रूप में अथवा सिक्कों के रूप में। अलाउद्दीन खिलजी ने आदेश दिया था कि अमुक-अमुक क्षेत्रों से लगान गल्ले के रूप में ली जाय इसके मतलब यह हुये कि उस समय तक लोग सिक्कों के रूप में भी लगान देते थे। इन दोनों रूपों में न तो कोई रूप सार्वदेशिक था और न सर्वकालीन। जिस प्रबन्धक को जिस रूप में सुविधा होती थी उसी रूप में वह किसानों से लगान की माँग करता था। प्रत्येक सरदार व जागीरदार व अन्य मध्यस्थ की माँग एक ही रूप में कभी न हुई। जब जिसने जैसी सुविधा देखी तब उसने उसी रूप में लगान की माँग की।

जिस प्रकार की भूमि का स्वामित्व वर्तमान किसानों को प्राप्त है उस प्रकार के स्वामित्व की बात उस समय सोची भी नहीं जा सकती थी। किसी भी इतिहासकार ने इस प्रकार का कोई भी संकेत नहीं दिया है, जिससे यह पता लग सके कि उसमें किसी प्रकार की भी स्वामित्व की व्यवस्था थी भी या नहीं। इतना ही नहीं राजा प्रजा किसी में भी किसानों के स्वामित्व की भावना का जन्म भी हुआ था, इसका भी पता नहीं चलता। किसानों, सरदारों इत्यादि सभी का स्वामित्व सुलतान की इच्छामात्र ही पर निर्भर था। चूंकि दिल्ली की गद्दी पर एक के बाद दूसरे विपरीत स्वभाव वाले सुलतान बैठते रहे और जिनका अधिकार केवल शक्ति पर ही आधारित रहता था अतः 'राजा की इच्छा' को एकदम वास्तविक अर्थ में ही लेना चाहिये। सब से दृढ़ व्यवस्था उस समय में उन वक्फों की मानी जाती थी जो धार्मिक संस्थाओं या कोषों को दिये जाते थे। इन वक्फों की स्थिति बहुत कुछ स्वामित्व की ही भाँति थी परन्तु उन्हें भी बादशाह कलम की नोक घुमाकर या कभी जुबान मात्र घुमाकर जब चाहे तब तोड़ सकता था। इन वक्फों के प्रति जो उदारनीति फीरोज तुगलक ने दिखलाई, उससे स्वामित्व की भावना विकसित सी होती दिखाई पड़ी, परन्तु वह नीति आने वाले समय में स्थायी न हो सकी। जहाँ तक किसानों के स्वामित्व का प्रश्न है वहाँ तक तो हिन्दू काल की यही भावना काम कर रही थी कि भूमि का जोतना किसान का कर्तव्य है, अधिकार नहीं। यह कर्तव्य भी है केवल किसान का और सो भी राज्य के प्रति। उपरोक्त भावना का परिचय जब तब मिला भी करता था जब राजा किसी की सौ पचास वर्षों से जोती गई भूमि को जबान हिलाकर दूसरों को दे देता था। सरदारों की स्थिति पर राजनीति का प्रभाव अधिक होता था न कि किसी विधान का। उनकी स्थिति उनकी शक्ति राजा की शक्ति के संतुलन पर निर्भर करती थी। सामान्य रूप से उनका स्वामित्व तब तक स्थायी

ही रहता था जब तक वे अपनी निर्धारित लगान नियमित रूप से देते रहते थे। यदि इसमें कभी त्रुटि हुई अर्थात् लगान न दी गई तो परिस्थिति के अनुसार वह मामला (जिसे विद्रोह कहते थे) या तो शक्ति से सुलझा लिया जाता था या कूटनीति से।

गाँवों की आन्तरिक व्यवस्था क्या थी इस पर सभी इतिहासकार मौन हैं। उस समय बादशाह ही इतिहासकारों के नायक होते थे अर्थात् इतिहास में उन्हीं बातों का उल्लेख किया जाता था जो राजा या राजवंश से सम्बन्धित होती थीं। खेतिहरों का चूंकि राजा से प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं के बराबर था इसीलिये किसानों की ओर इतिहासकारों का ध्यान आकर्षित ही न हो सका। उनके लेखों में एक वाक्य या वाक्यांश भी ऐसा नहीं है जिससे गाँवों की आन्तरिक व्यवस्था की कुछ जानकारी प्राप्त की जा सके। यत्र तत्र मुखियों तथा चौधरियों के 'हक' की बात अवश्य सामने आती है या कभी कभी गाँवो के लेखा का उल्लेख हुआ है। इनके अतिरिक्त गाँवों के अधिक उल्लेख करने की आवश्यकता ही उन्हें नहीं जान पड़ी। परन्तु गाँवों की कोई व्यवस्था थी ही नहीं ऐसा सोच लेना भ्रम पूर्ण हो सकता है। बाद में हमें ऐसी बातें मिलती हैं जिनसे हमें गाँवों की व्यवस्था के अति प्राचीन होने का सुदृढ़ प्रमाण मिलता है। यह बात अविश्वासनीय है कि वह व्यवस्था बीच की शताब्दियों में बनी होंगी। इस बात को मान लेने का पर्याप्त कारण है कि मुस्लिम युग के बहुत पहले ही उनकी व्यवस्था को स्थायित्व मिल चुका था। अधिक अच्छा तो यह है कि हम इतिहासकारों की चुप्पी का यह अर्थ निकाल लें कि तत्कालीन गाँवों की व्यवस्था इस प्रकार की थी कि उनके द्वारा राजाओं को कभी किसी प्रकार की उलझन का सामना नहीं करना पड़ा। मुसलमान शासकों के सामने सूबेदारों की समस्यायें थीं, सरदारों जागीरदारों, सीरदारों तथा वक्फदारों की भी समस्यायें उलझन पैदा करती थीं परन्तु गाँवों की आन्तरिक व्यवस्था ने सुल्तानों के सामने ऐसी कोई गम्भीर उलझन ही नहीं पैदा किया जिन्हें इतिहास में स्थान पाने के लिए पर्याप्त महत्वपूर्ण समझा गया होता। बादशाहों की सारी समस्यायें किसानों तथा बादशाहों के मध्यस्थों द्वारा पैदा होती थी। किस सरदार के नियंत्रण में कितनी भूमि रहेगी इसका कभी भी ठीक ठीक निश्चय नहीं किया जा सका। अलाउद्दीन खिलजी के परिवर्तनों के ढीले हो जाने पर सरदारों की स्थिति पर्याप्त अच्छी हो गयी तथा उनका स्वामित्व उस समय तक के लिए तो स्थायी सा हो गया जब तक वे अपने ऊपर निर्धारित की गयी लगान नियमित रूप से देते रहें। तब तक स्थानीय अधिकारियों से उनका मित्रतापूर्ण या कम से कम सद्भावना पूर्ण व्यवहार तो बना ही रहता था। परन्तु सामान्य रूप से शक्ति-

शाली सुल्तान के सामने सरदारों की स्वामित्व भावना कभी भी सुरक्षित नहीं होती थी।

आज सफल खेती का आधार है 'अपनी भूमि पर किसानों का स्वामित्व'। परन्तु उस समय की स्थिति क्या थी, इस विषय पर इतिहासकार मौन हैं। नदी-प्रदेश में घटित घटनाओं से यह पता चलता है कि खेतिहरों के स्वामित्व को किसी प्रकार की मान्यता नहीं दी जाती थी। उनकी भूमि छीनी जा सकती थी, निर्धारित लगान न देने या न दे सकने पर या तो उनकी भूमि ही छिन जाती थी या वे स्वयम् फरार हो जाते थे। परन्तु इतिहासकारों ने इस बात का भी कोई संकेत नहीं किया है कि बेदखली कैसे होती थी। इस बात का प्रमाण अवश्य मिलता है कि उस समय प्रदेश में ऐसे अनेक भूमिखण्ड थे जो उपजाऊ थे पर जोत में न थे। वे इस प्रतीक्षा में थे कि कोई भी साधनपूर्ण खेतिहर आकर उन्हें अपनी जोत में ले ले। ऐसी दशा में किसी को भूमि से बेदखल करने का कोई मतलब भी नहीं था। बेदखली का महत्व तो तब होता है जब बेदखल व्यक्ति को फिर जमीन ही जोतने को न मिल सके। तत्कालीन शासकों के सामने मुख्य समस्या तो यही थी कि किस प्रकार देश की अधिकाधिक भूमि को जोत में लिया जाय। उपजाऊ भूमि की बहुतायत थी, जोतने वाले कम थे, अतः बेदखली व्यर्थ की बात हो जाती थी। ऐसी दशा में उनसे अधिक लगान या कोई भी अतिरिक्त कर माँगने का दुस्साहस भी न कर सकता था क्योंकि एक के अधिक कर माँगने या दुर्व्यवहार करने पर खेतिहर लोग सरलता से दूसरे स्थान पर जाकर बस सकते थे और अति सरलता से मनमानी भूमि जोतने को पा सकते थे। यही कारण है कि उनसे अत्यधिक लगान माँगना किसी के हक में अच्छा न होता था। इतिहासकारों के वर्णनों में ऐसी सामग्री बहुत सी कम है जिसके द्वारा कृषक वर्ग की सही स्थिति का सही पता चल सके। जो कुछ यत्र तत्र प्राप्त हैं उनसे यही पता चलता है कि सामान्य स्थिति में (जब युद्ध न चालू हों) किसानों का जीवन सुख शान्ति पूर्ण ही रहता था। किसान अपने गाँव में मनमानी भूमि पा सकता था। अपनी शक्ति एवम् साधन योग्य भूमि यह जोतता था, शान्तिपूर्वक रहता था और अपने मजदूरों को भी काम में लगाये रखता था। यदि मौसम अच्छा चलता रहता था और शासन कोई उलझन नहीं डालता था तो गाँवों की सामान्य दशा क़ायम रहती थी। शासन द्वारा उलझन पैदा किये जाने की स्थिति में तथा दैवदुर्विपाक से फसल खराब हो जाने की स्थिति में किसान अपनी भूमि छोड़ छोड़ कर अन्यत्र चले जाते थे जहाँ उनकी जीविका सुलभ थी। बाद में अच्छे समय आने पर ये गाँव फिर से आबाद हो जाते थे, या तो पुराने निवासी ही फिर लौट आते थे

या नये लोग आकर वहाँ बस जाते थे और फिर इस प्रकार उस गाँव के इतिहास का नवीन चक्र आरम्भ होता था।

बादशाहों की जो घोषणायें इतिहासकारों द्वारा लेखबद्ध की गयी है उनसे इस बात की पुष्टि होती है कि उस समय देश में ऐसी भूमि का आधिक्य था जो उपजाऊ थी और जोती नहीं जा रही थी। देश में शक्ति चवम् साधन पूर्ण किसानों की कमी थी। इसी लिए अधिकांश बादशाहों की कृपिनीति यही रही कि किसी प्रकार अधिक से अधिक भूमि को जोत के अन्दर लाना चाहिये। प्रशासकीय दबाव के अतिरिक्त इस लक्ष्य प्राप्ति के लिये दो ढंगों के अपनाये जाने का प्रमाण मिलता है। प्रथम तो खेतिहरों को सिंचाई की सुविधा देना था; जिसका इस्लाम में स्पष्ट निर्देश है। इस्लाम के अनुसार राजा को ऐसा कुछ करना चाहिये कि देश की ऊसर भूमि भी उपजाऊ बन सके। कहने की आवश्यकता नहीं कि फिरोज शाह अकेला बादशाह था जिसने इस दिशा में (चाहे जिस कारण से भी) कोई कदम उठाया। शाहजहाँ के पहले फिर इस प्रकार के किसी कदम का कोई भी प्रमाण नहीं मिलता। दूसरा ढंग था किसानों को अग्रिस धन देना जिससे वे हल, बैल तथा खेती के अन्य साधन जुटाकर नयी भूमि में खेती करना प्रारम्भ कर सकें। नदी-प्रदेश को फिर से बसाने के लिये मुहम्मदतुगलक ने इस प्रकार का ढंग अपनाया था। परन्तु ऐसा मालूम होता है कि बादशाहों के इस ढंग से लोग पहले भी परिचित थे। यह बात भी निर्विवाद है कि खेती की मूल समस्या 'पूंजी' की कमी थी। बिना यथावश्यक पूंजी के खेती का विकास असम्भव था। परन्तु इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि राज्य द्वारा दिया जाने वाला अग्रिम धन अधिकांश में कर्मचारियों द्वारा ही गबन कर लिया जाता था और वह बहुत थोड़ी मात्रा में किसानों के हाथ लग पाता था जिसका परिणाम यह होता था कि इसका लाभ भी सीमित ही होता था। फसलों में सुधार करने के लिये (प्रति बीघा फसल की उपज बढ़ाने के लिये) राज्य द्वारा किये गये किसी भी प्रयत्न का उल्लेख किसी भी इतिहासकार ने नहीं किया है। सम्भव है कि शासकीय दबाव के अतिरिक्त धन देना भी काम में लाया जाता रहा हो; परन्तु यह अन्दाज ही है प्रामाणिक नहीं। हमें बादशाहों एवम् कर्मचारियों की महत्वाकांक्षा का वर्णन ही अधिक प्राप्त है, शेष बातों का तो अनुमान ही लगाना पड़ता है।

———

तीसरा अध्याय

सैयद तथा अफगान वंश

फीरोज शाह से बाबर तक (१३८८-१५२६)

पन्द्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में दिल्ली में फीरोज तुगलक के उत्तराधिकारी लोगों का शासन रहा, उसके पश्चात् थोड़े दिनों तक सैय्यद वंश के लोग सुल्तान रहे। इस शताब्दी का एक मात्र ग्रंथ है 'तारीखे मुबारकशाही' * जो पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्यकाल में लिखा गया है। इस ग्रंथ के अध्ययन से ऐसा प्रतीत से होता है जैसे इसके लेखक को ग्रामीण-व्यवस्था के तनिक भी रुचि नहीं थी। वह विषय में जो कुछ भी लिखा गया है उससे तत्कालीन ग्रामीण-व्यवस्था के समझने में तनिक भी मदद नहीं मिलती। इस चुप्पी का मतलब यह भी हो सकता है कि लिखने योग्य कुछ अधिक रहा ही न हो, क्योंकि इतिहासकारों की दृष्टि सर्वदा नवीन बातों पर ही पड़ती है। जो बात परम्परा से चली आ रही होती है उस पर दृष्टि का न पहुँचना स्वाभाविक ही है। सल्तनतें छोटी ही थीं। अधिकांश सूबे राज्य से निकल चुके थे। हिन्दू सरदार सदैव विद्रोह करने को तैयार रहते थे। फीरोज के शासन में राजनीति धर्म के पीछे-पीछे चला करती थी इससे हिन्दू लोग नाराज रहा करते थे। मु० तुगलक की अव्यवस्थित नीति, फीरोज की धर्मान्धता अनावश्यक उदारता शासनतंत्र को अरुचिकर बनने के लिये पर्याप्त सिद्ध हो चुके थे। १४वीं शताब्दी के अन्त में तैमूरलंग के आक्रमण ने साम्राज्य को नष्ट

* इस पुस्तक का अधिकांश इलियट के ग्रन्थ में अनुवादित हुआ है। मैंने इलियट की मूल्य प्रति का ही सहारा लिया है। डॉसन ने इलियट की मूल लिपि में कुछ स्थान खाली पाया था। मूल लिपि में यह दोष नहीं है। जहाँ तक मेरी राय का प्रश्न है मैं समझता हूँ कि यह अन्तर लिपिकारों के कारण पैदा हुआ है। स्वयम् डॉसन ने माना है कि उसकी प्रतिलिपि के अक्षर तो सुन्दर हैं परन्तु वह त्रुटियों से पूर्ण है।

भ्रष्ट कर दिया था साम्राज्य की सीमा संकुचित हो गयी थी। मुसलमान सूबेदार भी अनुशासनहीन हो रहे थे। उपरोक्त ग्रंथ में अधिकांश वर्णन बादशाह की विद्रोह दमन हेतु की गयी यात्राओं के सम्बन्ध में है। कभी वह लगान वसूल करने के लिये सेना के आगे-आगे चलता था। कभी लगान न देने वालों को और कभी विद्रोह कर देने वालों को दण्ड देने के लिये बादशाह को इधर से उधार दौड़ना पड़ता था, कभी वह गुजरात की ओर लगान वसूल करने जा रहा है। सरदार ने लगान दिया तो दिया नहीं तो दण्ड का भागी हुआ या भाग गया। कभी वह बदाऊँ की ओर बढ़ता है और उसका सूबेदार या तो सामने आकर नजर भेंट देकर क्षमा प्रार्थी रहा है या अपने को किले में बन्द करके आने वाले परिणाम की प्रतीक्षा कर रहा है तब उसे पूरे विद्रोही की संज्ञा दी जाती थी। आश्चर्य की बात यह है कि इस प्रकार की यात्राओं में सरदारों तथा सूबेदारों में कोई अन्तर नहीं माना जाता था। समान अपराध के लिये समान दण्ड की व्यवस्था थी। इस समय की राजनैतिक अवस्था करीब करीब-करीब वैसी ही थी जैसी हम आगे चलकर अठारहवीं शताब्दी में पाते हैं जब कि तमाम पद तथा अधिकारक्षेत्र 'तालुकों' में बदल गये थे जहाँ किसी सूबेदार या सरदार, या जागीरदार अथवा सीरदार ही वहाँ का सर्वेसर्वा बन बैठा था और अपने को स्वतंत्र समझने को स्वतंत्र था। न तो किसी भी प्रकार का अनुशासन था और न किसी भी प्रकार की व्यवस्था ही थी।

उपरोक्त कुव्यवस्थापूर्ण परिस्थिति में यह एक प्रकार से असम्भव ही था कि किसी प्रकार की ग्रामीण-व्यवस्था का उद्भव व विकास होता। शासन तन्त्र इतना निर्बल था कि उधर से किसी नवीन ग्रामीण-व्यवस्था का प्रचलन तो असम्भव ही था, प्रचलित व्यवस्था में परिवर्तन भी अधिक सम्भव नहीं था, क्योंकि किसी भी व्यवस्था को प्रचलित करने के लिये अथवा प्रचलित व्यवस्था में परिवर्तन करने के लिये सुदृढ़ शासन की उतनी ही आवश्यकता है जितनी उसके स्थायी होने की। शासन-तन्त्र की अस्थिरता किसी भी प्रथा को चिरस्थायी नहीं बनने देती। विभिन्न शाशक विभिन्न नीति अपनाते हैं तथा विभिन्न व्यवस्थायें भी चलाते हैं और विवश होकर खेतिहरों को उनकी बात माननी ही पड़ती है। शासक का मत ही उनकी नीति होती है। देश जिस परिस्थिति से गुजर रहा था उसमें न तो 'बँटाई' की प्रणाली ही काम दे सकती थी और न 'नाप' की प्रणाली ही। अतः मेरी राय में उस समय 'सामूहिक निर्धारण' (Group Assessment) ही सर्वाधिक उचित व्यवस्था होती। अनुमान से आगे बढ़ने का कोई साधन ही नहीं मिलता।

यत्र तत्र कुछ ऐसे भी वर्णन* मिलते हैं जिनसे यह पता चलता है कि जागीरदारी की व्यवस्था उस काल में भी थी। इससे अधिक तो कोई भी तत्सम्बन्धी बात नहीं लिखी मिलती।

सन् १४५१ ई० में सैयद वंश के लोगों के हाथ से राजसत्ता निकल कर अफगान वंशीय लोदियों के हाथ में आ गयी। लोदियों के शासनकाल में दिल्ली फिर पुराने शान व शौकत की ओर लौटने लगी। उनकी सल्तनत का प्रसार भी हुआ। लोदी सुल्तानों ने दिल्ली की खोई प्रतिष्ठा को फिर से स्थापित करने का प्रयत्न किया। विद्रोही अमीरों को दबा कर आन्तरिक झगड़ों को शांत किया। एक के बाद एक उन्होंने जौनपुर, कालपी, धौलपुर तथा बिहार तक सल्तनत को फैलाया तथा इस प्रकार देश में पुनः राजनैतिक एकता स्थापित हुई। सिकन्दर लोदी की धार्मिक असहिष्णुता तथा उसके पुत्र इब्राहीम लोदी के अभिमान ने पुनः लोगों में असन्तोष फैलाना प्रारम्भ कर दिया था। दक्षिण का समूचा प्रान्त स्वतंत्र ही था परन्तु बंगाल को छोड़ कर शेष उत्तरी भारत पर उनका दबदबा था। लोदी कालीन इतिहास का ज्ञान प्राप्त करने के लिये किसी भी समकालीन इतिहास कार का पता नहीं चलता। बाद के लिखे गये कुछ लेख† मिलते हैं परन्तु वे भी सन्तोषप्रद नहीं हैं। इन्हीं लेखों से पता चलता है कि जागीरदारी ही उस काल की सर्वाधिक महत्वपूर्ण व्यवस्था थी। ये जागीरें अब उस शकल में आ गयी थीं जैसे आगे चल कर मुगल काल में देखने को मिलती हैं। इस समय जागीरदारों को केवल शाही खिदमत की ही पूर्ति नहीं करनी पड़ती थी वरन उन्हें बादशाह को वक्त जरूरत काम देने के लिए अपने खर्चे से फौज भी रखनी पड़ती थी। इस प्रकार की व्यवस्था में अवश्य ही जागीरों की संख्या कम होगी, हाँ उनका क्षेत्र अवश्य ही बड़ा होता रहा होगा। बहलोल लोदी वंश का संस्थापक था।

---

* यह कहा गया है कि (इलियट, ५वाँ भाग ७१, ७५) लोदी परिवार पहले सैयद बादशाहों के जागीरदार ही थे।

† 'तारीखे दाऊदी' जहाँगीर के शासन काल से शुरू होती है, 'तारीखे सलातीन' अकबरी शासन के उत्तरार्द्ध से प्रारम्भ होती है तथा 'मखजानये अफगानी' सन् १६१२ ई० में खतम होती है। पहली दोनों पुस्तकों के इलियट द्वारा किये गये अनुवाद पर तथा तीसरी के लिये मिस्टर डार्न द्वारा किये गये अनुवाद पर निर्भर रहना पड़ा है।

उसकी सारी सत्ता जागीरदारी पर ही मुनहसर थी। लोदी वंश द्वारा दी गई जागीरों का क्षेत्र अवश्य ही फीरोज कालीन जागीरों की तुलना में बहुत बड़ा था शायद इसी से दूर दूर देशों के अफगान सरदार भारत की ओर आकर्षित हुये तथा इन जागीरों को स्वीकार करके उन्होंने लोदियों की शक्ति बढ़ाया। बड़ी बड़ी जागीरों के मालिक भी अपने सेवकों तथा कर्मचारियों को छोटी बड़ी जगीरें (अपनी जागीर में से ही) उसी शर्त पर दे दिया करते थे जिस शर्त पर खुद उन्होंने बादशाह से पाया था। इसी प्रकार जागीर के अन्दर जागीर की व्यवस्था पूरे देश में प्रचलित थी। बादशाह के निजी खर्च के लिए रख लिये गये रक्षित * प्रदेश को छोड़ कर शेष सारा देश इसी प्रकार की जागीरदारी की व्यवस्था से शासित होता था। वेतनभोगी कर्मचारी तो नहीं के बराबर थे।

अफगान सरदारों का इन जागीरों के प्रति कैसा रुख था इसका पता इसी तथ्य से चलता हैं कि एक बार उन्होंने बादशाह पर यह दबाव डाला कि इन जागीरों को पैत्रिक सम्पत्ति के समान बना दिया जाय, ताकि ये जागीरें उनकी वंशगत सम्पत्ति समझी जायँ और उनकी मृत्यु के बाद उनके उत्तराधिकारियों में बँट जाया करें। बादशाह ने इस पर निर्णय दिया कि इन जागीरों को व्यक्तिगत सम्पत्ति से हमेशा अलग रक्खा जायगा। व्यक्तिगत सम्पत्ति व्यक्ति की मृत्यु के बाद उसके उत्तराधिकारियों को मिल जायगी, परन्तु नौकरियाँ चूंकि वंशगत नहीं हो सकतीं (यह मुमकिन नहीं कि सेनापति का लड़का ही सेनापति हो) अतः इन नौकरियों के वेतन रूप में मिली जागीरें भी वंशगत नहीं हो सकतीं। उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि उस वक्त खेतिहर लोग इन्हीं जागीरदारों से प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित थे और सल्तनत का सारा कार्य जागीरदारों के बल पर ही होता था। इसीलिए इस सम्बन्ध में शाही आदेशों का वर्णन भी इतिहासकारों ने नहीं किया है। जहाँ तक प्रयत्न संभव था वहाँ तक जाकर भी केवल इब्राहिम लोदी के एक आदेश का ही उल्लेख मिलता है जिसमें उसने कहा था कि 'आगे से लगान केवल गल्ले † के ही रूप में ली जाया करेगी।'

इस आदेश के कारण भी मजेदार हैं और जितने दिनों तक यह आदेश लागू रहा वह भी। इतिहासकार का कहना है कि पिछले कई वर्षों से फसल अप्रत्याशित

---

* देखिये इलियट चौथा भाग पृ० ४१० व पाँचवां भाग ७५

† देखिये इलियट चौथा भाग पृ० ३२७ व ४७६

रूप से अच्छी हो रही थी अतएव माँग की कमी के कारण भाव बहुत नीचे आ गये थे। चीजें सस्ती हो गयी थीं या यों कहें कि सिक्के महँगे हो गये थे, परन्तु थोड़ा ध्यान देने से ही पता चल चल जायगा कि यह सस्ती गल्ले की अधिकता के कारण उतना नहीं हुई थी जितना सिक्कों की कमी के कारण। सोना चाँदी इत्यादि बहुमूल्य धातुयें अप्राप्य सी हो गयी थीं। यह सस्ती हर प्रकार की चीजों में आ गयी थी, हाँ सोना तथा चाँदीं अवश्य ही महँगे हो रहे थे। उनका पाना अत्यन्त कठिन हो रहा था। इसे इस प्रकार भी कह सकते हैं कि सोने चाँदी की माँग बढ़ गयी थी। इसका एक स्पष्टीकरण और भी हो सकता है कि उत्तरी भारत का व्यापार गिर जाने के कारण कीमती धातुओं की आमद ही कम हो गई थी। तात्पर्य यह है कि बाहरी देशों से उत्तर भारत का व्यापार अत्यधिक घट गया था इसीलिये देश में सोने चाँदी का अत्यधिक अभाव हो गया था। सोने चाँदी की आमद बाहर देशों से बंगाल तथा गुजरात के बन्दरगाहों द्वारा हुआ करती थी जब तक इनमें से एक या दोनों दिल्ली सल्तनत में रहते थे तब तक देश के किसी भी भाग में इन वस्तुओं का अभाव नहीं हुआ और इसीलिये सुदूरस्थ सूबों से लगान भी सिक्कों के रूप में आया करती थी। जब विद्रोह या अराजकता के कारण ये दोनों साधन बन्द हो जाते थे तो उत्तर भारत में चारों ओर इनका अभाव ही अभाव हो जाता था और प्रायः सारा का सारा ही व्यापार ठप हो जाया करता था। इधर करीब एक सौ वर्षों से दिल्ली सल्तनत का इन प्रदेशों पर अधिकार ही नहीं था अतः खजाने में लगान के रूप में अत्यधिक कम सिक्कों का आना स्वाभाविक ही था। यह आदेश कब तक लागू रहा, इसका पता नहीं चलता। आगे चल कर हम देखेंगे कि अकबर के शासन काल में सिक्कों के रूप में लगान देने की व्यवस्था थी परन्तु यह पता नहीं चलता कि सिक्कों में लगान देने की व्यवस्था का प्रारम्भ फिर कब से हुआ।

यह तो सभी जानते हैं कि लगान निर्धारण तथा लगान वसूली ये दो भिन्न कार्य हैं। ऐसा प्रतीत होता है जैसे इन जागीरदारों को दोनों प्रकार के कार्यों को करने के लिए पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त थी। कोई भी अंकुश उन पर नहीं होता था। बिना इस बात को (सिद्धान्ततः और प्रयोगतः भी) माने हुए फरीद खाँ के कामों को समझने में पूरी अड़चन पड़ती है। फरीद खाँ एक अफ़गान था तथा उसका बाप इब्राहीम सूर जौनपुर के जागीरदार का जागीरदार था। अपने कार्यों या भाग्य से वह इतना प्रभावशाली हो गया कि उसने मुगल राज्य का भारतवर्ष से नाम तक मिटा दिया और खुद शेरशाह के नाम से गद्दी पर बैठा। प्रारम्भ में उसके बाप को दो गाँव

जागीर में मिले थे। शेरशाह ने अपना जोवन इन्हीं दो गाँवों के उत्तम प्रबन्धक* से प्रारम्भ किया। उसका सोचना था कि प्रबन्ध न्यायपूर्ण हो जाय तो प्रजा अवश्य उन्नति कर सकती है। उसको किसानों के ही उपज का अंश लगान में मिलता था अतः उसकी आमदनी तभी बढ़ सकती थी जब उसकी जागीर के किसानों की आमदनी बढ़े। बिना खेती में सुधार हुये प्रजा कैसे खुशहाल हो। उसने देखा था कि देश का कुछ भाग खेतिहर के हाथ में है तथा शेष भाग सरदारों के हाथ में। उसका विचार था कि खेतिहरों को सम्पन्न बनाने से राज्य की उन्नति होगी परन्तु सरदारों को सम्पन्नता प्राप्त होने पर सल्तनत पर हो खतरा बढ़ता है।

किसानों को स्थिति में सुधार लाने के लिए फरीद ने कई कार्य किये। उसका पहला कदम तो यह हुआ कि कर निर्धारण राजा की इच्छा से न होकर प्रजा की इच्छानुसार हो। माँग राजा की इच्छानुसार अवश्य हो, अर्थात सुल्तान अपनी नोति घोषित करे कि उसे उपज का कौन सा भाग चाहिये, पर यह निश्चय करने की स्वतंत्रता खेतिहरों को दो गयी कि वह बतायें कि उस पर लगान नाप प्रणालो द्वारा लगायी † जाय या बँटाई प्रणालो द्वारा। खेतिहर लोग इस पर एकमत नहीं हो सके। कुछ ने पहली प्रणालो को पसन्द किया तथा दूसरों ने दूसरो प्रणाली को अच्छा बताया। फरीद ने व्यवस्था दी कि जो किसान जैसा चाहे उस पर वहो प्रणाली अपनायो जाय। इसका निश्चय हो जाने के बाद उसने इस बात का प्रयास किया कि खेतिहरों को चौधरी, तथा मुखिया या मुकद्दम के हाथों से मुक्त किया जाना चाहिये। कहने को आवश्यकता नहीं कि इस समय तक मुखिया के बदले मुकद्दम शब्द हो प्रयोग में आने लगा था। चौधरी परगने का प्रधान था तथा मुकद्दम गाँव का। पिछले अध्याय में हमने देखा है कि अलाउद्दीन ने भी यह सोचा था कि किसानों को मुखियों के जुल्म से मुक्त किया

* फरीद की कार्यवाहियाँ इलियट की इतिहास की किताब में दी गयी हैं। ये बातें 'तारीखे शेरशाही' से ली गई हैं। इस ग्रंथ को परिभाषा प्रवाहमय है। फरीद ने कितने दिनों तक अपने बाप की जागीर का देखभाल की इसका कोई ठीक पता नहो चलता, परन्तु यह बात अवश्य ही सिकन्दर लोदी के समय की है। उसके शेष प्रारम्भिक जीवन की तारीखों का निश्चय नहीं हो पाता।

† इस समय से हमें कर निर्धारण में नये-नये नाम देखने को मिलते हैं। नाप के लिए 'जरीब' तथा बँटाई के लिये 'किस्मते गल्ला' शब्द मिलते हैं। प्रोफेसर कानूनगो की पुस्तक में कुछ अन्तर मिलते हैं जिन्हें रायल एशियाटिक सोसायटी के जर्नल (१७२६, पृ० ४४७) में स्पष्ट कर दिया गया है।

जाय, क्योंकि इसी व्यवस्था के कारण सबलों का बोझ निर्बलों के कन्धों पर आ पड़ता था। फरीद ने भी मुकद्दमों तथा चौधरियों से कहा कि वह जानता है कि वे खेतिहरों को परेशान करके उनसे नाजायज रकम लेते हैं और इस प्रकार वे ऐसा काम करते हैं जो न्याय की दृष्टि में अपराध है। इस भ्रष्टाचार को दूर करने के लिये उसने मुकद्दमों के कार्य के लिये (वे 'प्रति खेतिहर को कितना लगान देना चाहिये' यही निश्चय करते थे) उनका पारिश्रमिक निश्चय कर दिया। अब इस प्रकार यह निश्चय हो गया कि लगान निर्धारण के लिये तथा लगान वसूली के लिये मुकद्दमों एवम् चौधरियों को अलग से कुछ मिला करेगा; निर्धारण चाहे बँटाई द्वारा हो या नाप द्वारा। यदि हम इतिहासकार की बातों को ज्यों की त्यों मान लें तो यह कहना ही पड़ेगा कि फरीद ने अपनी नीति घोषित कर दी। (यह इतिहासकार इस बात का शौकीन मालूम पड़ता है कि वह नायक द्वारा लम्बे भाषण दिलवाये) इस नीति के अनुसार मुकद्दम को अब निश्चित शुल्क अपने कार्यों के लिये मिलने लगा। यह शुल्क प्रत्येक फसल पर मिल जाया करता था। इस प्रकार का लगान निर्धारण यद्यपि नाप-प्रणाली पर अवलम्बित था फिर भी उसमें प्रति खेतिहर की उपज का पूरा पूरा ध्यान रखना पड़ता था। परन्तु चूंकि बादशाह की माँग निश्चित थी अतः वसूली सख्ती से ही की जाती थी। इन बातों को तै करने के बाद उसने उन सभी खेतिहरों की सनदों को खत्म कर दिया जिनमें उनके स्वामित्व की बात प्रामाणिक रूप से लिख दी गई थी।

कुछ गाँवों के खेतिहरों ने इसे पसन्द नहीं किया क्योंकि इसके मान लेने से उनकी स्थिति एकदम मजदूर की सी हो रही थी। वे इस व्यवस्था को मानने से इन्कार करने लगे कि सारा स्वामित्व जागीरदार के हाथ में रहे और वह जब किसान को चाहे तब उसे उसकी भूमि से बेदखल करके वह भूमि दूसरे को दे दे। फरीद ने बड़ी सख्ती का बर्ताव किया। खेतिहरों के इस विरोध का दमन करने में वह बहुत कठोर हो उठा। विरोध करने वाले गाँवों को उसने लूट लिया तथा किसानों को हवालात में डाल दिया। वे तब तक वहीं पड़े रहे जब तक कि गाँव के मुकद्दमों ने मिल कर, उसके सामने उपस्थित होकर भविष्य में किसानों के अच्छे चालचलन एवम् व्यवहार की जमानत न ली। गाँवों के खेतिहरों के साथ तो उसने इतना ही किया, किन्तु जिन सरदारों ने विद्रोह कर दिया था उनकी तो उसने बड़ी दुर्गत की। उसने न केवल उनके हक को ही खतम कर दिया बल्कि उनके अधीनता स्वीकार करने पर भी फरीद ने उन्हें नहीं छोड़ा। उन्हें जान से मरवा कर तथा उनके परिवार वालों को गुलाम बना कर उसने उनका नाम निशान भी खत्म कर दिया। नष्ट भ्रष्ट गाँवों

को फिर से बसाने के लिये वह दूर दूर के गाँवों से खेतिहरों को बुला कर लाया तथा उन्हें उन्हीं उजाड़े गये गाँवों में फिर से आबाद किया। इन सब कठोरताओं का परिणाम इतिहासकारों के शब्दों में यह हुआ कि विरोध न केवल दब गया पर शान्त भी हो गया। किसानों की समृद्धि बढ़न लगी तथा फरीद का नाम दूर दूर तक उत्तम प्रबन्धक के रूप में मशहूर हो गया। परन्तु ठीक इसके बाद ही वह पारिवारिक झगड़ों का शिकार हो गया एवम् उसके बाप ने उसे हटा कर उसके स्थान पर उसके सौतेले भाई को नियुक्त कर दिया। फरीद को बड़ी निराशा हुई और इब्राहीम लोदी के दरबार में अपना भाग्य आजमाने के लिये आगरे की ओर चल दिया।

उपरोक्त वर्णन को यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो पता चलेगा कि फरीद के सामने जिस प्रकार की समस्यायें आयीं करीब करीब वही स्थिति सम्पूर्ण १४ वीं शताब्दी भर बनी रही। जहाँ तक किसानों का सम्बन्ध था, उन्हें भूमि पर किसी भी प्रकार का स्थायी अधिकार नहीं था। उनके जिम्मे कर्त्तव्य मात्र था और उस कर्त्तव्य की सीमा भी इतनी ही थी कि, भूमि पर खेती को, निर्धारित लगान सुल्तान या जिसको वह वसूली का अधिकार दे दे उसे दिया करें और समय समय पर शाही आज्ञा (जो जागीरदार की ही आज्ञा होती थी) का बिना किसी आपत्ति के पालन करें चाहे वह आज्ञा कितनी भी उचित या अनुचित क्यों न हो। इन तीनों कर्तव्यों के पालन में थोड़ी सी त्रुटि होने पर उसे बगावत की संज्ञा दी जाती थी तथा जिसका दण्ड प्राणदण्ड से कम नहीं होता था। इतना ही नहीं कभी कभी तो सरदारों अथवा जागीरदारों के भी अपराध का दण्ड उन्हें ही भोगना पड़ता था। सरदार ने माल-गुजारी नहीं भेजी बादशाह ने उसे विद्रोही करार दिया, सेना लेकर आया, सरदार को क्षमा किया तो ठीक नहीं तो उसे तथा उसके साथियों को कत्ल करके उसके अधीन गाँवों को लूट लिया, पशुओं को पकड़ ले गये तथा इस प्रकार किसानों को वे घरबार व साधनहीन दशा में छोड़ कर चले गये। कर निर्धारण की जो भी प्रणाली शासक के मन में आती थी, उसे ही वह प्रचलित कर देता था। इस प्रकार कोई भी प्रणाली सुनिश्चित नहीं थी। चौदहवीं शताब्दी में निर्धारण के दो मत प्रचलित थे—नाप प्रणाली तथा बँटाई प्रणाली। १६ वीं शताब्दी में पारिभाषिक शब्दावली तो बदल गयी थी पर व्यवस्थायें ज्यों की त्यों थीं। दोनों ही प्रकार कर लगान निर्धारण व्यवस्थायें प्रचलन में रहती थीं। कभी कभी तो एक छोटे से भूभाग में दोनों ही प्रकार की व्यवस्थायें साथ साथ चलती रहती थीं। फरीद ने स्वयं ही किसानों को चुनाव करने

की स्वतन्त्रता दे दी। उसने स्वीकार किया कि नाप की व्यवस्था में भी उपज का ख्याल तो रखना ही पड़ता है। उसमें भी प्रति बीघा औसत उपज का अनुमान तो लगाना ही पड़ता है। गयासुद्दीन तुगलक भी इस त्रुटि को स्वीकार करता था। चूंकि फरीद की जागीर छोटी थी। उसकी देखभाल वह व्यक्तिगत रूप से कर सकता था केवल इसीलिये वह किसानों को इस प्रकार की छूट दे सकता था। फरीद के विधान पर ध्यान देने से एक नयी बात मिली है। इस सुधार से यह भी पता चलता है कि किसानों को सनदें भी दी जाती थीं। १४ वीं शताब्दी में इस प्रकार की सनदों का कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता, परन्तु सम्भव है कि इस प्रकार की सनदें किसानों को मिलती रही हों। इस विषय पर इतिहासकारों ने कुछ नहीं लिखा, इसका कारण यह भी हो सकता है कि सनद देने की व्यवस्था अति प्राचीन रही हो और इस व्यवस्था में कुछ परिवर्तन न होने से इतिहासकारों ने उसे उल्लेखनीय नहीं समझा, क्योंकि प्रायः इतिहास लिखने वाले लोग उन बातों को महत्व नहीं देते, जो पहले से ही चली आती रहती हैं तथा जिनमें उनके समय में कोई परिवर्तन व परिवर्द्धन नहीं होता। जिन सनदों को आज हम 'पट्ट' तथा 'कबूलियत' कहते हैं उनका पता सोलहवीं शताब्दी से चलने लगता है परन्तु सम्भव है कि वे उसके बहुत पहले से ही लिखे जाते रहे हों।

सरदारों की स्थिति में इन दिनों कोई परिवर्तन नहीं हुआ। चौदहवीं शताब्दी में वे लोग खेतिहरों तथा केन्द्रीय सत्ता (सुल्तान) के बीच की कड़ी के रूप में काम कर रहे थे। सोलहवीं शताब्दी में भी उनके कार्यक्रम वैसे ही बने रहे। जागीरदारी व्यवस्था में (जब भी और जहाँ भी यह व्यवस्था प्रचलित थी) भी खेतिहरों से लगान वसूल करने के लिये जागीरदार लोग इन्हीं सरदारों का मुँह देखते थे। फरीद के उपरोक्त कार्यों से प्रतीत होता है कि जागीरदार लोग अपनी जागीर के अन्तर्गत मनमानी व्यवस्था करने के लिये स्वतन्त्र थे तथा बिना आवश्यकता के बादशाहों का हस्तक्षेप प्रायः नहीं हुआ करता था। फरीद ने जो कुछ भी नियम चालू किए उनके लिये उसे किसी सूबेदार अथवा किसी अन्य उच्चाधिकारी से स्वीकृति लेने की आवश्यकता नहीं पड़ी और जब विरोधी किसानों को दबाने की आवश्यकता पड़ी तो भी उसने किसी सूबेदार से न तो आदेश प्राप्त किया न सहायता ही माँगी। उसने स्वयम् सेना इकट्ठी की और उसकी सहायता से किसानों का दमन कर दिया। जिन लोगों के 'हक' को वह एकदम से खत्म करना चाहता था, उसके लिये उनके सामने एक ही रास्ता था कि वह उनको जान से मार डाले तथा उनके परिवारवालों को गुलाम बना ले। कहने

की आवश्यकता नहीं कि यही उसने किया भी। ऐसा विश्वास करने का पर्याप्त कारण है कि ये जागीरदार लोग अपनी अपनी जागीरों में इस प्रकार के अनियंत्रित अधिकारों का उपयोग करते थे, मानो वे स्वयम् ही उतने क्षेत्र के बादशाह थे।

फरीद द्वारा किये गये इन सुधारों को हम 'ग्रामीण-व्यवस्था में सुधार' की संज्ञा नहीं दे सकते क्योंकि प्रथम तो ये सुधार एक छोटे से क्षेत्र में किये गये और दूसरे वह स्वयम् ही एक प्रबन्धक मात्र था, जागीरदार भी नहीं; जागीरदार तो उसका पिता था। उसे जो कुछ भी व्यवस्था प्रचलन में मिल गई उसी में थोड़ा बहुत सुधार करके अपने व्यक्तिगत निरीक्षण द्वारा उसे ही अधिक प्रभावपूर्ण बना कर अपना काम चलाने लगा। इतिहासकारों ने जो उसकी सफलताओं का प्रशंसापूर्ण वर्णन किया है वह व्यक्ति की सफलता थी न कि व्यवस्था की। फरीद के बाप ने जब पारिवारिक झगड़ों के कारण उसे पदच्युत करके उसका स्थान उसके सौतेले भाई को दे दिया और फरीद जीविका की खोज में आगरे की ओर गया, उसके प्रायः बीस वर्षों बाद जब हम उसे फिर देखते हैं तो वह हमें शेरशाह के रूप में अपने पिछले अनुभवों के बल पर शासन को आदर्श शासन बनाने के प्रयास में लगा हुआ दिखाई पड़ता है। परन्तु शेरशाह के शासन प्रबन्ध का वर्णन प्रारम्भ करने के पूर्व हमें उन बातों पर विचार कर लेना चाहिये जो लोदी-काल में घटित हुई तथा जिनका स्थान इतिहास में महत्वपूर्ण है।

लोदी बादशाहों के समय का जो बहुत कम वर्णन प्राप्य भी है उनसे यह पता नहीं लगता कि इन बादशाहों के समय में उपज का कौन सा भाग लगान के रूप में माँगा जाता था। परिस्थितियों से यह स्पष्ट है कि इन बादशाहों ने उतना तो अवश्य ही वसूल किया होगा जितना वे अधिक से अधिक वसूल कर सकते थे। उनके जागीरदार भी उससे कम में कैसे सन्तुष्ट होने लगे। यह संभव है कि अपनी घटती बढ़ती शक्ति के अनुसार उनकी लगान दर भी घटती बढ़ती रही होगी। इस प्रकार दरों की विभिन्नता का अनुमान भी लगाया जा सकता है क्योंकि किसी प्रकार का तत्संबन्धी उल्लेख किसी भी तत्कालीन साहित्य में नहीं मिलता। कुछ समय तक तो लगान अवश्य ही सिक्कों के रूप में ली जाती रही होगी, क्योंकि यदि ऐसी परम्परा न रही होती तो इब्राहीम लोदी को यह आदेश निकालने की आवश्यकता न पड़ती कि 'लगान आगे से केवल गल्ले के रूप में ही ली जाया करेगी।' जागीरों के स्वामित्व सम्बन्धी कुछ विस्तृत वर्णन अवश्य प्राप्य हैं। थोड़ी सी कठिनाई उस समय यह पड़ रही थी कि इन जागीरों के अन्तर्गत कुछ 'वक्फ' भी आ गये थे। अतएव सिकन्दर लोदी ने यह

आदेश दिया कि "हर जागीरदार उन लोगों के स्वामित्व * का पूरा सम्मान करें जो उन लोगों के जागीर में पहले से चले आ रहे है ।" उसी सम्बन्ध में इतिहासकारों का यह भी कहना है कि उस समय जागीरदारों का हिसाब देखने को प्रणाली सोधी सादी तथा हर प्रकार की कठिनाइयों से मुक्त थी। केन्द्रीय लगान महकमा इसमें कोई अड़चन नहीं डालता था। सिकन्दर लोदो के जमाने में जागीरदारों को यह भी आदेश था कि जागीरदार जो कुछ भी निर्धारित लगान के अतिरिक्त अपनी जागीर से प्राप्त करे वह अपने निजी खर्च के लिए रख सकता था तथा उससे बादशाह को कोई मतलब नहीं रहता था। सिकन्दर के इस आदेश से स्पष्ट है कि लोदी कालोन जागीरदार मुगलकालीन जागीरदार से अच्छी स्थिति में थे, क्योंकि मुगलकाल में जागीरदारों की अतिरिक्त आय भी बादशाह को आय समझी जाती थी। इन जागोरों के अतिरिक्त लोगों को उस काल में भी वक्फ दिये जाते थे (४था भाग ४५०)। ये वक्फ अकसर विद्वानों, कलाकारों, साधुओं को तथा उन व्यक्तियों को जीवन-यापन के लिये दिये जाते थे जिनका बादशाह के ऊपर कोई विशेष दावा (Claim) होता था। जागीरों की तुलना में इन वक्फों का क्षेत्र अवश्य ही छोटा होता था परन्तु कोई निश्चित नहीं होता था कि वक्फों का क्षेत्र कितना बड़ा हो। इन वक्फों तथा जागीरों को मिलाकर देखने से निस्संदेह यह प्रमाणित हो जाता है कि देश का वास्तविक शासन जागीरदारों के ही हाथ में रहता था तथा देश का अधिकांश लगान इन्हीं जागीरदारों के हाथों वसूल भी होता था और खर्च भी। बादशाह को उस लगान से कोई वास्तविक मतलब नहीं रहता था। खेतिहरों के वास्तविक मालिक भी यही जागीरदार लोग ही होते थे तथा बादशाह का उनसे कोई प्रत्यक्ष सम्पर्क नहीं होता था।

इतिहासकारों ने एक और भी बात का वर्णन किया है और वह विचारणीय भी है। शेरशाह द्वारा लगान-निर्धारण की नाप प्रणाली को सामान्य रूप से प्रयोग में लाये जाने का वर्णन करते हुए उन्होंने यह कहा है कि "शेरशाह के पूर्व इस बात का कोई प्रबन्ध नहीं था कि लगान निर्धारण के लिये खेतों की पैमाइश की जाय, परन्तु हर एक परगने में 'कानूनगो' रहता था जो इस बात का निश्चित उत्तर देता था कि पिछली फसल कैसी हुई। वर्तमान फसल कैसी है तथा भविष्य की फसल कैसी होने

* इलियट भाग ४ पृष्ठ ४४७ व ४४८। छोटे छोटे वक्फों को उस जमाने में, 'मिलक' तथा वजीफा कहते थे । अन्य अवसरों पर भी 'वजीफा' शब्द प्रयुक्त हुआ है परन्तु वहाँ पर वह 'नकद वृत्ति' के रूप में लिया जाना चाहिये । 'मिलक' का अर्थ है वह भूभाग जो किसी को जीवन-निर्वाह के लिये दिया जाता था।

का अनुमान है, साथ ही वह अपने परगने के हालात की जानकारी ऊपर के अफसरों को दिया करता था।" समय विभाग के भेद से यह पहला वर्णन है जो परगने में कानूनगो के रहने की बात कहता है, जो स्थानीय अधिकारी की हैसियत से अपने परगने के बारे में लगान-निर्धारण की आवश्यक बातें उच्च अधिकारियों को बताया करता था। इतिहासकारों ने इस व्यवस्था को इस प्रकार लिखा है जैसे कि यह पारस्परिक व्यवस्था हो, न कि सर्वथा नवीन। इस ढंग से हम यह परिणाम निकाल सकते हैं कि शायद 'कानूनगो' के होने की व्यवस्था मुस्लिम विजय से पूर्व की है, चाहे उस पद का नाम भूतकाल में जो भी रहा हो। इस सम्बन्ध में कानूनगो की स्थिति से यह स्पष्ट हो जाता है कि शेरशाह के पूर्व लगान निर्धारण पूरे परगने पर होता था न कि प्रति व्यक्ति पर। इस प्रकार यह व्यवस्था संकेत करती है कि उस समय या तो सामूहिक निर्धारण की व्यवस्था रही होगी या सीरदारी की या दोनों साथ ही साथ प्रचलित रही होगी। व्यवस्था चाहे कोई भी प्रचलन में रही हो परन्तु कानूनगो द्वारा दी गई सूचना का उसमें निर्णायक स्थान अवश्य ही रहता रहा होगा। वही यह बात बताता रहा होगा कि अमुक परगने से पिछले साल कितनी लगान वसूल हुई थी तथा इस साल स्थिति में कौन से परिवर्तन ऐसे हो गये हैं जिनके कारण उस परगने की लगान कम या अधिक होनी चाहिये। यह स्पष्ट है कि कानूनगो समूचे परगने की ही स्थिति भली प्रकार बता सकता था न कि प्रत्येक गाँव की। क्योंकि गाँव की स्पष्ट स्थिति का पता 'गाँव-लेखा-रक्षक' या 'पटवारी' द्वारा लग सकता था। कानूनगो की स्थिति से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि या तो उस समय सामूहिक लगान निर्धारण (Group Assessment) की प्रथा रही होगी या सीरदारी की, परन्तु ध्यान रखना चाहिये कि यह अनुमान है प्रामाणिक नहीं। व्यक्तिगत निर्धारण भी सम्भव है। स्मरण रहे कि व्यक्तिगत निर्धारण की व्यवस्था सर्वांशतः लुप्त कभी भी नहीं हुई। इस बात का स्पष्ट साक्षी कोई भी नहीं है कि उस जमाने में कौन सी व्यवस्था प्रचलन में थी।

संभव है कि इस निर्णय की कुन्जी 'आईन अकबरी' (भाग १;१२६) के पृष्ठों में उस वाक्य में हो, जिसका अर्थ यह होता है कि 'शेरशाह के समय में देश ने बँटाई प्रथा तथा (एक शंकास्पद शब्द) से नाप प्रथा में प्रवेश किया।" निस्संदेह यह वर्णन आकस्मिक रूप में है न कि सुसम्बद्ध रूप में। मिस्टर ब्लाकमैन ने इस शंकास्पद शब्द के लिये 'मुक्तिये' शब्द इस्तेमाल किया है जो न किसी लुगत (अरबी या फारसी या उर्दू का शब्दकोष) में मिलता है और न साहित्य में ही। हाँ उसी मूल से निकले हुये कुछ शब्द कहीं कहीं जागीरदारी के लिये प्रयुक्त हुये हैं या सीरदारी

के लिये। इस प्रकार संभव है कि इसको इस प्रकार पढ़ा जाय कि 'शेरशाह के समय में देश ने बँटाई तथा जागीरदारी (या सीरदारी) प्रथा से नाप प्रथा में प्रवेश किया। जब तक इस शंकास्पद शब्द का सही अर्थ नहीं मिल पाता तब तक इस वाक्य का अर्थ केवल अनुमान पर आधारित हो सकता है किसी निश्चय पर नहीं।

शेरशाह तथा उसके उत्तराधिकारी (१५४१ १५५६)

लोदियों के पतन के पश्चात् सन् १५२६ ई० में मुगल साम्राज्य की स्थापना हुई, परन्तु यह साम्राज्य स्थायित्व को नहीं प्राप्त हो सका। संस्थापक बाबर के पुत्र हुमायूं को हरा कर फरीद ने शेरशाह के नाम से गद्दी पर बैठ कर सूरवंश की नींव डाली। फरीद को हम अपने बाप की जागीरदारी का प्रबन्ध करते देख चुके हैं। शेरशाह मुस्लिम शासकों में अपने शासन प्रबन्ध की उत्तमता के लिये सर्वाधिक प्रसिद्ध है। वह पहला बादशाह था जिसने जीवन की प्रारम्भिक अवस्था में ही स्वयम् खेतिहरों से सीधा सम्पर्क रखकर प्रबन्ध किया था। उसे खेतिहरों से साबिका पड़ चुका था, सरदारों को वह नजदीक से देख चुका था तथा युवावस्था में ही वह लगान एवम् लगान देने वालों के विषय में सोचने का अवसर पा चुका था। भारत कृषि-प्रधान देश था और उस बादशाह को ही सफलता प्राप्त करने की सम्भावना थी जो किसानों की समस्याओं को पूर्णतया समझता हो। शेरशाह की प्रशासनिक कार्यवाहियों को जानने का एक मात्र साधन है अब्बास सखनी द्वारा लिखित इतिहास 'आईने अकबरी' में भी एक अध्याय शेरशाह कालीन घटनाओं पर लिखा गया है जो अब्बास द्वारा लिखित घटनाओं की पुष्टि करता है। अब्बास लिखित ग्रंथ * तत्कालीन इतिहास पर पर्याप्त

---

* इस पुस्तक के मुख्य भागों का अनुवाद मि० बेले ने दिया है और वे इलियट की पुस्तक के ४थे भाग में दिये गये हैं। पांडु लिपि की स्थिति के लिए कृपया पृष्ठ ३०२ देखें। मुझे कोई मुद्रित प्रति नहीं मिली। ब्रिटिश म्यूजियम में रक्खी हुई दो प्रतियों को मैंने अपना आधार बनाया। इन्डिया आफिस में रक्खी गई एक प्रति हिन्दी की तथा उर्दू की हैं। ये सभी प्रतियाँ एक ही परिवार से प्राप्त की गयीं हैं ऐसा मालूम होता है। अनुवाद में कितने ही वाक्य ऐसे है जिनका पता हिन्दी तथा उर्दू प्रति में नहीं है। प्रतीत होता है कि सारी प्रतिलिपियाँ बड़ी लापरवाही से लिखी गई हैं। अतः मि० बेले के अनुवाद के सामने हम इन्हें महत्व नहीं दे सकते क्योंकि बेले ने मूल प्रति का अनुवाद किया है।

प्रकाश डालता है, परन्तु इसकी प्रतिलिपियाँ ठीक नहीं हैं। उनमें पाठान्तर बहुत मिलता है और जहाँ तक मेरा ज्ञान है, आज तक उसकी प्रतिलिपियों को निश्चयात्मक बनाने का कोई प्रयास नहीं हुआ है।

शेरशाह कालीन शासन प्रबन्ध में परगना ही इकाई का काम करता था। इन परगनों में दो अधिकारी रहते थे। प्रथम 'शिकदार' * तथा द्वितीय 'अमीन'†। इनके साथ एक खजान्ची तथा कुछ क्लर्क भी रहते थे। नियन्त्रण के ख्याल से कई परगनों को मिला कर एक जिला बनाया जाता था जिसे उस समय में 'सरकार' कहते थे। शेरशाह के शासन-प्रबन्ध की नीति के निर्धारक तत्वों का पता उन निर्देशों से चलता है जो नियुक्ति के समय सरकार के अधिकारियों को दिये जाते थे, "यदि लोग किसी प्रकार की अराजकता का प्रदर्शन करें और लगान देने में किसी प्रकार की हीला-हवाली करके या इनकार करके अपनी विद्रोही प्रकृति का परिचय दें तो सरकार के अधिकारी को चाहिये वे उन्हें कुचल दें, नेस्तनाबूद कर दें और इतनी सख्त सजा दें कि दूसरे लोग उससे भयभीत हो जायँ तथा विरोध या विद्रोह की आग दूर दूर तक न फैल सके" यह आदेश फरीद के उसी प्रकार के कार्य का परिचायक था जिस प्रकार उसने अपने बाप की जागीर का प्रबन्ध करते समय स्वयं किया था। लगान-निर्धारण-प्रणाली के विषय में बादशाह का दृष्टिकोण ही बदल गया था। अपने पिता की जागीर के प्रबन्धक के रूप में उसने किसानों को ही स्वतंत्रता दे दी थी कि वह चाहे जो प्रणाली अपने लिये चुन लें, परन्तु बादशाह की हैसियत से इस बार उसने नाप-प्रणाली को ही सार्वदेशिक कर दिया। कितने ही वर्णनों से पता चलता है कि सरकारी अधिकारियों की योग्यता की जाँच इसी से होती थी कि वे अपने क्षेत्र में कितनी सफलता से इस प्रणाली को प्रचलन में लाते हैं। इस प्रकार पंजाब के सूबेदार की सफलता इस हद तक बढ़ी कि "उसके विरोध में किसी भी खतिहर को साँस तक लेने

---

* इलियट भाग ४, पृष्ठ ४१३। शिकदार का स्पष्ट अर्थ शिक के अधिकारी से नहीं है। उस समय में कई परगनों के समूह को शिक कहते थे, परन्तु शिकदार केवल एक परगने की लगान वसूल करता था। या तो वह सूबेदार के अधीन काम करता था या जागीरदार के अधीन। शेरशाह के समय में शिक के अधिकारी का पद "शिकदारों का शिकदार" नाम से पुकारा जाता था जिसका अनुवाद 'प्रधान शिकदार' के रूप में किया गया है।

† अमीन को बहुत से लोग अमीर का रूप कहते हैं परन्तु यह ठीक नहीं है।

का साहस नहीं होता था, और उसने सारे ही पहाड़ी प्रदेश से नाप-व्यवस्था द्वारा लगान निर्धारण भी किया और उसको वसूली कर ली। उधर सम्भल (रुहेलखंड में है) के सूबेदार का इतना दबदबा बढ़ा कि उस भाग के जमींदारों (सरदारों) को तब भी विरोध करने का साहस नहीं हुआ जब कि उन्हें अपने जंगलात भी काट डालने का हुक्म दे दिया गया......और उसने उन लोगों की चोरी-डकैती तथा राहजनी की आदत को भी छुड़ा दिया। वे शहर में आकर अपने जिम्मे की लगान (जो नाप-प्रणाली द्वारा निर्धारित की गई थी) दे जाया करते थे।''

यह नाप प्रणाली उन देशों में भी लागू की गई जहाँ के लोग विद्रोह कार्य के लिये बदनाम थे। केवल मुल्तान के आसपास के प्रदेशों में यह प्रणाली लागू नहीं की गयी क्योंकि पिछले दिनों यह प्रदेश बहुत बड़ी दुर्व्यवस्थाओं से होकर गुजर चुका था और बादशाह को इसे पुनर्व्यवस्थित करने में बेहद प्रसन्नता प्राप्त होती थी। प्रदेश उजाड़ हो गया था, खेती-बारी नष्ट हो गई थी। बादशाह ने वहाँ के सूबेदार को आदेश दिया कि उस प्रदेश को फिर बसाया जाय, वहाँ की स्थानीय परम्पराओं को पूरी मान्यता दी जाय और उपज का केवल चौथाई भाग ही लगान के रूप में लिया जाय। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रदेश की आवश्यकता उस समय सचमुच इसी प्रकार की थी। सम्भव है कि इस प्रकार की अपवादात्मक व्यवस्था और भी किसी प्रदेश में रही हो, यद्यपि और किसी प्रदेश में किसी अन्य प्रकार की व्यवस्था का उल्लेख इतिहासकार ने नहीं किया है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि शेरशाह के शासन-काल में नाप प्रणाली से कर निर्धारण की व्यवस्था न केवल सिद्धान्त रूप में सार्वदेशिक थी वरन् प्रयोगात्मक रूप में भी।

उपज का कौन सा भाग लगान रूप में लिया जाता था, इस पर इतिहासकार ने कुछ स्पष्ट नहीं लिखा है। उस ग्रंथ के जो अनुवाद मिलते हैं उनके अनुसार खेतिहर अपने लिये एक भाग रख लेता था और उसका आधा मुकद्दम को दे दिया करता था। इसका मतलब यह हुआ कि (यदि मुकद्दम के अंश को ही लगान मान लिया जाय) उस समय लगान उपज की तिहाई होती थी। मूल प्रतियों में इस प्रकार का कोई वर्णन नहीं मिलता। शायद अनुवाद-कर्ता ने भूल से ही ऐसा लिख

---

* देखिये इलियट भाग ४, पृष्ठ ३९९ तथा ''मखजानेय अफगानी'' जो इन्डिया आफिस में रक्खी है।

दिया हो। अथवा किसी हाशिये पर लिखे किसी को सत्य मान लिया हो। हाँ 'आईन अकबरी'* के एक अध्याय से इसकी पुष्टि हो जाती है जिसमें शेरशाह के जमाने की लगान की दरें दी हुई हैं, साथ ही लगान का हिसाब लगाने का ढंग भी दिया गया है। कुछ विशेष फसलों (तरकारी इत्यादि) के लिये लगान सिक्कों के रूप में निश्चित की गयी थी परन्तु कितनी उपज के लिये कितनी लगान ली जाती थी, यह नहीं दिया गया है। खास खास अनाजों की उपज के लिये 'उत्तम', 'मध्यम' तथा 'निकृष्ट' तीन श्रेणियाँ बना दी गयी थीं इन तीनों श्रेणियों की प्रति बीघा उपज जोड़ी जाती थी। इन तीनों प्रकार की उपज के जोड़ का तिहाई लगान (महसूल) के रूप में लिया जाता था। एक उदाहरण से यह विषय स्पष्ट हो जायगा। कल्पना कीजिये गेहूँ की उत्तम उपज १८ मन प्रति बीघा है, मध्यम उपज १२ मन प्रति बीघा है तथा निकृष्ट उपज ६ मन प्रति बीघा है। इन तीनों का जोड़ बीघे का ३६ मन हुआ। इस हिसाब से एक बीघे की उपज १२ मन मानी जाती थी। अतः खेतिहर से इस १२ मन का तिहाई ४ मन लगान रूप में माँगा जाता था। यह बताने का कोई साधन नहीं है कि खेतिहरों को लगान गल्ले के रूप में देनी पड़ती थी या उसी अनाज को सरकारी भाव से सिक्कों में बदल कर। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि इब्राहीम लोदी ने गल्ले के रूप में लगान वसूल करना शुरू किया था तथा आगे चलकर देखेंगे कि अकबर के शासन काल में लगान सिक्कों के रूप में वसूल होती थी, परन्तु यह नहीं बताया जा सकता कि यह परिवर्तन कब और किसके द्वारा किया गया।

लगान की दरों की विवेचना करने में इनमें प्रयुक्त इकाइयाँ निश्चित नहीं हैं। 'आईन अकबरी' में इसका वर्णन अपने ऐतिहासिक महत्व के कारण हो गया है, मेरा विश्वास है कि लेखक ने तत्कालीन मन तथा बीघा का वर्णन नहीं किया है बल्कि वह अकबर के समय का है और यह निश्चित है कि शेरशाह कालीन इकाइयाँ अकबर के समय में प्रचलित थीं। हम जानते हैं कि शेरशाह के जमाने में लोदी कालीन इकाइयाँ प्रचलन में थीं। हमें लोदी कालीन बीघा तथा अकबर कालीन बीघा का अनुपात भी मालूम है कि अतः यह निश्चय है कि शेरशाह के जमाने में भूमि के नाप के लिये सिकन्दर लोदी कालीन बीघा प्रचलित था परन्तु इस बात

* 'आईन अकबरी' भाग १;२९७। मिस्टर जेरेट ने जो इसका अनुवाद किया है वह शब्दशः ठीक नहीं है। प्रोफेसर कानूनगो ने कहा है शेरशाह के जमाने में चौथाई भाग ही लिया जाता था। प्रो० कानूनगों के तर्कों की विवेचना विस्तृत रूप से मैंने १९२९ की एशियन सोसाइटी की पत्रिका में पृष्ठ ४४८ पर किया है।

का बिल्कुल पता नहीं चलता कि शेहशाह के जमाने में वजन की कौन सी इकाई प्रचलित थी। अतः हम तत्कालीन प्रति बीघा उपज का हिसाब आज नहीं लगा सकते परन्तु लगान निर्धारण की दर का औचित्य दो बातों का ध्यान रखकर सिद्ध कर सकते हैं, पहली बात तो यह है कि उपज का समान्य स्तर तथा दूसरी बात यह कि कितनी भूमि पर है। यह व्यवस्था कितने क्षेत्र पर लागू की गई थी।

जहाँ तक उपज के सामान्य स्तर का प्रश्न है, उत्तम, मध्यम तथा निकृष्ट उपजों का वर्गीकरण किसी वैज्ञानिक आधार पर नहीं हुआ था बल्कि योंही सामान्य अनुभव के आधार पर किया गया था। उसी काम में अनुभव प्राप्त व्यक्ति से तो यह आशा अवश्य ही की जा सकती थी कि वह अपने अनुभव के आधार पर उपज के सही अनुमान पर पहुँच जाय परन्तु अनुभव हीन व्यक्ति के लिये तो उपज का सही अनुमान कर पाना यदि असम्भव नहीं तो बहुत कठिन अवश्य था। आशा की बात यही थी कि शेरशाह को इन विषयों का व्यक्तिगत अनुभव था और वह अपनी सल्तनत के कृषि सम्बन्धी सारे कार्यों को स्वयं देखता था, उसके सारे कार्यों का आधार वही पुराना अनुभव था जो उसने अपने पिता की जागीर का प्रबन्ध करते समय प्राप्त किया था। इसके बाद उस क्षेत्र का प्रश्न आता है जिस पर यह व्यवस्था लागू की गई थी। यह निश्चय * नहीं हो पाता है कि इस प्रकार की व्ययस्था सारी सल्तनत में ही प्रचलित की गई थी या जिस प्रकार अकबर के शासनकाल में स्थानीय व्यवस्थायें प्रचलित थीं, वही दशा शेरशाह के जमाने में भी थी। जैसा कि हम आगे देखेंगे शेरशाह की व्यवस्था बहुत थोड़े समय तक ही रही क्योंकि उसका वंश थोड़े ही दिनों तक गद्दी पर रहा और इस बात की ही सम्भावना अधिक है कि शेरशाह ने वह व्यवस्था समूचे देश में ही प्रचलित की होगी।

सिवाय इसके कि शेरशाह ने लगान निर्धारण की परम्परा में आवश्यक परिवर्तन किये, उसने प्राचीन व्यवस्था को ज्यों की त्यों अपरिवर्तित रक्खा। यत्र तत्र कुछ आकस्मिक वर्णनों † से पता चलता है कि शेरशाह भी पहले की ही

---

* मूल प्रति में जहाँ इस प्रकार का वर्णन आया है वहाँ यह शंका बनी ही रह जाती है कि यह अकेली व्यवस्था थी कि कई व्यवस्थाओं में से एक।

† इलियट भाग ४, पृ० ४१५। उसमें इस प्रकार का वर्णन है कि एक अफसर सरहिन्द सरकार (जिले) का काम देखता था तथा दूसरा अधिकारी रुहेलखंड के काँत तथा अन्य परगनों का काम देखता था।

तरह जागीरें दिया करता था तथा उन जागीरों की शर्तों में भी कुछ विशेष परिवर्तन नहीं किया था। उसका शासनकाल इतना छोटा था कि वह इतने कम समय में सभी कठिनाइयों को हल नहीं कर सका। आगे हम देखेंगे कि अकबर को भी इसी प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था। शेरशाह की मृत्यु के बाद के दस वर्ष का समय घोर दुर्व्यवस्था का समय था और उस समय में लगान सम्बन्धी प्रशासन की कोई बात ही नहीं उठ सकती थी। इस्लाम शाह ने जागीरों के बदले नकद वेतन देना शुरू कर दिया था, तथा जागीरों एवम् जागीरदारों के लिये जितने नियम उपनियम प्रचलित थे सबको* खत्म कर दिया। थोड़े ही दिनों बाद फिर उसने अपने भाई को खुद ही एक जागीर दी तथा अन्य कितनों को ही नकद वेतन तथा वृत्तियों के बदले में भूमि देना प्रारम्भ कर दिया। अतः यह परिणाम निकाला जा सकता है कि उसने जागीरों का खातमा किसी आदर्श के लिये नहीं किया था बल्कि कुछ ऐसे व्यक्तियों को दबाने के लिये किया था जिनका किसी कारणवश वह विश्वास नहीं करता था। तत्कालीन कृषि व्यवस्था में हेरफेर करने का यही एकमात्र उदाहरण है अतः हम यह मान सकते हैं कि शेरशाह की मृत्यु के बाद भी उसका जितना साम्राज्य नष्ट-भ्रष्ट होने से बचा रह गया था उसमें शेरशाह द्वारा चलायी गयी व्यवस्था ही अधिकांश में कायम रही।

मेरी राय में यह सोचना गलती ही होगी कि विजेताओं के कारण प्राचीन व्यवस्थाओं में अत्यधिक परिवर्तन हो गये। आक्रामक एवम् विजेता में भेद होता है। आक्रामक तात्कालिक लाभ पर ध्यान देता है परन्तु विजेता स्थायी लाभों की ओर ध्यान देता है। आक्रामक को देश की लगान से कोई सरोकार नहीं होता परन्तु विजेता को लगान-निर्धारण एवम् उसकी वसूली की समुचित व्यवस्था करनी पड़ती है। अपनी सुविधा के लिये विजेता सदैव ही प्रचलित व्यवस्था को आधार बनाता है। अधिक से अधिक इतना हो हो सकता था कि एक जागीरदार को पदच्युत करके उसकी जागीर किसी और को दे दी जाय। जागीरदारी की व्यवस्था में आमूल परिवर्तन करने की वे आवश्यकता नहीं समझते थे। दूसरा परिवर्तन यह होता था कि दीवानी (Revenue Ministry) का अफसर बदल जाता था और जागीरदार लोग इस नये अफसर का हुक्म मानने लगते थे। अगर नये अफसर ने कोई नये ढंग की कार्य प्रणाली निर्देशित नहीं किया तो महकमा लगान (दीवानी) अपना काम ज्यों का त्यों करती रहती थी और जहाँ अड़चन पड़ती थी, वहाँ भी वे परम्परा का सहारा लेकर

---

* इलियट भाग ४, पृ० ४७६-४८१ तथा भाग ५, पृ० ४८७।

काम चलाते थे, बिना किसी अधिकारी की आज्ञा से कार्यप्रणाली में कोई परिवर्तन नहीं किया जाता था। चौदहवीं शताब्दी के गयासुद्दीन तुगलक एवम् सोलहवीं शताब्दी के शेरशाह जैसे सशक्त एवम् सक्षम बादशाह अपने शासन का प्रारम्भ आवश्यक परिवर्तनों या नवीन कार्य व्यवस्था से करते थे। हर दूसरे विजेता लोग प्रचलित व्यवस्था को ही अपना लेते थे। अतः जहाँ जहाँ इतिहासकारों ने किसी भी परिवर्तन का उल्लेख नहीं किया है वहाँ यही मान लेना ही तर्क पूर्ण होगा कि उस समय में प्राचीन व्यवस्था ही कायम रही। परन्तु आगे हम जिस युग में प्रवेश कर रहे हैं वहाँ इस प्रकार की मान्यता को स्वीकार कर लेना आवश्यक होगा क्योंकि हम देखेंगे कि अकबर ने शेरशाह की व्यवस्थाओं को ही अपनाया और तब तक उनमें कोई परिवर्तन नहीं किया जब तक उनकी उपयोगिता खत्म न हो गयी।

चौथा अध्याय

अकबर का शासन (१५५६-१६०५)

परिचयात्मक

पिछले अध्याय की अन्तिम पंक्तियों में हमने संकेत किया था कि प्रशासनिक व्यवस्थायें भारतीय इतिहास के अति प्राचीन युग से ज्यों की त्यों रहती चली आती रहीं यद्यपि इस दीर्घकाल में अनेकानेक उग्रराजनैतिक परिवर्तन होते रहे। यह संकेत मुगलकाल के प्रारम्भिक काल के लिये (सन् १५२६ से १५४० ई० तक) पूरी तरह लागू होता है। तत्कालीन साहित्य में ऐसी कोई सामग्री नहीं प्राप्त होती जो यह बता सके कि मुगल साम्राज्य के संस्थापक बाबर तथा उसके पुत्र हुमायूं ने उत्तरी भारत की ग्रामीण-व्यवस्था में कहीं से तनिक भी परिवर्तन किया हो। इस विषय के यदि आकस्मिक वर्णन कहीं प्राप्त भी हैं तो उनसे यही ज्ञात होता है कि उपरोक्त दोनों बादशाहों ने तत्कालीन प्रचलित व्यवस्था को ज्यों की त्यों मान लिया था। बेचारे बाबर का कुल शासन काल चार वर्षों तक ही रहा। ये चार वर्ष भी उसे इधर उधर लड़ते भिड़ते ही बीत गये। सैनिक कार्यों ने ही उसे इतना व्यस्त रक्खा था कि उसे अपने साम्राज्य को सुव्यवस्थाओं द्वारा सुधारने का अवसर ही नहीं मिला। अपने पिता की मृत्यु के बाद हुमायूं का अधिकांश जीवन इधर विद्रोहों को दबाने में ही रहा था कि शेरशाह (पहले का फरीद) ने उसे ऐसा उलझाया कि बेचारे को अपने स्त्री-पुत्र तथा सरदारों को लेकर भारत से बाहर ही ले जाना पड़ा। अतः उसे भी प्रचलित ग्रामीण-व्यवस्था को जानने तक का अवसर न मिल सका, उसमें परिवर्तन व सुधार तो दूर की बात थी। इतिहासकार गुलबदन के वर्णन से पता चलता है कि बाबर ने पानीपत के युद्ध के (१५२६ ई०) तुरन्त बाद ही अपने साथियों को जागीरें देना शुरू कर दिया था। अपनी जीवनी में उसने जो तत्कालीन साम्राज्य *

* बाबर नामा में (पृष्ठ ५२०) बाबर ने जिन अङ्कों को वर्णनों में स्थान दिया है उन्हें फारसी में 'जमा' कहा है। अतः प्रतीत होता है कि वह तत्कालीन मूल्यांकन प्रणाली का जिक्र कर रहा था क्योंकि मूल्यांकन के लिये 'जमा' शब्द उस समय में प्रचलित था।

का वर्णन संक्षिप्त रूप में दिया है वह भी भारतीय इतिसासकारों के आधार पर ही किया गया होगा क्योंकि वह स्वयम् कहता है कि उसके पूर्ववर्ती सुल्तान का शासन मेवात पर नहीं था। आगे भी वह 'राय' लोगों तथा राजाओं के परगनों की बात करता है जो आज्ञापालक थे तथा जिन्हें जीवन यापन की सारी सुविधायें प्राप्त थीं। अपने पिता द्वारा दी गयी जागीरों को हुमायूं * ने भी स्वीकार किया। उसने स्वयम् बङ्गाल तथा अन्य प्रान्तों में अपने सहायकों एवम् सरदारों को जागीरें दीं। खुन्द-मीर ने केन्द्रीय-शासन के पुनर्गठन का जो वर्णन दिया है उससे भी पता चलता है कि वजारत (Ministry के कामों तथा कार्यप्रणालियों में कोई वास्तविक परिवर्तन नहीं किया गया था। उसने इतना अवश्य कहा है कि वजीर चार थे जिनमें एक वजीर को महकमा लगान सौंपा गया था, परन्तु ऐसा कोई वर्णन तो कहीं नहीं मिलता जिससे यह कहा जा सके कि वास्तविक व्यवस्था में कुछ भी परिवर्तन हुआ था। हुमायूं का दूसरी बार का शासन (१५५५-१५५६ ई०) इतना अल्पकालीन था कि उसे किसी भी दिशा में कुछ विशेष कर पाने का समय ही नहीं मिला। अतएव मुगल कालीन ग्रामीण-व्यवस्था के अध्ययन का प्रारम्भ अकबर के सिंहासनारोहण (१५५६ ई०) के बाद से ही करना उचित होगा।

अकबर १५५६ ई० में गद्दी पर बैठा। उस समय उसकी अवस्था केवल चौदह वर्षों की थी। अपने शासनकाल के प्रारम्भिक वर्षों में उसे दो एक संरक्षकों की देख रेख में काम करना पड़ता था। अतएव हम उसके वास्तविक शासनकाल का प्रारम्भ सन् १५६२ ई० से मानते हैं जब उसने सब प्रकार के संरक्षणों से मुक्त होकर स्वयमेव शासनसूत्र संभाला। उसका यह शासन उसके मृत्युकाल अर्थात् सन् १६०५ ई० तक चलता रहा। अपने अध्ययन की सुविधा के लिये हमें उसके शासन-काल को दो भागों में विभाजित करना पड़ेगा। प्रथम विभाग में (सन् १५७९-८० तक) वह लगान निर्धारण एवम् लगान वसूली के प्रयोग पर प्रयोग करता रहा, जबकि इसके आगे द्वितीय विभाग में (१५८० से १६०५ तक) हम यह देखते हैं कि उसके प्रयोग परिपक्वता को पहुँच चुके थे तथा सुदृढ़ व्यवस्थाओं की स्थापना हो चुकी थी, केवल उनका विकास व परिवर्द्धन शेष था। उसके शासनकाल के प्रथम विभाग के अध्ययन की जितनी सामग्री प्राप्त है उतनी इसके पूर्वकालीन शासकों में से किसी एक के विषय में नहीं मिलतीं। यह सामग्री न केवल उसके ही शासनकाल पर वरन् पूर्वकालीन शासकों के शासन पर भी पर्याप्त जानकारी देती है, बल्कि कभी

* गुलबदन २० ब, १५८ तथा इलियट भाग ५ १२३, १४१।

कभी तो उनसे भविष्य कालीन जानकारी भी मिल जाती है। हाँ उन सामग्रियों (ऐतिहासिक पुस्तकों) का अर्थ स्पष्टतया समझने में अवश्य कठिनाइयाँ पड़ती हैं। यही कारण है कि पाठकों को मेरे द्वारा दिये गये वर्णनों में अन्य लेखकों द्वारा दिये वर्णनों से कुछ भिन्नता मिलेगी।

इस समय का अध्ययन करने के लिये सर्वाधिक मुख्य साधन हैं अकबरनामा तथा आईने अकवरी। ये दोनों ही आपस में सम्बद्ध हैं। ये ग्रंथ अधिकारियों द्वारा लिखे गये हैं। इनके अतिरिक कुछ ऐसे भी ग्रंथ प्राप्त हैं जिनके लेखक अधिकारी (कर्मचारी) नहीं थे। इनके लेखकों में से कई तो प्रख्यात हैं, जैसे निजामुद्दीन, अहमद तथा बदाऊनी। ये ग्रंथ तत्कालीन परिस्थितियों के अध्ययन के लिये तो अवश्य ही महती सहायता देते हैं, परन्तु ग्रामीण व्यवस्था में रुचि रखने वालों के लिये इनकी सहायता अपर्याप्त भी है और महत्वहीन भी। हम यत्र तत्र इन इतिहासकारों की सहायता लेंगे परन्तु मुख्यतः हमको कर्मचारियों द्वारा लिखे गये ग्रंथों का ही सहारा लेना पड़ेगा।

अकबरनामा एक वृहत इतिहास ग्रंथ है जो बादशाह की आज्ञानुसार शेख अबुल फजल द्वारा लिखा गया है। अबुल फजल तत्कालीन लेखकों में सर्वप्रमुख था तथा बादशाह का विशेष स्नेहभाजन था। उसे स्वयम् भी बादशाह पर बड़ी श्रद्धा थी। अबुलफजल ने इसे अपनी ही शैली में लिखा है तथा उसने विषय की महानता एवम् विस्तार का अनुपात सदैव ही बनाये रक्खा है। साहित्य के अङ्ग के रूप में वह एक महान् ग्रंथ है। इतिहास में रुचि रखने वालों को इस ग्रंथ में एक त्रुटि अवश्य मिलेगी कि कहीं कहीं इसमें ऐसे वर्णन बहुत ही संक्षिप्त रूप में आये हैं जिनकी स्मृति आनन्दप्रद नहीं है, तथा कहीं कहीं तथ्यों को उलट-पुलट कर दिया गया है। अतएव इसके वर्णनों को अन्य इतिहासकारों के वर्णनों से मिला कर ही पढ़ना श्रेयस्कर होगा। हाँ ग्रामीण-व्यवस्था का अध्ययन करने वालों के लिये अवश्य ही ये त्रुटियाँ अधिक गम्भीर नहीं हैं।

आईने अकबरी यद्यपि अकबरनामा के ही अन्तिम तथा निर्णायक अध्यायों के रूप में है, फिर भी उसके पन्नों में कई नवीन एवम् विशिष्ट अंग मिलते हैं जिनका अकबरनामा में अभाव है। जैसा कि भूमिका में कहा जा चुका है। इस पुस्तक का उद्देश्य ही यह प्रतीत होता है कि वह केवल उन्हीं कार्यों का वर्णन करे जो अकबर को भौतिक रूप में तथा एक बादशाह को महान् बनाते हैं। अकबर ने कुछ कार्य आध्यात्मिक नेताओं के स्तर पर भी किये परन्तु उनको इस ग्रंथ में स्थान नहीं मिला है और तारीफ तो यह है कि ऐसा जानबूझ कर किया गया है। लेखक का स्वयमेव

कहना है और उसका कथन न्यायपूर्ण भी है कि 'वह विद्यार्थियों को एक ऐसा उपहार दे रहा है जिसे पूर्णतः समझ पाना कठिन है, जो है तो सरल या यों कहें कि देखने में सरल है परन्तु वास्तव में कठिन है।'

यह ग्रंथ कितने ही विरोधी तत्वों का सम्मिश्रण है। इस ग्रंथ के उत्तरार्द्ध में अधिकांश हिन्दू संस्कृति का वर्णन हुआ है जिससे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है। इस के पूर्वार्द्ध में अकबर के उन कार्यों का वर्णन है जिन्हें उसने समय समय पर सल्तनत के विभिन्न महकमों को अधिक कार्यकुशल बनाने के लिये किया है। अतः यही भाग अपने उद्देश्य को पूरा करता है। शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति होगा जो इन दोनों ग्रंथों (अकबरनामा तथा आईने अकबरी) को एक साथ पढ़ कर विश्वासपूर्वक यह कह सके कि ये दोनों एक ही विद्वान द्वारा लिखे गये हैं। आईने अकबरी में वर्णन की इतनी अधिक शैलियाँ * व्यवहार में लायी गयी है कि इसे शैली विहीन ही कहना अधिक उपयुक्त होगा। समानुपात विहीनता सर्वत्र ही दृष्टि गोचर होती है। भाषा जटिल अलंकारात्मक एवम् पारिभाषिक शब्दावली युक्त है। जैसा कि मि० ब्लाकमैन ने इस ग्रंथ की भूमिका में कहा है, कुछ छोटे छोटे वर्णन अवश्य ही अबुल फजल के लिखे मालूम होते हैं, परन्तु वे वर्णन जो हमारे अध्ययन के लिये अधिक काम के हैं वे अवश्य ही किसी दूसरे लेखक द्वारा लिखे गये मालूम होते हैं। संपूर्ण ग्रंथ को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि विभिन्न महकमों के अधिकारियों ने समय समय पर जो कुछ लिखा था, यह ग्रंथ उन्हीं लेखों का संकलन मात्र है, जिसका सम्पादन अबुल फजल ने किया। निस्संदेह कई स्थलों पर उसने स्वयम् भी कुछ जोड़ तोड़ कर दिया है। वास्तव में विभिन्न विभागों द्वारा दिये गये वर्णनों का कोई भी अंश अबुलफजल ने छोड़ा नहीं है। तत्कालीन ग्रामीण-व्यवस्था के विषय में जो कुछ भी लिखा गया है वह अवश्य ही लगान के किसी अधिकारी की देन है जो तत्सम्बन्धी तमाम बातों की विस्तृत जानकारी रखता था तथा विभागीय असफलताओं को छिपाने पर कमर कसे हुआ था। निस्संदेह इन वर्णनों के विषय के विस्तार आदि के बारे में हम चाहे जो कहें परन्तु यह नहीं कह सकते कि लेखक या लेखकों में तत्सम्बन्धी ज्ञान का अभाव था। वे अपने विषय को पूरा समझते थे, बल्कि यह भी कह सकते हैं कि अपने विषयों में उनकी जानकारी इतनी अधिक थी कि लिखते समय यह निश्चय नहीं कर सके कि कितना लिखा जाना चाहिये।

---

* शैली के लिये मि० ब्लाकमैन द्वारा लिखित इस ग्रन्थ की भूमिका देखिये।

यद्यपि ये दोनों ग्रन्थ स्पष्टतः अलग हैं पर वे एक दूसरे से असम्बद्ध नहीं हैं। कई बातें ऐसी हैं जिनका वर्णन आईन ने शारांश रूप में कर दिया है तथा उसी बात के विस्तृत वर्णन के लिये अकबरनामा का हवाला दे दिया है और सचमुच अकबर-नामा उस विषय की विस्तृत जानकारी देता है परन्तु कुछ बातें ऐसी भी हैं कि वे अकबरनामा में पूरे विस्तार के साथ वर्णन में आयी है परन्तु आईन में उनका कुछ भी जिक्र नहीं किया गया है। अतः इनमें से किसी एक ग्रंथ से उस समय का समुचित अध्ययन तब तक नहीं पूरा होता जब तक कि दूसरे को न पढ़ लिया जाय। कोई भी ग्रन्थ अकेले इनती जानकारी नहीं दे पाता, जितनी आवश्यक है। फिर भी यदि कुछ कमी रह जाती है तो वह भूल सम्पादन की प्रतीति होती है। आगे का वर्णन हम शासन के केन्द्रस्थ प्रदेश से प्रारम्भ करेंगे। केन्द्रस्थ प्रदेश हम उस भाग को कहते है जो पंजाब से इलाहाबाद तक फैला हुआ था। पहले कर-निर्धारण की व्यवस्था पर विचार करेंगे, फिर जागीरदारी का नम्बर आयेगा। बीच बीच में जो कहीं कहीं गपशप की बातें आ गयी हैं उन पर भी विचार करना होगा। इसके बाद हम उन सभी को एक क्रम में लाये जाने वाली प्रणाली (Regulating system) पर भी प्रकाश डालेंगे, साथ ही हम यह भी देखने का प्रयास करेंगे कि अकबर के शासन-काल के अन्तिम समय में किस प्रकार के प्रवन्ध चल रहे थे।

लगान-निर्धारण की प्रणालियाँ

इस विभाग के अन्तर्गत हम केवल उस भूभाग का ही वर्णन कर सकेंगे जो अकबर के शासन काल के २४ वें वर्ष से लाहौर, दिल्ली, आगरा, अवध * तथा इलाहाबाद में शामिल थे। शासन के १५ वें वर्ष में मुलतान इसका छठवां सूबा बन जाता है तथा मालवा सातवाँ, परन्तु इतिहासकार ने मालवा का वर्णन इस स्वेच्छा-चारिता से किया है, जैसे वह एक सर्वथा अलग प्रान्त था, जिसकी निर्धारण प्रणाली औरों से भिन्न थी। यदि समूचे विषय को अति संक्षिप्त रूप में कहना चाहें तो हम कहेंगे कि निर्धारण की तीन दरें एक के बाद दूसरी प्रचलित होती रहीं। इनमें पहली को 'शेरशाह', दूसरी को 'कानूनगो' तथा तीसरी को 'दसवर्षीय' के नाम से पुकारेंगे। यदि तनिक ध्यान से देखा जाय तो मालूम होगा कि उपरोक्त तीनों प्रणालियाँ नाप-प्रणाली के ही अन्तर्गत आ जाती हैं अर्थात् ये सभी प्रकार के निर्धारण उपज के

* इस अवध की सामायें वह नहीं थीं जो आज कल के अवध की हैं। इसका क्षेत्र भी भिन्न था।

अनुसार 'प्रति बीघा लगान' लेने की व्यवस्था को अपनाते थे। यह लगान किसी साल या फसल में उतनी ही भूमि पर ली जाती थी जितनी भूमि उस वर्ष या उस फसल में बोई गयी थी। इस प्रकार की लगान हर फसल पर तथा हर वर्ष घटती बढ़ती रहती थी। इन्हीं सब असुविधाओं को दूर करने के लिये बीच बीच में विभिन्न प्रकार के ढंग एवम् एक के बाद दूसरी व्यवस्थायें छोड़ी तथा अपनायी जाती रहीं।

इन दिनों बैरभ खाँ अकबर का संरक्षक था। अकबर की सिंहासन प्राप्ति बहुत कुछ उसी के प्रयत्नों से हुई थी। बैरम खाँ ने कार्य को सुचारु रूप से चलाने के लिये लगान की वही दरें प्रचलित कर दीं जो शेरशाह * के समय में लागू थीं तथा जिसमें खेतिहरों से उपज का तिहाई भाग मांगा जाता था। यह लगान गल्लों के रूप में मांगी जाती थी तथा केवल कुछ फसलों के बदले में सिक्कों में लगान मांगी जाती थी। हाँ इन फसलों को सिक्कों में बदलने के लिये सरकार द्वारा दरें निश्चित की गयी थीं। अकबर के शासन काल में पूरी की पूरी लगान सिक्कों में ही ली जाने लगी और सरकारी दरों के स्थान पर बाजार की तत्कालीन वास्तविक दर काम में लायी जाने लगी। परन्तु इस प्रकार काम चलने में कठिनाइयाँ आने लगीं। सरकारी लेखों में इस ढंग के लिये कहा गया है कि "अत्यधिक कठिनाइयाँ सामने आने लगीं"। रक्षित प्रदेशों में उक्त व्यवस्था को शासन के तेरहवे वर्ष में ही स्थगित कर दिया गया। शेष प्रदेशों में कुछ दिन तक सामूहिक निर्धारण को आजमा कर छोड़ दिया गया तथा बाद में 'कानूनगो' नामक दरें प्रयोग में लायी जाने लगीं। इन दोनों ही व्यवस्थाओं का विस्तृत एवम् जानकारी पूर्ण वर्णन 'आईन अकबरी' के उस अध्याय के अन्तर्गत किया गया है, जिसका शीर्षक है "उन्नीसवां वर्ष" तथा जिसको और भी अधिक स्पष्ट करने के लिये कुछ विवेचना आवश्यक होगी।

उपरोक्त अध्याय † बहुत ही संक्षिप रूप में लिखा गया है। इसके देखने से पता चलता है कि उस समय हर वर्ष में प्रति बीघा जो लगान सिक्कों के रूप में ली जाती थी, उन दरों की जो सूची उक्त अध्याय में जोड़ी गयी है वह पर्याप्त श्रमपूर्ण

---

* इस विषय के स्पष्टीकरण के लिये कृपया परिशिष्ट 'य' देखिये।

† आईन १, ३०३, मि० जेरेट ने एक टिप्पणी में लिखा है कि इस अध्याय के शीर्षक का सम्बन्ध चन्द्रमा के १६ वर्षीय चक्र से है, परन्तु ऐसा होना मेरे मत में आवश्यक नहीं है। मेरे विचार में जितनी भी सूचियाँ उस समय तक प्राप्य थीं उनको इसमें संकलित कर दिया गया है। यह तो संयोग की बात है कि केवल उन्नीस वर्ष की ही सूचियाँ मिलीं।

खोज बीन के बाद लिखी गयी है, उसके बाद प्रत्येक सूबे में प्रति बीघा कितना दाम (करीब करीब ४० दाम बराबर होता है एक रुपये के) सरकारी लगान के रूप में माँगा जाता था, इस बात को बताने के लिये विवरण (In Tables) दिया गया है। ये दरें प्रति फसल तथा प्रति वर्ष के बारे में दी गयी है, परन्तु अकबरी शासन के ६ ठे से लेकर २४ वें वर्ष तक की हैं। शायद इसके पहले की दरें प्राप्य नहीं थीं, क्योंकि इन ६ वर्षों में सल्तनत की व्यवस्था अकबर के हाथों में न रह कर बैरम खाँ के हाथों में थी। अतः हो सकता है कि स्वयम् अकबर को भी इसका ज्ञान न रहा हो। २४ वें वर्ष के बाद कदाचित् यह व्यवस्था खत्म कर दी गयी। आइन अकबरी की कुछ हस्तलिखित प्रतियों में ये गणनायें नहीं दी गयी है, और जहां दी भी गयी हैं वहाँ उनमें अत्यधिक त्रुटियाँ आ गयी हैं, जैसा कि प्रायः ऐसे लेखों की प्रतिलिपि करने में होता है। इस पस्तक की टीका में मिस्टर ब्लाकमैन ने सारी गणनाओं एवम् संख्याओं को अविश्वसनीय बतलाया है और ब्लाकमैन की बातों को सही मानने के पर्याप्त कारण भी हैं। किसी भी विशेष या साधारण बात पर निर्भर नहीं रहा जा सकता क्योंकि हो सकता है कि उनमें भी त्रुटि आ गयी हो। हाँ इतनी सुविधा अवश्य है कि प्रत्येक सूबे की निर्धारित दरें इनमें मिल जाती है। जब सभी पाँचों सूबों की दरों में एकरुपता हो तब तो उन्हें अवश्य ही सही मान लेना चाहिये। वास्तविकता पर पहुँचने के लिये जितने भी सम्भव प्रयत्न हो सकते हैं उन सबका प्रयोग कर लेने के बाद जो कुछ मुझे सही मालूल पड़ा है, उन्हीं का वर्णन मैंने आगे की पंक्तियों में किया है।

अकबरी शासन के छठवें से नवें वर्ष तक पाँचों सूबों में एक ही प्रकार की परिवर्तन दरें * व्यवहृत होती थीं; यदि कुछ विभिन्नता भी थी तो वह स्थानीय थी। उदाहरण के लिये छठवें तथा सातवें वर्ष में गेहूँ की परिवर्तन दर ९० दाम प्रति इकाई थी। (इकाई चाहे जो प्रचलित रही हो) उसे यों भी कह सकते हैं कि एक बीघा गेहूँ बोने वाले को जितना अनाज लगान रूप में देना होता था उसकी कीमत ९० दाम

---

* लगान उपज का कोई भाग होती। उपज अन्न के रूप में होती है अतः स्वाभाविक है कि लगान गल्ले के रूप में हो। जब सरकार सिक्कों के रूप में लगान की माँग करती है तो आवश्यक होता है कि उतना गल्ला बेंच कर जो भी सिक्के मिलें उतने ही सिक्के लगान में दे दिये जायँ। इस दर को सरकार ही निश्चय करती है कि वह अमुक अन्न के अमुक वजन के लिये इतने सिक्के लेगी। इसी निर्धारित भाव को परिवर्तन दर कहते हैं।

थी। उस समय में भी आज कल की तरह विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न स्तर की उपज होती थी तथा प्रायः एक ही प्रदेश में कहीं की फसल खराब तथा कहीं की अच्छी हो सकती थी। चूँकि संचार साधन के अभाव से वजनदार चीजों या गल्ले का एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाना आसान काम नहीं था और चूँकि ये बाजार व्यवस्था अत्यधिक संकुचित थी, इसलिये यह मान लेना कि 'लाहौर से लेकर इलाहाबाद तक के विस्तृत क्षेत्र में परिवर्तन-दर एक ही थीं', असम्भव को ही सम्भव मान लेना है। ऐसी दशा में केवल इतना ही परिणाम निकाला जा सकता है कि सूची में दी हुई दर बाजार की दर नहीं है बल्कि वह शाही दर्बार की दर है।

उपरोक्त परिणाम की पुष्टि एक तथ्य से हो जाती है कि इन वर्षों में दालों पर अत्यधिक लगान ली गयी थी तथा अन्य खाद्यान्नों पर वह साधारण ही रही। जैसा कि पिछले अध्याय में कहा जा चुका है कि शेरशाह की दरसूची में दी गयी सूचनाओं के शाधार पर उपज के परिमाण का अनुमान लगाना इसलिये असम्भव है कि हमें उस समय में प्रयोग की जाने वाली इकाई ही नहीं मालूम है। हाँ उपज के सही अनुमान के समीप पहुँचने के लिये हम सापेक्षता का सहारा ले सकते हैं। इस सूची से हम दो अन्नों को लेकर उनकी सापेक्षता से कुछ परिणाम निकाल सकते हैं। इस सूची से हम उपज को ले लें तथा आईन के दूसरे भाग में वर्णित उसी वस्तु की तात्कालिक कीमत * ले लें तो हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि यदि गेहूँ की निर्धारणीय कीमत सिक्कों के रूप में हम १०० मान लें तो ज्वार के लिये उसी प्रकार की कीमत सिक्कों के रूप में ६६ होनी चाहिये और चने की ५३। छठवें वर्ष में ज्वार

---

* अकबरी शासन में विभिन्न अन्नों का जो भाव उचित समझा गया था उसका वर्णन आईन अकबरी में पृष्ठ ६० पर हुआ है। सन् १९१८ ई० के रायल एशियाटिक सोसाइटी के जर्नल में मैंने यह दर्शाया था कि इन कीमतों का सम्बन्ध बहुत कुछ ऐसा ही है जैसा कि सन् १९१०-१२ में था। इसी प्रकार के और भी सम्बन्ध ठीक उतरते हैं। पिछली ६ सदियों में चना और गेहूँ के भावों में अकल्पनीय परिवर्तन हुये हैं। परन्तु एक पौंड चने के बदले एक पौंड गेहूँ का सम्बन्ध अब भी प्रायः वैसा ही है। कुछ वर्तमान लेखक इस सम्बन्ध को भूल से गये हैं। अक्सर काबुली चना गेहूँ से भी महँगा होता है। साधारण चना सस्ता होता है। (Chronicle of Pathan Kings of Delhi) में मिस्टर थामस ने (पृ० ४२६) चने की कीमत अकबर के समय में १६½ दाम लिखा है परन्तु वह भाव काबुली चने का है। साधारण चने की कीमत ८ दाम ही थी।

की इस प्रकार की कीमत ५५ हुई थी। इसका अर्थ यह हुआ कि गेहूँ की अपेक्षा ज्वार की निर्धारणीय कीमत उस वर्ष में कम थी, परन्तु उसी वर्ष चने की कीमत ८९ थी न कि ५३ तथा मोथ (एक अन्य प्रकार की दाल का अन्न जिसे उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिलों में मोथी कहते हैं) की कीमत चने की अपेक्षा और भी ऊँची थी। इस गड़बड़ी को इस प्रकार समझा जा सकता है कि उस समय केन्द्र में सेना का जमाव अत्यधिक था। सेना के साथ घोड़ों, ऊँटों इत्यादि की बहुतायत होती है तथा घोड़ों को अधिकांश चना ही खिलाया जाता है, अतः चने का खर्च बढ़ा होगा। उस प्रदेश में लोग भी चने की दाल अधिक खाते हैं अतः चना महँगा हुआ होगा। साथ ही दूसरी प्रकार की दालों की माँग बढ़ी होगी अतः उनके भाव भी बढ़े होंगे। फलतः चने की निर्धारणीय कीमत ८९ तक जा पहुँची होगी। उपरोक्त विनेचना से चाहे और कुछ परिणाम भले ही न निकले परन्तु यह परिणाम तो अवश्य ही निकलता है कि लगान की समान दरें तथा दालों पर इस प्रकार अत्यधिक बढ़ी हुई दरें लगान निर्धारण की क्रिया को कार्य रूप में परिणत न हो सकने योग्य बना दिया अर्थात् यह ढंग ऐसा नहीं था कि उस पर अमल किया जा सके।

दसवें वर्ष में कुछ प्रगतिपूर्ण रद्दोबदल हुये। मुख्य फसलों का मूल्यांकन स्थानीय कीमतों द्वारा किया गया और इसीलिये दालों पर की दर वृद्धि समाप्त हो गयी। इस परिवर्तन की साक्षी है अन्नों की उच्चतम तथा न्यूनतम कीमतें जो इसी समय से सामने आने लगती हैं। अब तक किसी अन्न की कीमत केवल एक ही संख्या में होती थी दो संख्याओं में नहीं। उदाहरण के लिये दिल्ली से काफी दूर अवध में ९ वें वर्ष में गेहूँ की कीमत ९० दाम आँकी गई थी तथा १० वें वर्ष में ५२ से ६० दाम तक रक्खी गई थी। चने की कीमत ९वें वर्ष में ८० दाम थी वही १० वें वर्ष में ४० से ५६ दाम तक हो गई। किसी स्थानीय निर्धारण कर्मचारी को तो इतना अधिकार दिया नहीं गया होगा कि चाहे वह ४० दाम निर्धारित करे या ४० और ५६ के बीच कोई कीमत। इतना बड़ा अधिकार मिलना तो अवश्य ही बड़े सौभाग्य की बात होगी। इसीलिये ऐसा कहा जा सकता है कि ये कीमतें बाजार भाव पर आधारित थीं और ये ही बाजार भाव सूबे में स्थान स्थान पर रहे होंगे। गल्ले की माँग ज्यों की त्यों रहते हुये भी सल्तनत का अंश निर्धारण करने की दरें विभिन्न शायद इसीलिये हैं कि बाजार भाव घटता बढ़ता रहता था। यह मान लेने पर कि बाजार भाव सही सही निश्चित किये जाते थे तो इससे यह लाभ अवश्य ही हुआ होगा कि इसके द्वारा वे सभी दोष कम हो गये होंगे जो इधर जान पड़ने लगे थे, परन्तु मुख्य दोष तो यह था कि विभिन्न उपज की शक्ति रखने वाले विभिन्न क्षेत्रों में लगान-दर की

एकरूपता कैसे कायम हो सकती रही होगी और ज्यों ज्यों सलतनत की वृद्धि होती गयी त्यों त्यों यह दोष भी अधिकाधिक प्रकाश में आने लगा।

नकद लगान की दरों में १० वें वर्ष से लेकर १४ वें वर्ष तक स्थानीय अन्तरों के अतिरिक्त अन्य कोई परिवर्तन नहीं किया गया, परन्तु अकबरनामा के एक वर्णन से यह पता चलता है कि रक्षित प्रदेशों में नकद लगान के दरों की व्यवस्था समाप्त कर दी गयी थी। १३ वें वर्ष में यह मालूम होने पर कि मुजफ्फर खाँ का स्वास्थ्य कार्याधिक्य के कारण खराब हो रहा था, उससे रक्षित प्रदेश का प्रबन्ध ले लिया गया था और शहाबुद्दीन अहमद ख़ाँ को दे दिया गया था। इसके पूर्व मुजफ्फर खाँ साधारण शासन प्रबन्ध तथा महकमा लगान दोनों ही देखता था। इस नवीन अफसर ने लगान निर्धारण की सालाना कष्ट पूर्ण व्यवस्था को समाप्त कर दिया तथा उसके बदले में 'नसक' व्यवस्था चालू किया। जहाँ तक मेरा विचार है, नसक (परिशिष्ट द भी देखिये) शब्द सामूहिक निर्धारण के अर्थ देता है या सीरदारी का यह सामूहिक निर्धारण एक गाँव भर का भी हो सकता है या एक परगने भर का या पूरे सूबे का। यह नहीं लिखा गया कि यह प्रथा कब तक चलती रही मगर मेरा विचार है कि यह व्यवस्था अस्थायी ही रही और जब १५ वें वर्ष में कानूनगो दरें प्रचलित हुईं तो इसका खात्मा हो गया।

लगान की इन दरों को कैसे निश्चित किया जाता था इसका उल्लेख नहीं किया गया हैं। दरें भी आज सुरक्षित नहीं हैं परन्तु तत्सम्बन्धी जो भी सूचनायें प्राप्त * हैं उनसे यही परिणाम निकालना उचित होगा कि हर कानूनगो अपने परगने की प्रत्येक उपज की सूचना उन शकलों में दे देता रहा होगा जो भी शकल (Form) उस समय में पहले से ही इस्तेमाल होती रही हो। वही यह भी बताता रहा होगा कि किस अन्न के बारे में लगान कितनी लेनी चाहिये। वह इस लगान की सूचना अन्नों के वजन में ही देता रहा होगा। निस्संदेह उस वक्त उपज की तिहाई लगान रूप में ली जाती थी। इसका मतलब यह हुआ कि लगान निर्धारण मूल रूप अपरिवर्तित ही रहा परन्तु प्रत्येक परगने के लिये वह अलग रूप से लागू किया जाता था न कि सारे साम्राज्य पर एक रूप से। इसी गल्ले को स्थानीय भाव से सिक्कों के रूप में बदल दिया जाता था परन्तु इस प्रकार के हर फसल के लगान की आखिरी स्वीकृति बादशाह ही देता था और तभी कर्मचारी उस लगान की वसूली प्रारम्भ करते थे। इस व्यवस्था में पिछली व्यवस्थाओं से मुख्य अन्तर यही था कि यह लगान (गल्ले

---

* इस सम्बन्ध की सूचनाएँ परिशिष्ट 'य' में दी गई हैं।

के रूप में) प्रत्येक परगने की उपज पर आधारित थी न कि समूचे साम्राज्य की उपज पर। चूँकि परगनों की संख्या अधिक थी और हर परगने की उपज अलग अलग स्तर की होती थी, अतः यह कहना उचित ही ज्ञात होता है, कि प्रत्येक परगने से लगान की मांग की मात्रा अवश्य ही अलग अलग रकमों में होती होंगी, परन्तु इसकी भी आशा करनी चाहिये कि पड़ोसी परगनों से समान लगान की मांग की जाती रही होगी या उनमें बहुत कम अन्तर रहता रहा होगा। मुझे ऐसी संभावना जान पड़ती है, कि शायद इसी समय से लगान-निर्धारण-विभाग अलग अलग बनाये गये होंगे जैसा कि आगे चलकर दिखलायी पड़ते हैं, परन्तु इस संभावना को सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण नहीं मिलता।

जब उपरोक्त परिवर्तन किये गये उस समय महकमा लगान के अध्यक्ष मुजफ्फर खाँ तथा राजा टोडरमल थे। मुजफ्फर खाँ को साधारण शासन प्रबन्ध भी देखना पड़ता था। इस दशा में यही मान लेना युक्तिसंगत होगा कि कानूनगो दरों का प्रचलन राजा टोडरमल ने ही से किया होगा जो आज भी इतिहास में तथा लोक कथाओं में उतने ही प्रसिद्ध हैं। आगे चलकर* हम देखेंगे कि भविष्य में जो परिवर्तन लगान निर्धारण में किये गये उनकी जिम्मेदारी राजा टोडरमल पर नहीं थी, अतः जब कभी टोडरमल द्वारा सुधारों या परिवर्तनों की चर्चा हो तो इन्हीं परिवर्तनों को समझना चाहिये जिन पर हम इस वक्त विचार कर रहे हैं।

कानूनगो रेट के प्रचलन का पता हमें उन्हीं "उन्नीस वर्षों" में लगता है जिसकी चर्चा हम पिछले पृष्ठों में कर चुके हैं। पन्द्रहवें वर्ष में प्रत्येक सूबे की दरें ऐसी हैं कि उनका सम्बन्ध पिछले वर्षों की दरों से एकदम ही नहीं के बराबर है। इसी स्थिति में पहली बार फसलों (रबी तथा खरीफ) का विचार करने का निर्णय हुआ और यह सोचा गया कि तमाम अनुसूचियाँ (Schedules) अब पूरी पूरी तैयार हो जानी चाहिये। इनमें उच्चतम तथा न्यूनतम कीमतों में बहुत अन्तर है तथा एक सूबे की कीमत से दूसरे सूबे की कीमतों में बड़ा अन्तर है। इस बड़े अन्तर का कारण यही मालूम होता है कि ये कीमतें स्थानीय भाव की थी। इसीलिये कीमतों की दो संख्यायें दी गयी हैं। उपरोक्त वर्णन से यही प्रतीत होता है कि इस वर्ष अवश्य ही निर्धारण में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुये होंगे यद्यपि कुछ प्रदेशों में इनका प्रभाव एक दो वर्षों बाद दिखायी पड़ा।

---

* टोडरमल द्वारा चालू की गई दरों का वर्णन ख्वाजा खाँ के इतिहास के आधार पर है और इनका वर्णन परिशिष्ट 'फ' में किया गया है।

दूसरी ओर १५ वें से २४ वें वर्ष तक के वर्णन किसी प्रकार के परिवर्तन की सूचना नहीं देते। इतिहासकारों की खामोशी की पुष्टि इसी नतीजे से हो भी सकती है कि सामान्य रूप से जो व्यवस्था १५वें वर्ष में प्रचलित थी वही व्यवस्था बिना किसी विशेष परिवर्तन के चौबीसवें * वर्ष तक चलती रही। यह परिणाम भी निकाला जा सकता है कि जहाँ तक गल्ले की मांग का प्रश्न था, इस काल की दरें भी न्याय-पूर्ण रही होंगी क्योंकि लेखकों ने स्पष्ट ही कहा है कि निर्धारण में उक्त परिवर्तन केवल इस कारण से आवश्यक हुआ था कि उस समय तक पहुँचते पहुँचते प्रयोग में आने वाली सामयिक गणना की व्यवस्था का महत्व समाप्त हो चुका था। इस वर्णन में गल्ले की दरों के त्रुटिपूर्ण होने का कहीं उल्लेख नहीं हुआ है। आईन अकबरी (i पृष्ठ ३४७) में कहा गया है कि साम्राज्य वृहद् बृहत्तर होता जा रहा था, गल्ले को सिक्कों के रूप में परिवर्तन करने के लिये दरों को निश्चित करने में अत्याधिक विलम्ब हो जाता था और इसीलिये लगान की मांग भी प्रदेशों में देर से पहुँचती थी, इस देरी के कारण खेतिहर भी शिकायत करने लगते थे तथा जागीरदार भी। इन्हीं सब कठिनाइयों तथा शिकायतों को दूर करने के लिये परिवर्तन की आवश्यकता समझ पड़ने लगी। उपरोक्त कठिनाइयाँ तथा शिकायतें भी इस बात को समझ लेने पर उचित जान पड़ती है कि कानूनगो लोगों द्वारा दी गयी सूचनाओं तथा लगान की जब तक बादशाह द्वारा पुष्टि नहीं हो जाती थी, तब तक उसकी मांग न तो जागीरदारों से ही हो सकती थी और न जागीरदार द्वारा खेतिहरों से ही। इन सूचनाओं को बादशाह तक पहुँचने तथा उसकी स्वीकृति पाकर उनकी मांग को जागीरदारों तथा खेतिहरों तक लौटकर आने में संचारसाधन तथा उत्तम डाक व्यवस्था के अभाव में अत्यधिक समय अवश्य ही लग जाता रहा होगा। जब तक फसलों के भविष्य की समुचित कल्पना न कर ली जाय तब तक उनकी कोई भी कीमत आंक सकना त्रुटिपूर्ण हो सकता है। उत्तरी भारत में फसलों के कटने के समय के साथ ही साथ लगान-वसूली का भी समय चलता रहता है। अतः इस विलम्ब का परिणाम स्पष्ट है। मान लीजिये कि लगाननिर्धारण सम्बन्धी सूचनायें मुल्तान से एक हरकारा लेकर चला। उन सूचनाओं को घोड़े की पीठ का ही सहारा होता था, अतः उन्हें दिल्ली पहुँचने में पर्याप्त समय व्यतीत हो जाता होगा। यदि कहीं बादशाह दिल्ली में न हुआ तो डाक जहाँ वह हो उसके पास भेजी जाती थी। अपनी व्यस्तताओं के

---

* उन्नीसवें वर्ष में किसी विशेष परिवर्तन का वर्णन नहीं मिलता परन्तु कुछ लेखकों ने लिखा है कि निर्धारण-दरों में कुछ सामान्य परिवर्तन अवश्य हुये थे।

बीच बादशाह को स्वीकृति देने में भी कुछ समय लग जाता होगा । स्वीकृति लेकर हरकारा मुल्तान जब पहुँचता था तब सूबेदार लगान मांग की सूचना जागीरदारों को तथा जागीरदार अपने खेतिहरों को देते थे और तब लगान की वसूली प्रारम्भ होती थी। इस प्रकार हर वर्ष में प्रायः पिछले वर्ष की ही लगान वसूल की जाती रहती थी। कभी कभी शाही स्वीकृति के आने के पूर्व ही कर्मचारीगण लगान वसूली प्रारम्भ कर देते थे और इधर वसूली के मध्य में ही उन्हें यदि यह सूचना मिल गयी कि बादशाह ने लगान की मात्रा बदल दी है तो कर्मचारियों एवम् खेतिहरों को किन कठिनायों का सामना करना पड़ता होगा, इसकी कल्पना भली भाँति की जा सकती है। मजा तो यह है कि इन कठिनाइयों का खयाल करके हर कर्मचारी को काफी जल्दबाजी में काम करना पड़ता रहा होगा।

इस विषय का विस्तृत एवम् सुस्पष्ट वर्णन अकबरनामा (पृ० २८२) पर दिया गया है। इस ग्रंथ में एक नई बात लिखी गयी है, जिसको सरकारी लेखों में स्थान नहीं दिया गया है। इस नवीन बात से यह अर्थ ध्वनित होता है कि स्थान स्थान से लगान सम्बन्धी सूचनायें देने वालों में से कितने ही लोग नैतिकता का खयाल नहीं करते थे तथा इस प्रकार भ्रष्टाचार को प्रश्रय मिलता था। इस बात को बिना तर्क वितर्क के सही मान लेना ठीक होगा। उसी स्थान पर यह भी लिखा गया है कि इसी लिये महकमा लगान के उच्च कर्मचारी प्रायः परेशान रहा करते थे। अन्त में स्वयम् बादशाह ने ही इस भ्रष्टाचार को खत्म करने का प्रयास किया। इस बात को मान लेने पर हमें यही धारणा बनानी पड़ती है कि अगला 'दस-वर्षीय" प्रबन्ध स्वयम् अकबर का ही चलाया हुआ था न कि किसी अन्य केन्द्रीय अधिकारी का।

इस नवीन व्यवस्था में 'कानूनगो-दरों' की कमियों को दूर करने का प्रयास किया गया। उस प्रथा में सबसे बड़ी कठिनाई थी 'परिवर्तन-दरों' को निश्चित करने की। हर वर्ष की हर फसल में अनेक प्रकार के प्रयत्नों एवम् गणनाओं के पश्चात् दर निर्धारित हो पाती थी, परन्तु उसमें इतना विलम्ब लग जाता था कि वसूली प्रायः देर से शुरू हो पाती थी। अतः इस नवीन व्यवस्था में दर निर्धारित करने का झंझट ही खत्म कर दिया। अबकी बार यह व्यवस्था की गयी कि लगान की मांग गल्लों के रूप में न होकर अबसे सीधे सिक्कों के रूप में ही की जाने लगी। पहले की व्यवस्था में उपज का अनुमान लगा कर पहले गल्ले में लगान निश्चित की जाती थी फिर उस गल्ले को सिक्कों के रूप में बदला जाता था। इस अदला-बदली के लिये बाजार भाव भी जाँचने की जरूरत पड़ती थी। नवीन व्यवस्था में गल्ले की कीमत जानने की जरूरत ही नहीं थीं। लगान सीधे सिक्कों के

रूप में ही मांगी जाने लगी। यह लगान किस ढंग से निश्चित की गयी थी इसका तो कोई वर्णन * नहीं मिलता, हाँ तत्कालीन लेखों एवम् ग्रंथों के अध्ययन से यह परिणाम अवश्य निकाला जा सकता है कि यह लगान उतनी ही थी जितनी पिछले दस वर्षों के लगान की औसत थी। इन पिछले दस वर्षों में 'कानूनगो-दरें' प्रचलित थीं। इस व्यवस्था में कई परगनों को मिला कर निर्धारण-विभाग बनाये गये तथा हर विभाग के लिए खास लगान-दर (दस्तूर) † निश्चित कर दी गयी। निस्सन्देह यह व्यवस्था सफल हुई। प्रयास यह किया गया था कि एक विभाग के विभिन्न परगने भूमि के उपजाऊ होने की दृष्टि से समान हों।

हमारे सामने इस बात का कोई साधन नहीं है, जिससे हम गणितीय रूप से सिद्ध कर दें कि नवीन लगान दस वर्षों के लगान की औसत थी। 'कानूनगो' दरें उच्चतम तथा न्यूनतम होने से दोहरी होती थीं अतः औसत निकालने के लिये हमें मध्यम मार्ग का सहारा लेना पड़ेगा अर्थात् उच्चतम तथा न्यूनतम कीमतों के मध्य के आसपास ही कहीं वास्तविक कीमत मानकर औसत निकालनी पड़ेगी। मान लीजिये किसी वर्ष गेहूँ की कीमत उच्चतम ७५ दाम तथा न्यूनतम ४० थी, तो इसका अर्थ यह नहीं होगा कि कीमत ५०½ दाम ही होगी क्योंकि उच्चतम तथा न्यूनतम कीमतें थोड़े ही क्षेत्र में तथा थोड़े ही दिनों के लिये चलती हैं, अतः वास्तविक कीमत कुछ और ही हो सकती है। न्यूनतम उपज के क्षेत्रों में उच्चतम कीमतें तथा उच्चतम उपज के क्षेत्रों में न्यूनतम कीमतें ही प्रायः होती है। ज्यादातर क्षेत्र साधारण ही कोटि के होते हैं अतः वास्तविक सूबे भर की कीमत किसी सीमा के पास ही कहीं होगी। बिना औसत को जाने नवीन एवम् प्राचीन लगानों की तुलना हो ही नहीं सकती। गम्भीर अध्ययन एवम् निरीक्षण के पश्चात् यदि किसी अंक को सम्भव औसत मान ही लिया जाय तो सम्भव परिणाम यह होता है कि दस वर्षीय उच्चतम् तथा न्यूनतम् कीमतों में उतना अधिक अन्तर नहीं होगा जितना कि इसके पहले के वर्षों में था क्योंकि औसत के आसपास बने रहने की प्रवृत्ति ने सीमाओं को संकुचित कर दिया होगा तथा इस प्रकार उच्चतम सीमा नीचे आगयी होगी

---

* इन वर्णनों के श्रोत का वर्णन परिशिष्ट 'य' में देखें।

† सन् १९१८ के रायल एशियाटिक सोसाइटी के जर्नल में (पृ० १२, १३) यह स्पष्ठ कर दिया गया है कि 'दस्तूर' शब्द का प्रयोग आईन में किसी भूमि खण्ड के लिये नहीं किया गया है, यद्यपि कितने ही वर्तमान लेखकों की यही राय है। वास्तव में इस शब्द का प्रयोग लगान-दर के अर्थ में ही हुआ है।

तथा न्यूनतम सीमा ऊपर उठ गयी होगी। इस प्रकार के संकुचन के कारण उच्चतम तथा न्यूनतम कीमतों में मामूली ही अन्तर होना चाहिए, परन्तु इस प्रकार हिसाब लगाने से जो अंक प्राप्त होता है वह असल एंक से दस, या बीस प्रतिशत तक ऊँचा हो जाता है। ध्यान रखना चाहिये कि क्षेत्रफलीय इकाई के रूप में 'बीघे' का प्रचलन अकबरी शासन के इकतीसवें वर्ष में हुआ था, तथा यह बीघा पिछले क्षेत्रफलीय इकाई से २० प्रतिशत अधिक था। 'उन्नीस-वर्षीय' दरों की सूची भी बहुत बड़ी है तथा इस सूची को देखने से यह बात असम्भव मालूम पड़ती है कि कर्मचारियों ने इतनी बड़ी सूची (जो अवश्य ही पुराने बीघे के हिसाब से बनी होगी) को फिर से नये बीघे के अनुसार तैयार करने के लिये नवीन गणना की होगी। यदि दस वर्षीय दरें वास्तव में पिछले दस वर्षों के लगान की औसत मात्र ही थीं और बाद में नये बीघे के अनुसार निश्चित कर दी गयी तो उपरोक्त गणना में बीस प्रतिशत का अन्तर समझ में आता है। परन्तु इस तर्क को आवश्यकता से अधिक महत्व देना उचित नहीं होगा क्योंकि अध्ययन तथा निरीक्षण ऐसा नही हो सकता कि कभी गलत ही न हो। हमने ऊपर जो कुछ कहा है उसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि यह समझ में आ जाय कि नवीन व्यवस्था की लगान वास्तव में पिछले दस वर्षों की लगान का औसत ही थी जो नवीन बीघे के हिसाब से तैयार कर ली गयी थी।

इसके आगे के समय में अकबरी शासन में लगान-निर्धारण-व्यवस्था में किसी सुधार या परिवर्तन का उल्लेख नहीं हुआ है। हमें यह मान लेने में कोई बाधा नहीं है कि आईन में दी गई लगान की दरें २४वें तथा चालीसवें साल के बीच में कभी सुधारी गयी होंगी क्योंकि २४ वें वर्ष में तो वे प्रचलित ही की गयी थी तथा ४०वें वर्ष में आईन के लेख (Records) समाप्त हो गये थे। निस्सन्देह सामान्य व्यवस्था ज्यों की त्यों ही अपरिवर्तित रही। अकबर द्वारा किये गये इस परिवर्तन में दुहरा उद्देश्य था। प्रथम तो सामन्य लगान प्रबन्ध में कर्मचारियों को उन कष्टपूर्ण कार्यवाहियों से छुटकारा मिल गया जो उन्हें प्रतिवर्ष तथा प्रति फसल के समय करनी पड़ती थी, और अब वे सुविधा पूर्वक समय के अन्दर ही खेतिहारों के समक्ष लगान की मांग रख सकते थे और समय पर ही लगान आसानी से वसूल हो सकती थी। इस परिवर्तन का आर्थिक प्रभाव यह हुआ कि उपज की घट बढ़ तथा अन्य परिस्थियों के कारण कीमतों में उतार चढ़ाव के कारण जो भी लाभ या हानि अब तक राज्य के जिम्मे होता था उसका लाभ या बोझ अब सीधा किसानों के ऊपर आ गया। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या तत्कालीन लगान की दर को देखते हुये यह कदम बुद्धिमत्ता पूर्ण था कि सामायिक परिस्थितियों के दबाव का बोझ या सुविधाओं का लाभ उन खेतिहरों पर डाल

दिया गया जिन परिस्थितयों तथा सुविधाओं का कोई भी उत्तरदायित्व उन पर न था, और क्या इस प्रकार का उत्तरदायित्व परिवर्तन सम्भव भी था या नहीं। परन्तु इस प्रश्न का उत्तर इस परिवर्तन के बाद की उन घटनाओं में मिल जाता है जिनका वर्णन लेखों में हुआ है। अपने शासन काल के ४३ वें वर्ष में अकबर लाहौर में कुछ अधिक दिनों तक ठहर गया। उसके साथ उसके कर्मचारी भी बड़ी संख्या में थे, साथ में सेना भी थी। फलतः गल्ले की मांग बढ़ गयी और किसानों को अत्यधिक लाभ होने लगा। इस मँहगी का ध्यान करके उस प्रदेश की लगान २० फी सदी बड़ा दी गयी। इस प्रकार किसानों के लाभ का एक अंश सरकार ने लेना शुरू कर किया। अकबर जब लाहौर से लौटा तो उसने उस वृद्धि को खतम कर दिया क्योंकि उसके चले आने के बाद चीजों का भाव फिर उतर गया था। तत्कालीन इतिहासकारों ने इस प्रकार के लगान वृद्धि की अन्य घटना का वर्णन नहीं किया है। उनकी इस खामोशी से भी यही परिणाम निकाला जा सकता है कि उस काल में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन सामने नहीं आया।

उपरोक्त वर्णन तो इस बात का उदाहरण है जिसमें सरकार ने किसानों के लाभ का कुछ भाग ले लिया था परन्तु ऐसे वर्णन अनेक हैं जहाँ सरकार ने किसानों की हानि में भी भाग लिया था। अकबरी शासन के ३०वें वर्ष से लेकर ३५वें वर्ष तक के समय में एक सर्वथा नवीन प्रकार की आपत्ति * आयी। प्रायः समूचे उत्तरी भारत को इस आपत्ति का सामना करना पड़ा। इन दिनों मौसम खेती के लिये अप्रत्याशित रूप से अच्छा रहा। किसानों के घर अनाज से भर गये। अतिरिक्त गल्ले को बेंच कर ही किसान लगान चुकाने का प्रयत्न करता है परन्तु उस समय बेंचने वालों की ही अधिकता थी, खरीदने वाले कम थे। परिणाम यह हुआ कि गल्ले का भाव एकदम नीचे आ गया। पहले जितना गल्ला बेंचकर वे लोग लगान चुका दिया करते थे उसका दुगुना बेंचने पर भी लगान देने भर की रकम हाथ में नहीं आ रही थी। ऐसा मालूम होने लगा कि किसानों की सारी उपज इस भयानक सस्ती के कारण लगान देने में ही खतम हो जायगी। किसानों की परिस्थिति बादशाह को जब मालूम हुई तो उसने तुरन्त ही लगान में उचित कमी कर दी। तीन प्रदेश (इलाहाबाद, अवध और दिल्ली) ही इससे अधिक परेशान थे अतः इन प्रदेशों को लगान में पर्याप्त छूट दे दी गयी। यह छूट इन्हीं कारणों से इकतीसवें वर्ष में भी कायम रही। इस वर्ष आगरा प्रान्त को भी छूट दी गयी। तैंतीसवें वर्ष में छूट की रकम में फिर वृद्धि करनी पड़ी तथा ३५ वें वर्ष में फिर

* अकबरनामा iii ४६३, ४६४, ५३३, ५७।

इस में वृद्धि की गयी। उपरोक्त उदाहरण तो उपज वृद्धि के कारण दी गयी छूटों के हैं, पर आज भी अत्यधिक कमी के कारण यदि कभी छूट दी भी गयी हो तो उसका पता कहीं से नहीं चलता, यद्यपि पाँच वर्षों के बाद ही हम देखते हैं कि यह क्षेत्र अकाल ग्रस्त हो रहा था। अतः ऐसा विश्वास करने का पर्याप्त कारण है कि अकबर द्वारा की गयी व्यवस्था में कुछ ऐसा प्रबन्ध अवश्य रहा होगा, जिसमें पर्याप्त कारणों के होने पर स्वतः छूट की व्यवस्था रही होगी अर्थात् फसलों के अत्यधिक खराब हो जाने की अवस्था में बादशाह की स्वीकृत बिना ही छूट मिल जाया करती होगी और इसीलिये इन छूटों का वर्णन इतिहास में नहीं आ पाया। अतः संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि यद्यपि सिद्धान्ततः लाभ-हानि दोनों का ही भोक्ता खेतिहर ही था फिर भी प्रयोग में बादशाह भी किसानों के सुख दुःख में हिस्सा बँटाता था।

अकबरी शासन के प्राचीन सूबों (जो प्रान्त अकबर ने बाद में जीते थे वे इनमें नहीं शामिल हैं) में लगान निर्धारण के व्यवस्थाओं की विवेचना ऊपर हुई है। संक्षेप में कहने के लिये अकबर के शासन काल के प्रारम्भ में पहले पहल समूचे प्रदेश के लिये प्रति बीघा लगान गल्ले के रूप में आंकी जाती थी, फिर सरकारी भाव से ही उस गल्ले को सिक्कों में बदला जाता था। बाद में प्रति बीघा लगान स्थान भेद से विभिन्न होने लगी परन्तु उस दशा में भी गल्ले को सिक्कों का रूप देने के लिये सरकारी भाव ही काम में लाया जाता था। और भी आगे चल कर प्रतिबीघा लगान भी स्थानीय विभिन्नता के आधार पर आंकी जाने लगी, साथ ही उस गल्ले को सिक्कों में परिवर्तिन करने के लिये स्थानीय भावों से भी काम लिया जाने लगा। कुछ ही दिनों बाद इस गणना में भी असुविधा होने पर लगान पिछले अनुभवों के आधार पर सिक्कों के ही रूप में लगायी जाने लगी और जहाँ तक पता लगता है उसके अनुसार यही निर्धारण अकबर के शेष राज्य काल तक चलता रहा। सैद्धान्तिक रूप से उपज का तृतीयांश ही लगान लेने की व्यवस्था उसके पूरे शासन काल में बिना किसी रद्दोबदल के चालू रही। और भी जो परिवर्तन उस बीच हुये उनमें प्रशासनिक (लगान के ही विषय में) सुविधाओं का ही विचार मुख्य रहा और इनमें लगान का हिसाब (Calculation) कैसे हो इसी विषय को प्रधानता दी गयी। यहाँ यह कह देना अप्रासंगिक न होगा कि अकबरी शासन की पिछली शताब्दी के हालात का हमें पूरा ज्ञान नहीं है, या जो कुछ है भी वह अपूर्ण है। आईन अकबरी का ऐतिहासिक वर्णन उसके शासन के २४ वें वर्ष के बाद ही समाप्त हो जाता है। अकबरनामा अवश्य इस प्रकार के वर्णनों को आगे बढ़ाता है परन्तु उसका भी विस्तार ४३ वें वर्ष के बाद कम हो जाता है, क्योंकि इसी वर्ष में अबुल फजल दक्षिण की ओर राज कार्य से

भेज दिया गया। ये संक्षिप्त वर्णन भी ४६ वें वर्ष के बाद समाप्त हो जाते हैं क्योंकि उसी वर्ष इसके लेखक का कत्ल हो गया। बाद में जिस लेखक के द्वारा यह ग्रन्थ पूरा किया गया उसे इन व्यवस्थाओं में शायद तनिक भी रुचि नहीं थी, क्योंकि उसने ग्रामीण-व्यवस्था के बारे में एक वाक्य भी नहीं लिखा है। ऐसी अवस्था में इस बात की सम्भावना है कि कुछ नये परिवर्तन हुये हों परन्तु लेखक ने उस विषय पर लिखना पसन्द न किया हो। यह भी सम्भावना है कि उसके बाद ग्रामीण-व्यवस्था का उत्तरोत्तर विकास होता गया हो और लेखक ने उक्त विकास में लिखने योग्य कुछ पाया ही न हो, क्योंकि थोड़े समय में विकास की विभिन्न सीमा रेखाओं को समझ पाना साधारण कार्य नहीं होता। जो कुछ भी हो, हम इस विषय में अनुमान मात्र ही लगा सकते हैं।

लगान निर्धारण के विषय में अभी एक प्रश्न पर विचार करना बाकी रह गया है। वह प्रश्न यह है कि लगान निर्धारण की उपरोक्त व्यवस्था किसी सूबे के समूची भूमि पर लागू की जाती थी या रक्षित प्रदेश अथवा जागीरदारों की भूमि इस व्यवस्था से मुक्त थी या यह व्यवस्था उतने ही प्रदेश में लागू थी जितना केन्द्रीय महकमा-लगान द्वारा शासित होता था। पिछले अध्याय में हम देख चुके हैं कि लोदियों के शासनकाल में जागीरदार लोग अपनी जागीर में लगान निर्धारण के लिये चाहे जो भी व्यवस्था हो मानने के लिने स्वतंत्र थे। विचारणीय बात यह है कि क्या यह स्वतंत्रता अकबरी शासन प्रारम्भ होने तक चालू रही या शेरशाह ने बीच में ही उसे भंग कर दिया था। पूरा प्रयत्न करने के बाबजूद भी इस प्रश्न का ठीक ठीक जवाब मुझे नहीं मिल सका। पिछले वर्णनों से यह स्पष्ट है कि अकबर कालीन लगान निर्धारण में दूसरी बार के परिवर्तन (कानूनगो व्यवस्था) से जागीरदार सन्तुष्ट नहीं थे क्योंकि आईन में (i ३४८) उनके द्वारा की गयी शिकायतों का स्पष्ट वर्णन है। अकबरनामा में दिये गये एक वर्णन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि तृतीय परिवर्तन अर्थात् "दसवर्षीय व्यवस्था" का असर जागीरदारों पर भी तथा सरकारी बसूल करने वालों पर भी पड़ा था और दोनों उसे मानने को बाध्य थे। अतः यह माना जा सकता है कि यदि समूचे अकबरी शासन में नहीं तो उसके अधिकांश भाग में बादशाह से स्वीकृत दर उस प्रदेश की सभी प्रकार की भूमि पर लागू हुई थी जिस प्रदेश में उसे लागू किया गया था अर्थात् उस प्रदेश में पड़ने वाली जागीरों की भूमि भी इसी व्यवस्था के अन्तर्गत थी। ये व्यवस्थायें केवल उन्हीं प्रदेशों पर लागू नहीं होती थीं जहाँ के सरदार निर्धारित कर (लगान नहीं) बादशाह को दिया करते थे। निस्सन्देह इस अपवाद का कहीं उल्लेख नहीं हुआ है। इन प्रदेशों की उपज से बादशाह को कोई मतलब नहीं

होता था। सरदारों द्वारा निश्चित रकम (Tribute) उसे प्रति वर्ष मिल जाया करती थी।

उपरोक्त वर्णन का यह मतलब नहीं है कि जागीरदार को समूची व्यवस्था का पालन करना पड़ता था। प्रत्येक व्यक्ति सुविधा पसन्द होता है अतः जिसके कर्तव्यों की इतिश्री केवल लगान वसूल कर लेने से ही हो जाती है वह अवश्य वही मार्ग अपनायेगा जिसमें उसे कम से कम श्रम तथा असुविधा का सामना करना पड़े। अतः वह किसी भी ऐसी व्यवस्था से समझौता कर लेगा जिसे स्थानीय लोग पहले से ही जानते मानते हों। वास्तव में युक्ति संगत बात यह होगी कि बादशाह द्वारा स्वीकृत दरों को सारे देश में मौलिक मांग के रूप मान लिया गया होगा। कोई भी जागीरदार जितना पा सकता था उससे कम में क्यों सन्तुष्ट होने लगा। वह अवश्य कुछ अधिक वसूल करने का प्रयत्न करेगा। उसकी कोशिश बस इतनी ही होगी कि उसकी बदनामी न होने पावे, क्योंकि बदनाम होने में बादशाह का भय था। यदि बादशाह को पता लग गया कि अमुक जागीरदार ने निश्चित दर से वसूल किया है तो वह उसकी माँग तो जागीरदार से करेगा ही, हो सकता है कि सजा भी दे। पता लगाना इसलिये असम्भव नहीं था कि उचित से अधिक वसूल करने वालों के दुश्मन अवश्य ही हो जाते हैं और वे ही, बादशाह को इस अधिक वसूली की खबर पहुँचा देते होंगे। बादशाह ऐसी शिकायतों को सुनने को हरदम तैयार रहता था और वह यह बर्दाश्त नहीं कर पाता होगा कि उसी का कर्मचारी स्वयम् उसके द्वारा स्वीकृत दरों की इस प्रकार अवहेलना करे। इस विवेचन को देखने से यही मानना पड़ेगा कि जागीरों के खेतिहर भी उसी दर से लगान देते रहे होंगे जिस दर से रक्षित प्रदेशों के खेतिहर लोग देते थे। यदि जागीरदार ने कुछ अधिक भी वसूल कर लिया तो वह इतना अधिक नहीं होता होगा कि लोग उसकी खबर बादशाह तक पहुँचावें।

जागीरदारियां

पिछली पंक्तियों में हम देख चुके हैं कि अकबर कालीन जागीरदारी-व्यवस्था एवम् पूर्ववर्ती मुस्लिम कालीन जागीरदारी-व्यवस्था में एक मुख्य अन्तर था और यदि यही अन्तर न होता तो हम अत्यधिक सरलता से मान लेते कि जागीरदारी की व्यवस्था समूचे मुस्लिम-युग में अपरिवर्तित रही। मुगलकाल में इस व्यवस्था में रद्दोबदल की जितनी घटनायें हैं वे निश्चित हैं या निश्चित की जा सकती हैं, उन सभी का विस्तृत एवम् विवेचनापूर्ण अध्ययन इसलिये अधिक आवश्यक है कि

मुगलों के इतने अधिक विस्तृत साम्राज्य का यदि पूरा नहीं तो $\frac{७}{८}$ भाग तो अवश्य ही जागीरदारों के हाथ में था।

जैसा कि जागीरदार शब्द से ही प्रगट है, उसका मतलब ही यह होता है कि जागीर में जितनी आमदनी की भूमि जिस किसी को भी दे दी जाती थी, उस भूमि या प्रदेश की सारी उचित आमदनी तो उसकी होती ही थी, उसका सारा प्रशासनिक व्यय भी उसी के जिम्मे रहता था। इस जागीर के बदले में जो शाही खिदमत अंजाम देनी होती थीं उसमें भी यदि कुछ खर्च होता था तो वह खर्च भी उसी जागीर की आमदनी से ही करना पड़ता था। मुगलकाल में खिदमत को एक वचन में ही प्रयुक्त समझना चाहिये न कि बहुवचन में क्योंकि उस समय में किसी भी कर्मचारी को कब किस किस्म की खिदमत करनी पड़ेगी इसकी कोई स्पष्ट परिभाषा नहीं दी जाती थी। नागरिक प्रशासन से लेकर फौजी सेना के जितने भी काम हो सकते थे, समय एवम् आवश्यकता के अनुसार वे सभी कार्य जागीरदार को करने पड़ते थे। ऐसा भी समय हो सकता था कि जब जागीरदार के जिम्मे कोई कार्य नहीं रहता था, तो उसे दर्बार में ही हाजिरी देनी पड़ती थी। वह दर्बार में मौजूद रह कर हर प्रकार की खिदमत करने को तैयार रहता था। एक बार बादशाह की नौकरी कर लेने पर उसको सारा समय बादशाह की सेवा में ही देना पड़ता था। तत्कालीन नौकरी का आदर्श ही यही था कि दिन तथा रात का कोई भी समय उसका अपना नहीं होता था। बादशाह जब भी चाहता था उसे किसी प्रकार के कार्य में लगा सकता था। यदि फुरसत का भी वक्त होता और किसी कर्मचारी को कहीं जाने की इच्छा या आवश्यकता भी होती तो उसके लिये उसे बादशाह की आज्ञा लेनी पड़ती थी। उसके विपरीत कार्य को आज्ञा भंग एवम् कभी कभी विद्रोह की संज्ञा भी दी जा सकती थी। इस शाही खिदमतों के अतिरिक्त उसे एक कार्य और भी करना पड़ता था। उसे निश्चित संख्या में एक घुड़सवारों की फौज भी रखनी पड़ती थी जिसका खर्च वह स्वयम् वहन करता था, मगर वह सेना वास्तव में शाही जरूरतों के लिये रहती थी। बादशाह को जब भी आवश्यकता होती तभी वह इस घुड़सवार सेना को देश के चाहे जिस कोने में और चाहे जिस काम के लिये भेज सकता था। निस्सन्देह सेना रखने वाले लोगों को इस कार्य के लिये भी निश्चित रकम की जागीर मिला करती थी जो उसके पद एवम् सेना के अनुकूल होती थी। स्मरणीय है कि इस प्रकार की जागीर में भूमि नहीं दी जाती थी बल्कि उसकी आमदनी दी जाती थी; अर्थात् यह नहीं कहा जाता था कि अमुक को अमुक भूमि जागीर में दी गयी, बल्कि यह कहा जाता था कि अमुक कर्मचारी को अमुक आमदनी

(जैसे ४००० रु०) की जागीर दी गयी। कुछ कर्मचारियों को इन जागीरों के अतिरिक्त अलग से सालाना इनाम * की भी व्यवस्था थी। उस इनाम की रकम के बदले में प्राप्तकर्ता को किसी प्रकार की खिदमत नहीं करनी पड़ती थी। इस प्रकार किसी भी कर्मचारी की आमदनी तथा उसके इनाम की रकम यह सब कुछ सिक्कों के ही रूप में निश्चित की जाती थी न कि भूमि या प्रदेश के रूप में। हाँ इन वेतनों (आमदनी इनाम) को बादशाह या तो नकद खजाने से देता था या उतने ही रुपयों की आय की कोई जागीर उस कर्मचारी को दे दी जाती थी; या ऐसा भी होता था कि वेतन का कुछ भाग खजाने से नकद मिल जाया करता था तथा शेष के बदले में से जागीर दे दी जाया करती थी।

बीच के थोड़े से वर्षों को छोड़ कर सत्रहवीं शताब्दी के अन्त तक मुगल बादशाहों की यही परम्परा रही कि वे लोग प्रायः वेतन का भुगतान जागीरों के ही रूप में ही करते थे। खजाने से किसी को वेतन देना अपवादात्मक व्यवस्था थी, सामान्य नहीं। साधारणतः उन जागीरों को देने का महकमा लगान के ही जिम्मे था परन्तु बड़ी बड़ी जागीरें भी थी, जिनके केन्द्रस्थल में किले थे तथा जहाँ का महत्व आन्तरिक एवम् वाह्य सुरक्षा की दृष्टि से अधिक था, इनको देने का काम बादशाह ने खुद अपने ही हाथ में रक्खा था। रणथम्भोर तथा कालिंजर की जागीरें इसी प्रकार की थीं। इन स्थानों में सुदृढ़ दुर्ग बने हुये थे अतः इनके चतुर्दिक जो भी भूभाग होता था उसे जागीर रूप में बादशाह ही दे सकता था, महकमा लगान नहीं। जौनपुर की भी स्थिति इसी प्रकार की थी। कुछ क्षेत्र ऐसे भी थे, जिनका ऐतिहासिक महत्व अधिक था, जैसे कन्नौज तथा जौनपुर। इन प्रदेशों को भी जागीर रूप में देने का कार्य बादशाह स्वयम् ही करता था। परन्तु यह न भूलना चाहिये कि बड़े पदों की नियुक्तियाँ अधिकांश बादशाह के ही हाथों होती थीं। ऐसी दशा में जब बादशाह किसी को किसी पद पर नियुक्त करता था, किसी को तरक्की देता या इनाम की घोषणा करता था तो यह आदेश सीधे महकमा लगान को भेज दिया जाता था, जो इस प्रकार

---

* इनाम। इस प्रकार के इनाम की रकम उच्च कर्मचारियों के ही लिये थी। उस श्रेणी में शाहजादे, शाही परिवार के लोग विशेषतया औरतें इत्यादि खास तौर से अपने गुजारे की रकम का एक अंश नकद इनाम के रूप में पाते थे तथा शेषांश के लिये जागीर मिल जाया करती थी।

के सभी आदेशों का सुचारू रूपेण पालन * करता था। यह व्यवस्था कुछ न कुछ असुविधा पूर्ण अवश्य थी, क्योंकि नियुक्तियाँ तो हुआ ही करती थीं, पद वृद्धि भी होती ही थी तथा इनामों की भी घोषणा जब तब होती ही रहती थी। इन सब आदेशों को पालन करने में महकमा लगान को कितनी व्यवस्थायें करनी पड़ती थीं इसका अन्दाज लगाने के लिये एक काल्पनिक उदाहरण पर्याप्त होगा। मान लीजिये कि पंजाब के एक अधिकारी की पदवृद्धि हुई। पदवृद्धि का मतलब था वेतन वृद्धि तथा वेतन वृद्धि का यह मतलब हुआ कि अब उसे एक पहले से बड़ी आमदनी वाली जागीर दी जाय। कोई जरूरी तो है नहीं कि आवश्यकतानुसार बड़ी जागीर पास पड़ोस में पड़ी मिल जाय। सम्भव है कि ऐसी जागीर बिहार में हो। फिर उस कर्मचारी को बिहार की जागीर दी जाय, पंजाब वाली जागीर किसी और को दी जाय तथा बिहार के जिस जागीरदार की जागीर पंजाब वाले जागीरदार को दी गयी उसके लिये भी पद के अनुरूप किसी जागीर की व्यवस्था की जाय। इस प्रकार एक ही नई नियुक्ति अथवा पद वृद्धि से न जाने कितने रद्दोबदल आवश्यक हुआ करते होंगे, इसकी कल्पता भली प्रकार की जा सकती है। आवागमन के साधनों के अभाव में अपनी अधीनस्थ घुड़सवार सेना तथा अनेकानेक कर्मचारियों तथा उनके और अपने परिवारों सहित पटना से लाहौर और लाहौर से पटना आने जाने के खर्च और समय का अनुमान लगा लेना सहज है।

अकबरी शासन में महकमा लगान का संगठन किस प्रकार का था तथा उसकी आन्तरिक व्यवस्था कैसी थी यह बताने के लिये कोई वर्णन प्राप्त नहीं है। हाँ बिखरे सन्दर्भों से यह पता चलता है कि उस समय में भी तथा उसके बाद की शताब्दी में भी इस महकमे में दो शाखाएँ होती थीं। इसमें से एक शाखा तो रक्षित प्रदेशों का प्रबन्ध करती थी और दूसरी शाखा (जिसे वेतन कार्यालय कहते थे) जागीरदारी के मामलों की पूरी देख भाल करता था। द्वितीय शाखा के कार्य-विवरण का अनुमान हम भली भाँति कर सकते हैं। किसी अधिकारी की नियुक्ति हुई। उसका वेतन उस विभाग द्वारा निश्चित किया गया जिसमें तथा जिसके द्वारा उसकी नियुक्ति हुई। अब वह व्यक्ति अपना नियुक्ति पत्र लेकर वेतन-कार्यालय में आया। वेतन कार्यालय ने

---

* इस प्रकार की कार्यवाही का विस्तृत वर्णन आईन (१ १९३) में किया गया है परन्तु वह वर्णन केवल फौज सम्बन्धी नियुक्तियों का ही है अन्य प्रकार की नियुक्तियों एवम् पद वृद्धियों का वर्णन वह नहीं करता। महकमा लगान द्वारा आदेश पालन का पता तो यत्र तत्र बिखरे वर्णनों से लगता है।

उसके नियुक्ति पत्र में उसका वेतन देखा। अब कार्यालय का कर्तव्य था कि उस व्यक्ति को एक ऐसी जागीर दे दे जिसकी वार्षिक आय उसके वार्षिक वेतन के बराबर हो। यदि ऐसी कोई जागीर (सूबा, जिला या परगना) खाली हुई तब तो कोई अड़चन नहीं पड़ती थी परन्तु यदि उस आमदनी की कोई जागीर खाली न हुई तो अनेक प्रकार के रद्दोबदल की आवश्यकता पड़ सकती थी। इस रद्दोबदल का फायदा उठाने वाले लोग भी होते ही होंगे। कोई कर्मचारी यह चाहता रहा होगा कि उसकी जागीर के बदले कोई दूसरी जागीर उसे मिल जाती। जागीरों में भी अच्छी तथा खराब जागीरें अवश्य होती रही होंगी। अच्छी जागीरें उन्हें कहते रहे होंगे जिनके खेतिहर शान्तिमय जीवन बिताने के आदी होते रहे होंगे। ऐसी जागीरों को हर व्यक्ति पाना चाहेगा। ऐसी दशा में वेतन कार्यालय में सिफारिशें भी पहुँचती होंगी शायद रिश्वत भी दी जाती रही हो। तात्पर्य यह कि अपने उद्देश्य * की सिद्धि के लिये नाना प्रकार के हथकंडे काम में लाये जाते रहे होंगे। ऐसे मामलों के निपटाने में वह लेखा सहायक होता रहा होगा जिसमें विभिन्न गाँवों, परगनों, शिकों (Districts) तथा सूबों के मूल्यांकन की सूची शामिल होगी। मूल्यांकन की चर्चा हम अध्याय दूसरे में कर चुके हैं। इसी की सहायता से इस प्रकार के सभी मामलों का निपटारा होता रहा होगा।

इतिहास के ग्रंथों में इस बात पर कहीं भी प्रकाश नहीं डाला गया है कि अकबर के शासन काल में पहला मूल्यांकन किन आधारों पर तथा कब किया गया। हमें सिर्फ इतना ही पता लगता है कि मूल्यांकन का वर्णन 'रकमी' शब्द से हुआ है जिसका तत्सम्बन्धी अर्थ स्पष्ट नहीं है। अकबरी शासन के प्रारम्भिक काल में यह शब्द व्यवहार में आता रहा है तथा बाद में इससे काम चलता न देख कर इसे हटा दिया गया था। † सरकारी लेखों को देखने से मैं जिस परिणाम पर पहुँचा हूँ कि उसके अनुसार बैरम खाँ के संरक्षण-काल में जागीरें धड़ल्ले से दी जाती थीं

---

* एक बार बादशाह ने एक लगान वसूल करने वाले को पेंशन दी। इस हुक्म को लेकर वह वेतन कार्यालय में गया तथा वहाँ जागीर तै करने में तत्कालीन विभागीय अध्यक्ष राजा टोडरमल से झगड़ा हो गया। हाकिन्स ने जागीरों की अदला बदली का वर्णन किया है। उस समय सारा काम इस बात पर निर्भर करता था कि किसी व्यक्ति की महकमा लगान में कैसी पहुँच है। हाकिन्स जहाँगीर के समय में आया। सम्भव है अकबर काल में भी यहाँ रहा हो।

† कृपया परिशिष्ट य देखिये।

और इसीलिये तत्कालीन लघु साम्राज्य की आय पर्याप्त नहीं होती थी। अतः महकमा लगान ने इस कठिनाई को हल करने के लिये यह उपाय निकाला कि जागीरों का मूल्यांकन ही अधिक कर दिया अर्थात् कम लगान वाली जागीरों को सरकारी कागजों में अधिक लगान वाली जागीर करके दिखाने लगे। परन्तु यह बढ़ा हुआ मूल्यांकन भी ईमानदारी से नहीं किया गया। कहीं ऐसा हुआ कि वास्तविक लगान मूल्यांकन की तीन चौथाई होती थी, कहीं आधी ही और कहीं कुछ। ऐसी दशा में किसी कर्मचारी को अन्दाज ही नहीं लगता था कि उसके वेतन रूप में उसे क्या मिलने वाला है। ऐसी दशा में वही कर्मचारी लाभान्वित हो सकता था जिसके ऊपर महकमा लगान के कर्मचारियों की कृपा होती हो, और इस कृपा को प्राप्त करने के लिये कर्मचारी क्या न कर डालता होगा। सभी की यह इच्छा होती है कि उसे जितना ही अधिक मिले उतना ही ठीक है। फिर तो घूस और भ्रष्टाचार का ही बोलबाला होना चाहिये।

जिस मूल्यांकन का वर्णन ऊपर हुआ है उसे प्रायः असुविधाजनक तथा दोषपूर्ण पाया गया, अतः अपने शासन के ग्यारहवें वर्ष में अकबर ने आदेश दिया कि नया मूल्यांकन किया जाय। यह मूल्यांकन किस ढंग से तथा किस आधार पर किया गया इसका कोई पता नहीं चलता। यदि यह मान लें कि वास्तविक उपज ही इस नवीन मूल्यांकन का आधार थी तो वह इसलिये सही नहीं मालूम पड़ता कि नवीन मूल्यांकन की गणना वास्तविक उपज के मेल के अत्यधिक समीप होते हुये भी बिलकुल एक नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि वास्तविक उपज के अनुसार गणना करके फिर किसी विचार से (जिसे जानने का कोई साधन नहीं है) उसे फिर संतुलित कर दिया गया है। यह बात इसलिये अधिक महत्वपूर्ण नहीं है कि यह मूल्यांकन बहुत ही थोड़े समय तक चालू रहा। अकबरनामा के अध्ययन (iii ११७) से यह स्पष्ट हो जाता है कि महकमा लगान की कार्य प्रणाली में परिवर्तन के साथ सरकारी लेख तो परिवर्तित होते नहीं थे, अतः लेखों के अंकों में घट बढ़ करके लिपिक (Clerks) लोग भ्रष्टाचार का दर्वाजा खोले रखते थे। अपने उद्देश्यों की सिद्धि के लिये लिपिक लोग मनमाना परिवर्तन करते रहते थे। इसका परिणाम यह हो सकता था कि शाही सेवा (Imperial Service) के लोगों का लालच था असन्तुष्ट के कारण नैतिक पतन हो जाय।

अकबर ने इस परिस्थिति के प्रति बड़ा कड़ा रुख अपनाया क्योंकि अपने शासन के १८ वें वर्ष में उसने इन परिस्थितियों में सुधार करने के लिये सख्त कदम उठाया। उसने शाही सेवा के कर्मचारियों का अधिकांश वेतन नकद खजाने से देने

की घोषणा की तथा उत्तरी सूबों को सीधे अपने शासन में ले लिया। चाहे यह कार्य बादशाह ने अपने स्वतन्त्र विचार से किया हो अथवा टोडरमल की प्रेरणा से किया हो, किन्तु राजा टोडरमल ने इस योजना का स्वागत किया। टोडरमल के ऊपर के अधिकारी मुजफ्फर खाँ ने इसका विरोध किया और इसीलिये योजना के अनुसार कार्य प्रणाली दूसरे साल ही अपनाई जा सकी। अपने विरोध के कारण ही मुजफ्फर खाँ बादशाह की नजरों से गिर गया। उन्नीसवें वर्ष में मुहस्सिलों (Tax Collectors) की एक बड़ी संख्या नियुक्त की गयी। प्रत्येक विभाग (Circle) में एक एक मुहस्सिल भेजा गया। इतनी बड़ी योजना का मूल्यांकन आगे के लिए छोड़ कर यहाँ इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि यह योजना पाँच वर्षों तक चालू रही और उसके बाद इसे खत्म कर दिया गया। जहाँ तक प्रत्यक्ष शासन का प्रश्न है, यह योजना * पुराने सूबों तक ही सीमित रही। मुलतान तथा लाहौर, दिल्ली तथा आगरा, अवध तथा इलाहाबाद और अजमेर तथा मालवा भी इस प्रत्यक्ष शासन में लिये गये। परन्तु ऐसा विश्वास करने का पर्याप्त कारण है कि प्रमुख सरदारों के प्रदेश अवश्य ही प्रत्यक्ष शासन में न लिये गये होंगे और सम्भव है कि अजमेर तथा मालवा भी इस प्रत्यक्ष शासन के बाहर रहे हों, क्योंकि इस भाग में प्रमुख सरदारों का बाहुल्य था।

तत्कालीन ऐतिहासिक ग्रन्थों के देखने से पता लगाता है कि उन प्रदेशों में भी तीन जागीरें पड़ती थी जहाँ प्रत्यक्ष शासन लागू था। इनमें से दो यानी रणथम्भौर † तथा चुनार प्रशासनिक इकाइयाँ थीं जहाँ पर दुर्ग थे और उन दुर्गों के साथ जागीरें भी लगी हुई थीं परन्तु इन जागीरों में भी वही नियम लागू थे जो प्रत्यक्ष शासन के प्रदेशों में लागू थे। कुछ राजनैतिक कारणों से कुछ राजपूतों को पंजाब में जागीरें मिली हुई थीं। ये जागीरें उनके पास शासन के तेईसवें वर्ष तक बनी रहीं। ये जागीरें अपवाद स्वरूप थीं। इससे यह पता चलता है कि शासन के उन्नीसवें वर्ष से २४ वें वर्ष तक इस प्रदेश में सामान्यतः जागीरें नहीं दी जाती थीं अतः इस प्रदेश में मूल्यांकन की कोई अवश्यकता नहीं थी।

शासन के २४ वें वर्ष में पिछले अनुभवों के आधार पर नया मूल्यांकन किया गया। इन ग्रन्थों के समझ में न आने वाले वर्णनों में से कुछ मैं समझ सका हूँ, उसके

---

* यहाँ सूबा शब्द सुविधा के लिये ही प्रयुक्त हुआ है अन्यथा शासन के २४ वें वर्ष के पहले सूबों का नाम नहीं था।

† अकबरनामा तीसरे भाग का पृष्ठ १५८ चुनार के लिये, २१० रणथम्भौर के लिये तथा २४८ पंजाब के लिये देखें।

अनुसार यह मूल्यांकन उन दस वर्षों के औसत के बराबर था जिनमें कानूनगो दरें प्रचलित थीं तथा उत्तम फसलों की उपज के कारण इसी औसत को थोड़ा बढ़ा दिया गया था। नवीन मूल्यांकन के चाहे जो भी आधार रहे हों, परन्तु इनसे एक बात पूर्णतया स्पष्ट हो जाती है कि बादशाह जागीरदारी प्रथा को फिर से चलाना चाहता था। अगली ही दशाब्दी में जागीरों के अनेकानेक वर्णनों से उपरोक्त मान्यता की पुष्टि हो जाती है। इन वर्णनों को यदि संक्षेप में देना चाहें तो वे इस प्रकार होंगे :—

(कोष्ठों में दी गई पृष्ठ संख्या अकबरनामा के तीसरे भाग की हैं।)

१—चौबीसवें वर्ष के अन्त में कुछ व्यक्तियों को एवं इलाहाबाद तथा अवध के समस्त जागीरदारों को आदेश दिया गया। (२८७)

२—पचीसवें वर्ष में मालवा (३१४) तथा अजमेर (३१८) के समस्त जागीरदारों को आदेश दिया गया; साथ ही लाहौर (३४५) के जागीरदारों का भी वर्णन है।

३—छब्बीसवें वर्ष में हमें लाहौर की दो जागीरों (३४८, ३५०) का वर्णन तथा बहराइच (३७०) की कई जागीरों का वर्णन पढ़ने को मिलता है।

४—सत्ताईसवें वर्ष में दिल्ली प्रान्त में एक जागीर का वर्णन (३९७) मिलता है, अट्ठाईसवें वर्ष में अवध तथा इलाहाबाद (३९८) के विभिन्न जागीरदारों को आदेश दिया गया, आगरा प्रान्त में (४१५) कालपी के एक जागीरदार को तथा मालवा प्रान्त (४२२) के रायसीन के जागीरदार को आदेश दिये गये।

५—तीसवें वर्ष में सभी जागीरदारों को आदेश दिये गये कि वे (४६४-४६५) दक्खिन पर चढ़ाई करने के लिये तैयार हों।

६—इकतीसवें वर्ष में मालवा की एक जागीर (४८९) तथा अजमेर की एक जागीर (५१२) का वर्णन पढ़ने को मिलता है।

७—बत्तीसवें वर्ष में (५२५) लाहौर की एक जागीर तथा चौंतीसवें वर्ष में मुल्तान (५३६) की जागीर (शायद पूरा सूबा ही एक जागीर के रूप में था) के बारे में पढ़ने को मिलता है।

आगे चल कर हम देखते हैं, कि पिछले पृष्ठों में अकबरी शासन द्वारा दी गई जिन छूटों का वर्णन हम कर चुके हैं, तथा जिनके द्वारा इलाहाबाद, अवध, आगरा, दिल्ली तथा लाहौर प्रदेशों के लोगों को राहत मिली थी, उन छूटों की घोषणा के के साथ शायद यह निर्देश भी था कि जागीरदार लोग भी अपने क्षेत्र में इसी के अनुसार छूट दे दें।

अतएव हम देखते हैं कि नीति परिवर्तन का कोई उल्लेख इन ग्रन्थों में न होते हुये भी उपरोक्त साक्षियों के आधार पर सिद्ध होता है कि चौबीसवें वर्ष के बाद जागीरदारी की व्यवस्था उन प्रदेशों में भी भली भाँति प्रचलित हो गयी, जहाँ वह पहले खत्म कर दी गई थी। जहाँगीर ने सिंहासन पर बैटते समय जो घोषणा की (तुजक पृ० ४) उसको देखने से तो इस बात में कोई सन्देह ही नहीं रह जाता कि उस समय तक पहुँचते पहुँचते सारा देश ही जागीरदारों के हाथ में चला गया था। कुछ पुराने इतिहास लेखकों ने अकबर की नीति को समझाते समय कहा है कि १८ वें वर्ष में अकबर द्वारा किये गये कार्यों से सिद्ध होता है कि वह जागीरदारी की प्रथा को सख्त नापसन्द करता था और उसकी इच्छा थी कि साम्राज्य के शासन प्रबन्ध में जागीरदारी की व्यवस्था के बिना ही काम चलाया जाय। पहले मैं भी उसी ढंग से सोचता था, परन्तु उपरोक्त वर्णनों को पढ़ने से पता चलता है कि हम सभी लोग गलती पर थे। सम्भव है कि अत्यधिक भ्रष्टाचार के कारण उसे इस प्रथा से तत्कालिक घृणा हो गई हो और उसने कोई दूसरी प्रकार की व्यवस्था चलाने की सोचा हो और दूसरी व्यवस्था की अच्छाई व बुराई को पाँच वर्षों तक देखने के बाद फिर पुरानी व्यवस्था को ही अपना लिया हो। मेरा विचार तो यह है कि अकबर ने जागीरदारी व्यवस्था को एकदम से समाप्त न करके उसे तब तक के लिये स्थगित भर कर दिया था जब तक कि उचित मूल्यांकन नहीं हो जाता। बस प्रकार ज्योंही उसने देखा कि अब फिर उसे प्रचलित किया जा सकता है तो उसने तुरन्त जागीरदारी व्यवस्था को प्रचलित कर दिया। निस्सन्देह पर्याप्त अनुभव प्राप्त करके ही उसने इस व्यवस्था को फिर से चलाया होगा। इनिहास लेखकों का दृष्टिकोण * चाहे जो हो, पर सत्य यही है कि अकबरी शासन के २५ वें वर्ष के बाद से ही समूचे साम्राज्य में जागीरदारी व्यवस्था ही तत्कालीम ग्रामीण-व्यवस्था का सर्वस्व थी और ऐसी ही स्थिति शताब्दी के अन्त तक चलती रही।

यह कहा जा चुका है जि जागीरदार उतनी ही लगान वसूल कर सकता था जितनी की स्वीकृति बादशाह से मिल चुकी होती थी तथा यदि कभी वह कुछ अधिक भी वसूल कर लेता था तो अधिक रकम उसे सरकारी खजाने में जमा कर देनी पड़ती

* अकबरनामा के जिस अनुच्छेद में आपत्तिकालीन वर्णन दिये गये हैं उसी में आगे लिखा है कि पहले बादशाह ने देश को अपने प्रत्यक्ष शासन में लिया। इससे प्रतीत हुआ कि बादशाह ने कोई अन्य कदम भी उठाया होगा परन्तु उस दूसरे कदम का कोई वर्णन नहीं हुआ है।

थी। अकबर के शासन काल में इस प्रकार की किसी घटना का प्रमाण नहीं मिलता, अतः इसका विवेचन आगे चल कर उसी समय पर होगा जब उसके प्रमाण प्राप्त हो सकेंगे। हो सकता है कि इस प्रकार की अतिरिक्त वसूली आगे चल कर इसलिये चल पड़ी हो कि समय समय पर मूल्यांकन में परिवर्तन हुआ करते थे, परन्तु इस बात का भी कोई प्रमाण नहीं मिलता। हम इतना ही कह सकने की स्थिति में हैं कि जिस प्रकार का मूल्यांकन अकबरी शासन के २४ वें वर्ष में हुआ, इस प्रकार के किसी अन्य मूल्यांकन का प्रमाण आगे नहीं मिलता।

इस विषय का वर्णन समाप्त करने के पहले हमें उस अन्तर को स्पष्ट कर देना चाहिये जो शाही खिदमत अंजाम देने के वेतन के बदले में दी गई जागीर तथा विभिन्न प्रकार के वक्फों के बीच था। इन वक्फों को सरकारी कागजों में "सपुर्गल" शीर्षक के अन्तर्गत दिया गया है। इन दोनों का मुख्य अन्तर उनमें प्रयुक्त होने वाली कार्य प्रणाली में ही है। जिस प्रकार बादशाह नियुक्तियाँ करता था, पद वृद्धि करता था तथा पेंशनें देता था उसी प्रकार वह वक्फों को भी मंजूर करता था। इनकी मंजूरी बादशाह की इच्छा मात्र पर निर्भर होती थी। जागीरों का देना वेतन कार्यालय के जिम्मे हुआ करता था परन्तु इन वक्फों का प्रबन्ध एक केन्द्रीय उच्चाधिकारी के जिम्मे रहता था जिसे 'सदर' कहते थे। ये वक्फ भूमि के रूप में भी होते थे तथा नकद भी। इस महकमे का इतिहास * भी एक रूप नहीं है और हमें इसके विस्तार में जाने की आवश्यकता भी नहीं प्रतीत होती। कभी-कभी तो इस महकमे का खर्च अत्यधिक बढ़ कर अपव्यय की सीमा को भी पार कर जाता था और कभी आर्थिक सुधार के नाम पर यह महकमा घोर मितव्ययी हो जाता था; फिर भी इस महकमे के कारण जितनी रकम सरकारी खजाने से निकल जाती थी या सरकारी खजाने में आने से रह जाती थी, वह कोई साधारण रकम नहीं होती थी। इन वक्फों पर इनके अधिकारियों का स्वामित्व बादशाह की इच्छा मात्र पर निर्भर रहता था। कभी ये वक्फ किसी एक व्यक्ति के जीवन भर के लिये दिये जाते थे तथा कभी अनेक व्यक्तियों के जीवन भर के लिये; परन्तु शासन नीति में परिवर्तन के कारण तथा कभी-कभी तो कर्मचारी के परिवर्तन मात्र से या तो इनका अस्तित्व ही समाप्त हो जाता था या उनकी हैसियत ही घट जाया करती थी। मि० ब्लाकमैन द्वारा उद्धृत वर्णनों से पता

* इसका वर्णन आईन के प्रथम भाग में पृष्ठ १९८ पर हुआ है तथा इसका इतिहास का सारांश मि० ब्लाकमैन के अनुवाद में भी दिया गया है। नकद वक्फों को वजीफा कहते थे तथा भूमि वाले वक्फ को 'मददे-मुआश' कहते थे।

चलता है कि इस प्रकार के परिवर्तन अपवाद रूप से नहीं बल्कि सामान्य रूप से होते रहते थे।

एक दूसरा अन्तर और भी है। जागीरें वेतन के बदले में दी जाती थीं अर्थात् यह कहा जाता था कि अमुक को अमुक आमदनी की जागीर दी गयी परन्तु वक्फ भूमि के रूप में दिये जाते थे अर्थात् कहा जाता था कि अमुक को इतने बीघा भूमि वक्फ में दी गयी, जागीरदार को अपने वेतन के बराबर की जागीर वेतन कार्यालय से हासिल करनी पड़ती थी और जब तब वह परिवर्तित भी हो जाया करती थी परन्तु वक्फ (जिसे अब मद्दे मुआश कहना ही उपयुक्त होगा) देते समय ही यह तै हो जाता था कि यह भूमि कहाँ होगी और उसमें परिवर्तन नहीं होता था। जिस स्थान में वह भूमि होती थी वहां के स्थानीय कर्मचारी को आदेश दे दिया जाता था कि वह अमुक व्यक्ति को अमुक क्षेत्रफल की भूमि अन्य भूमि से अलग कर के दे दे और ऐसी कार्यवाही कर दे कि उसको उस भूमि पर कब्जा मिल जाय। इस काल में वक्फों को देते समय जो कार्यवाही की जाती थी उसका पूरा तथा विस्तृत विवरण हमें गुजरात के एक पारसी परिवार में रक्षित रूप में मिला जो विभिन्न दस्तावेजों के रूप में था। इनमें से कुछ वक्फ तो शुद्ध वैयक्तिक थे तथा कुछ वक्फ किसी व्यक्ति और उसके बच्चों के नाम थे। इसके कई अर्थ हो सकते हैं परन्तु कम के कम इतना तो निश्चित है कि ये वक्फ कम से कम दो पीढ़ी के लिये तो होते ही थे। दस्तावेजों में से एक से यह पता चलता है कि अपने शासन के चालीसवें तथा अड़तालीसवें वर्ष के बीच अकबर ने एक ऐसा हुक्म दिया था जिसके अनुसार गुजरात प्रान्त के सारे वक्फों की हैसियत आधी कर दी गयी थी, इससे हमारी यह मान्यता पुष्ट हो जाती है कि इन वक्फों का वजूद बादशाह की इच्छा पर ही निर्भर होता था। साथ ही वक्फों को स्थायित्व देने या नवीनीकरण के लिये जिस प्रकार की भाषा का प्रयोग किया गया है उससे स्पष्ट प्रकट होता है बादशाह ही नहीं उसके अधीनस्थ कर्मचारी भी इन वक्फों के मामलों में हस्तक्षेप कर सकते थे।

ये वक्फ टूट तो सकते ही थे, उनकी हैसियत में भी घट बढ़ हो सकती थी। इनके पाने वालों को यह आशा तो अवश्य ही बँध जाती रही होगी कि वे तथा उनके बच्चे सल्तनत की इस उदारता का लाभ सदा ही उठाते रहेंगे। इन प्रकाशित दस्तावेजों के अतिरिक्त अन्य बहुत से दस्तावेजों के सुरक्षित रक्खे होने की बात प्रायः सुनने को मिलती है। अतः इसका तात्पर्य यह हुआ कि इनको सुरक्षित रक्खे जाने योग्य समझा गया। इनकी महत्ता इसलिये नहीं है कि आज भी उनके रखने वालों को उनसे कोई लाभ हो सकता है, वरन् वे इसलिये महत्वपूर्ण हैं कि उनसे यह तो

पता चलता है कि अमुक परिवार अमुक समय में अमुक बादशाह का कृपा पात्र रह चुका है। खासकर मुस्लिम युग में इनकी महत्ता इसलिये थी कि जब भी कोई प्रार्थना बादशाह के सामने की जाती थी तो ये दस्तावेज इस परिवार की राजभक्ति के प्रमाण में पेश किये जाते थे और इनसे प्रार्थना का वजन बढ़ जाता था।

मुहस्सिल (Tax Collectors)

पिछले पृष्ठों में हमने कहा था कि कुव्यवस्था से तंग आकर अकबर ने मुहस्सिलों की एक बड़ी तादाद लगान वसूल करने के लिये नियुक्त किया था। उस समय वह बात अबुल फजल को आधार मान कर लिखी गयी थी। अबुल फजल अकबर की दी हुई रोटी खाता था। उसकी सारी शानशौकत, आदर मान सब कुछ बादशाह की ही बदौलत था अतएव बादशाह पर श्रद्धा रखना तथा ऐसी बातें लिखना उसके लिये स्वाभाविक ही था जो बादशाह को आदरणीय एवम् श्रद्धेय जान पड़े तथा आने वाले समय में भी लोग उसके श्रद्धेय को श्रद्धेय ही समझें। इस विभाग के अन्तर्गत हम एक दूसरे लेखक अब्दुल कादिर बदायूँनी का भी सहारा लेकर उक्त विषय पर विचार करेंगे। हम देखेंगे कि अबुल फजल द्वारा दिये गये वर्णन से बदाऊनी का वर्णन एक दम भिन्न है। बदाऊनी के वर्णनों पर विचार करते समय हमें सदैव ही इस बात को स्मरण रखना चाहिये कि उसके वर्णन एक निराश लेखक के वर्णन हैं क्योंकि उसकी योग्यता का उतना सम्मान नहीं किया गया था जितनी की आशा उसे थी, साथ ही इस्लाम के प्रति अकबर का जैसा दृष्टिकोण था वह भी उसे पसन्द नहीं था। इतना ही नहीं अकबर की धार्मिक नीति के कारण वह उसका पक्का विरोधी बन बैठा था। प्रत्यक्ष विरोध तो वह कर नहीं सकता था, अतः अपने लेखों में ही उसने अपना विरोध प्रगट किया। इस लिये भी और उसकी लेखन शैली के कारण भी हम उसे इतिहासकार से अधिक पत्रकार कह सकते हैं। उसकी पुस्तक में इतिहास कम है संस्मरण अधिक। उसने विषयों का चुनाव घटना या तिथिक्रम भले नहीं किया है बल्कि जब जो भी प्रश्न उसकी रुचि के अनुकूल हुआ उसी पर उसने लेखनी चला दी। उसकी लेखनी सदा ही उसकी मनोदशा से प्रभावित रही। उसने जो कुछ लिखा है, वह इसलिये नहीं लिखा कि लोग आने वाले जमाने में उसे पढ़कर तत्कालीन स्थिति का परिचय प्राप्त कर सकें। इसके विपरीत उसने इसलिये लिखा कि उस प्रकार के वर्णनों से उसकी बादशाह विरोधी भावना को संतुष्टि मिलती थी। अतएव उसके वर्णनों को शब्दशः ग्रहण करने से पाठकों के पथच्युत होने का भय है। तत्कालीन मुहस्सिलों का जो वर्णन उसने दिया है वह एक बड़ी कहानी संक्षिप्त रूप

ही में है। उसने न तो तारीखों (Dates) का खयाल किया है और न घटनाक्रम का ही, वरन् अपनी रुचि के अनुसार ही उसने इस विषय का वर्णन किया है। इस वर्णन में जो कुछ भी हमारे काम का है, वह आगे * की पंक्तियों में दिया गया है :—

"शासन के इस वर्ष में (१९ वें वर्ष में) खेती की उपज एवम् क्षेत्र वृद्धि करने के उद्देश्य के लिये बादशाह के मन में एक नवीन विचार उत्पन्न हुआ। समूचे साम्राज्य की सारी भूमि की पैमाइश की गई। इस पैमाइश में प्रत्येक, भूमि चाहे वह सिंचाई के साधन से युक्त थी या विहीन, चाहे कस्बे के पास हो या पहाड़ी भूमि हो, चाहे जंगली हो या रेगिस्तानी, नदी के पास हो या कुएँ के पास, किसी भी जमीन को छोड़ा नहीं गया। यह इसलिये किया गया कि अगले तीन वर्षों में इन सब को जोत के अन्दर लेकर खजाने में वृद्धि की जाय।

इन नियमों का पालन ठीक से नहीं किया गया। मुहस्सिलों के अत्याचार के कारण अधिकांश प्रदेश वीरान हो गये। खेतिहरों के बीबी बच्चों तक को बेंच दिया गया और इस प्रकार उनके परिवार के सदस्यों को तितर बितर कर दिया गया।

राजा टोडरमल ने इस मुहस्सिलों से हिसाब (मुहासबा) तलब किया। इन तलबों के कारण कितने ही भले आदमियों की जाने गयीं क्योंकि मुहासबा न देने के कारण उन पर जान लेवा मार पड़ी। उन्हें नाना प्रकार की यातनायें दी गयीं। कितने ही लोग महकमा लगान की जेलों में मर गये जिन्हें न तो कब्र ही मिली और न कफन ही। उनके कत्ल के लिये जल्लाद की भी जरूरत न पड़ी।"

उपरोक्त अनुच्छेदों के पढ़ने पर चाहे और कुछ न मिले पर बदायूनी की भावना एवम् उसकी लेखनशैली का पता तो चल ही जाता है साथ ही उसकी भावना क्या थी इसका परिचय भी पाठकों को मिल जाता है। प्रथम अनुच्छेद के प्राथमिक वाक्य निजामुद्दीन अहमद की तबकाने अकबरी के आधार पर लिखे गये हैं। इसी पुस्तक को बदायूनी ने प्रायः अपना आधार बनाया है, परन्तु स्थान स्थान पर शब्दों की योजना इस प्रकार की हो गई है कि सारे भाव ही विकृत हो जाते हैं। इसके बाद ही वह ऐतिहासिक क्रम को तोड़ कर वर्णन के शेष भाग को ले लेता है जिसका कोई

---

* बदाउनी भाग २ पृष्ठ १८९। हमने मि० लो द्वारा किये गये अनुवाद का सहारा लिया है। प्राम्भिक वाक्यों के लिये लो ने लिखा है कि "A new idea came in to his head" परन्तु ऐसे किसी भी पुरुष का वर्णन नहीं दिया है जिसके साथ "his" शब्द का सम्बन्ध स्थापित किया जा सके; अतः इस वाक्य को मैं अवैयक्तिक (Impersonal) मानता हूँ।

भी वर्णन तबकाते अकबरी में नहीं है। इस वर्णन में तीन बातें हमारे मतलब की हैं। १—मुहस्सिलों की नियुक्ति का कारण, २—उनका भ्रष्टाचार या उनका दुर्व्यवहार तथा ३—टोडरमल का कड़ा लेखा निरीक्षण।

जहाँ तक मुहस्सिलों की नियुक्ति के उद्देश्य का प्रश्न है या यों कहें कि प्रत्यक्ष शासन के उद्देश्य का प्रश्न है, वहाँ तक बदायूँनी की राय यह है कि यह कदम इसलिए उठाया गया था कि खेती की क्षेत्रवृद्धि हो, किसान सुखी हों, लगान अधिक मिले तथा इस प्रकार सरकारी खजाना समृद्ध हो। अकबरनामा के अनुसार यह कदम इसलिये उठाया गया कि प्राचीन व्यवस्था से किसानों का असन्तोष बढ़ रहा था और शाही कर्मचारियों की नैतिकता का बुरी तरह पतन हो रहा था। तबकाते अकबरी के उस वर्णन का सारांश निम्न पंक्तियों में दिया गया है जिसका सहारा लेकर बदायूँनी ने अपना वर्णन लिखा है :—

"चूंकि हिन्दुस्तान की अधिकांश उपजाऊ जमीन बिना जोती पड़ी थी तथा उसे आसानी से जोता जा सकता था और इससे खेतिहरों तथा महकमा लगान दोनों को समान रूप से फायदा होने की गुंजाइश थी, अतः बादशाह ने गम्भीरता पूर्वक विचार करके आदेश दिया कि साम्राज्य के सारे परगनों की भूमि को अच्छी तरह जाँचा जाय तथा जिस जमीन की जोतने के बाद वाली उपज एक करोड़ टंका की हो, उसको अलग करके उसे एक अफसर के आधीन कर दिया जाय। उस अफसर को करोड़ी कहा जाता था। वह परगने में ही रहेगा तथा उसके साथ एक खजाञ्ची तथा एक लिपिक (Clerk) रहेगा, ताकि वह इस बात की कोशिश करे तथा खेतिहरों पर दबाव भी डाले कि वे अधिक से अधिक भूमि में खेती करें, तथा समय पर उचित लगान दे दिया करें।" *

हमारे सामने तीन लेखकों के वर्णन हैं। इनमें से एक सरकारी कर्मचारी है तथा दो स्वतंत्र लेखक हैं। दोनों स्वतंत्र लेखकों के लेख सरकारी लेखक के लेख के विरोधी हैं। निजामुद्दीन तथा बदाऊनी ने प्रत्यक्ष शासन के जो उद्देश्य बताये हैं वे

---

* मैंने उस अनुच्छेद का अनुवाद करने के लिये मूल पुस्तक पृष्ठ २२५४ को चुना है तथा उसे द्वितीय प्रतिलिपि के पृष्ठ ६५४३ से मिलान किया है। द्वितीय प्रतिलिपि का प्रथम वाक्य उसमें त्रुटिपूर्ण है क्योंकि प्रतिलिपिकार ने एक पूरा वाक्यांश ही छोड़ दिया है। इलियट ने एक अलग ही बात कही हैं, परन्तु उन्होंने जिस पुस्तक का सहारा लिया है उसका नाम नहीं दिया है, अतः उसका मूल्यांकन मैं नहीं कर सका।

भी विश्वसनीय हैं, साथ ही बादशाह के लिये प्रशंसापूर्ण भी। ऐसी दशा में पता नहीं चलता कि सरकारी लेखक ने इन बातों का वर्णन क्यों नहीं किया। इसके स्थान पर उसने यह क्यों लिखा कि कर्मचारियों के गिरते हुये नैतिक स्तर को देख कर बादशाह ने प्रत्यक्ष शासन का दामन पकड़ा। इससे तो बादशाह की प्रशंसा न होकर अप्रशंसा ही हुई। अकबर जैसे बादशाह के शासन में कर्मचारी ईमानदार न हों तो अकबर को 'महान' क्यों कहा जाय। मेरी समझ में तो सरकारी लेखक को इसलिए मान्यता दी जानी चाहिये कि अकबर का उद्देश्य यह तो रहा ही होगा कि शाही कर्मचारियों के पारिश्रमिक का आधार सुदृढ़ कर दिया जाय। साथ ही हमें यह भी सोचना चाहिये कि स्वतंत्र लेखकों ने किसी विरोधपूर्ण उद्देश्य से प्रेरित होकर ऐसा लिखा है। यह भी हो सकता है कि एक ही योजना में अकबर का उद्देश्य और रहा हो तथा महकमा लगान के कर्मचारियों ने उसे और रूप में ग्रहण किया हो।

यह अनुभव करना आसान है कि अकबर का उद्देश्य विभागीय सुधार अवश्य ही रहा होगा। अब तक महकमा लगान देश के थोड़े से भाग में पारस्परिक रूप से कृषि व्यवस्था के विकास की बात सोचता रहा था। उसके अधीन अभी तक वे ही प्रदेश थे जो रक्षित थे। इस नवीन व्यवस्था ने उसका कार्यक्षेत्र सारे उत्तरी भारत में मुल्तान से इलाहाबाद तक विस्तृत कर दिया था और यह मान लेना वास्तविकता से परे नहीं होगा कि मुहस्सिलों का जो नया वर्ग नियुक्त किया गया, उसके समझ में यही आया हो कि उन्हें परम्परा के अनुसार ही कार्य करना होगा और उन्होंने लगान वसूली में सचमुच सख्ती बरती हो, जिसके समाचार से प्रभावित होकर बदाऊनी ने उक्त अनुच्छेद लिखा हो। हम यह भी नहीं मान सकते कि अकबरनामा में लिखित अप्रशंसात्मक तथ्यों का प्रचार महकमा लगान के लोगों द्वारा किया जाय, अतः उनके लिये सुरक्षित राह यही थी कि वे उसी उद्देश्य को जनता के समक्ष रक्खें जो प्रशंसनीय हो तथा जो अप्रशंसनीय हो उसका खयाल ही न करें। बुराइयों को छिपाने की उस वक्त तो कोई जरूरत ही नहीं थी जब अकबरनामा लिखा जा रहा था क्योंकि यह व्यवस्था तब तक इतिहास में स्थान प्राप्त कर चुकी थी। उस समय सर्वाधिक उचित तो यही बात होती कि इस प्रकार की बात जनता में प्रचारित न हो तथा जनता उन्हीं बातों को जाने जो स्वतंत्र लेखकों द्वारा लिखी गयी थीं।

यह मान लेना भी आवश्यक नहीं है कि इस रास्ते को महकमा लगान ने स्वतंत्रता पूर्वक अपनाया होगा। सम्भव है कि अकबर की भी यही राय रही हो कि जनता को एक दूसरा ही उद्देश्य बताना अधिक बुद्धिमत्तापूर्ण होगा। यह जान लेना सरल है कि क्यों तथा किस प्रकार स्वतंत्र लेखकों द्वारा लिखी बात जनता में प्रचारित

हो गयी, परन्तु यह भी मान लेना असम्भव लगता है कि अबुल फजल ने अकबरनामा में कल्पित वर्णन लिखा है।

इसके बाद की घटनाओं के बारे में सरकारी कागजों की खामोशी का स्पष्टीकरण इतना स्वाभाविक है कि उसे अलग से समझाने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। हमारा तात्पर्य उन अपवादों से हैं जिनका जिक्र पिछले पृष्ठों में हमने किया है। शायद ये अपवाद लेखक को उल्लेखनीय नहीं जान पड़े। अकबरनामा में दो कागजों (Documents) को सुरक्षित रूप से रक्खा गया है। इनसे यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से तो नहीं पर अप्रत्यक्ष रूप से कुछ अंशों में बदाऊनी की कहानी को ही पुष्टि होती है। उनके अनुसार मुहस्सिलों द्वारा सामूहिक दमन की कहानी तो सत्य सिद्ध ही होती है, साथ ही लेखानिरीक्षण में राजा टोडरमल द्वारा की गई सख्ती की भी पुष्टि हो जाती है। ये कागज महत्वपूर्ण हैं तथा इनको पूर्णरूप से समझने के लिये राजा टोडरमल के जीवन-चरित्र को जानना तो आवश्यक ही है साथ ही बादशाह के साथ समय समय पर उनका कैसा सम्बन्ध था इसकी भी जानकारी आवश्यक है।

हमें यह देखकर अवश्य ही आश्चर्य होता है कि राजा टोडरमल के चरित्र में योग्यता तथा ईमानदारी के साथ जिद, चिड़चिड़ापन तथा बदला लेने की प्रवृत्ति * का अद्भुत सम्मिश्रण था। उनमें प्रशासनिक योग्यता तो हद दर्जे की थी ही, साथ ही युद्ध क्षेत्र में सैन्य संचालन की भी अद्भुत क्षमता थी। इसलिये जब तक महकमा लगान से हटा कर बादशाह उन्हें युद्धों में भाग लेने के लिये भेज दिया करता था। इस प्रकार उन्नीसवें तथा छब्बीसवें वर्ष के बीच में टोडरमल का महकमा लगान से कोई सम्बन्ध नहीं था। अठारहवें वर्ष में उन्हें बिहार की ओर भेज दिया गया था तथा उसके फौरन बाद ही उन्हें बंगाल जाना पड़ा। इस बीच उनके पद का महकमा लगान में अस्थायी प्रबन्ध कर दिया गया था, परन्तु उस प्रबन्ध में नीचे के कर्मचारी ज्यों के त्यों बने रह गये थे तथा सारा कार्य टोडरमल द्वारा निर्धारित प्रणाली से ही चलाया जा रहा था। अतः हम कह सकते हैं कि मुहस्सिलों की नियुक्ति उन्हीं के आदेश से हुई थी यद्यपि वे नियुक्त काल में महकमा लगान में नहीं थे। अकबरी शासन के बीसवें वर्ष में वे फिर इस महकमे में वापस आये, परन्तु थोड़े ही दिनों बाद फिर बंगाल भेज दिये

---

* अकबरनामा भाग ३ पृष्ठ ८६१, मआसीरुल उमरा भाग २ पृष्ठ १२३। राजा टोडरमल के सेवा काल के इतिहास का ज्ञान अकबरनामा के तीसरे भाग मे पृ० ८०, १५८, १६२, २०७, २१४, २१५, २४८, २५०, २[illegible]५, २८२, [illegible]१[illegible], [illegible]०७, ३७२, ३८१, ४०३ तथा ४५७।

गये और उनके पद का भार ख्वाजा शाह मन्सूर को दिया गया। बंगाल से टोडरमल गुजरात चले गये तथा इसके बाद फिर बाईसवें वर्ष में हम उन्हें शाह मन्सूर के सहयोगी के रूप में महकमा लगान में काम करते हुये पाते हैं, मगर उन दोनों में पट नहीं रही थी, अतः इन दोनों में सहयोग कायम रखने के लिये मुजफ्फर खाँ को दरबार में बुला कर इसी महकमे में रख दिया गया। मुफ्फजर खाँ पहले वजीर आजम रह चुका था। टोडरमल एवम् शाह मन्सूर को आदेश था कि वे मुफ्फजर खाँ की सलाह से काम करें। अगले वर्ष टोडरमल को एक बिशेषाधिकारी के रूप में फिर पंजाब जाना पड़ा और मुजफ्फर खाँ भी अपने स्थान पर चला गया अतः शाह मंसूर अकेला ही इस महकमे के प्रधान के रूप में कार्य करने लगा। चौबीसवें वर्ष में हम शाह मन्सूर को इसी पद पर काम करता हुआ देखते हैं। बादशाह की इच्छा थी कि उसके सुधार दोनों ही मंत्रियों द्वारा लागू किये जायँ परन्तु आवश्यकता ऐसी आ पड़ी कि टोडरमल को फिर बंगाल भेजना पड़ा जहाँ वे छब्बीसवें वर्ष तक बने रहे।

इसी बीच में राजा तथा शाह मन्सूर के बीच के विवाद ने उग्ररूप ग्रहण कर लिया था तथा शाह मन्सूर को जेल में बन्द करके उसके कार्यों की जांच हो रही थी। तुरन्त बाद ही मन्सूर को फिर से बहाल कर दिया गया परन्तु पच्चीसवें वर्ष के अन्त में दुश्मन से राजद्रोहात्मक पत्रों के आदान-प्रदान के अभियोग में उस पर फिर मुकदमा चलाया गया। अगले वर्ष टोडरमल फिर उस महकमे में लौटे और सत्ताईसवें वर्ष में हम राजा टोडरमल को उन्नति के शिखर पर पाते हैं। उस समय वे सल्तनत के वजीर आजम के रूप में काम कर रहे थे। इसी पद पर काम करते हुये उन्होंने पहला 'प्रपत्र' (दो दस्तावेजों का जिक्र पहले हो चुका है उन्हीं में से पहला) लिखा, जिसमें स्थानीय लगान के प्रबन्ध के तत्कालीन दोषों को हटाने के उपायों को बताया गया था, तथा इन सभी उपायों को बादशाह की स्वीकृति मिल चुकी थी। अगले वर्ष ही उनकी जिम्मेदारियों को कम कर दिया गया तथा केवल महकमा लगान का ही काम वे देखने लगे। थोड़े ही दिनों के बाद उनसे कहा गया कि वे फतहुल्ला शीराजी के सलाह से काम करें। वह विदेशी था तथा उसे बादशाह ने बीजापुर से बुलवाया था और उसे शाही आयुक्त (अमीनुलमुल्क) नियुक्त किया था। उसे यह काम दिया गया कि वह मुजफ्फर खाँ के समय से ही लटके आ रहे मुकदमों का निपटारा कर दे। ये मुकदमे पिछले चार वर्ष से अनिर्णीत पड़े हुये थे। अमीनुलमुल्क ने दूसरा दस्तावेज तैयार किया जिनके नियमों को तीसवें वर्ष में स्वीकृत मिली।

इस स्थिति में यह कहा जा सकता है कि इक्कीसवें वर्ष से पच्चीसवें वर्ष तक

महकमा लगान का अध्यक्ष शाह मन्सूर था। बदाऊनी के वर्णन से पता चलता है कि प्रत्यक्ष शासन का प्रारम्भिक कार्य खूब सफल रहा परन्तु इसके बाद वह असफल होने लगा क्योंकि बदाऊनी के शब्दों में प्रत्यक्ष शासन के नियमों की अवहेलना होने लगी अतः प्रत्यक्ष शासन की असफलता का उत्तरदायित्व शाह मन्सूर पर था। जब टोडरमल ने महकमे का काम हाथ में लिया तो उसने बिगड़ी स्थिति को संभालने की चेष्टा की। यदि उनके प्रस्तावों को पढ़ा जाय तो यह पता चल जाता है कि उस वक्त कौन कौन से दोष व्यवस्था में घुस आये थे। इन प्रस्तावों को अकबरनामा में पृष्ठ ३८१ पर शब्दशः दिया गया है तथा उसमें इन दोषों को दूर करने के सुन्दर उपाय बताये गये हैं। इन को पढ़ने से पता लगता है कि स्थानीय कर्मचारियों ने स्वीकृति-प्राप्त निर्धारक्ष दरों में घट बढ़ कर दिया था। मुहस्सिलों के लिपिकों ने गाँव के मुकद्दमों से मेल करके खेतिहरों पर अत्याचार करना प्रारम्भ कर दिया था। वार्षिक पैमाइशों में निरन्तर गड़बड़ी होते रहने के कारण जोत की भूमि की सीमा दिन प्रति दिन संकुचित होती जा रही थी, खेतिहरों को जो तकावियाँ दी गयीं थीं उनकी जमानत ठीक से नहीं ली गयी थी, दैवी आपत्तियों को बढ़ा चढ़ा कर लिखा गया था तथा झूठी विपत्तियाँ भी दिखाई गयी थीं, लगान की वसूली में तथा उसे खजाने में जमा करने में पर्याप्त भ्रष्टाचार हुआ था और केन्द्रीय कार्यालय का स्थानीय कर्मचारियों पर नियंत्रण ढीला हो गया था। इस प्रकार हम देखते हैं कि राजा टोडरमल की समझ में प्रबन्ध के जितने दोष आये थे तथा बदाऊनी ने जिन दोषों का वर्णन किया है उनमें कहीं से कोई अन्तर नहीं दिखाई पड़ता। राजा टोडरमल के इन शब्दों से कि 'जोत की भूमि की सीमा निरन्तर संकुचित होती जा रही थी' के एक ही कदम आगे बढ़कर बदाऊनी के शब्द कि 'बहुत सारी भूमि वीरान हो गयी थी' यहाँ तक पहुँचा जा सकता है। मुहस्सिलों द्वारा भ्रष्टाचार युक्त बढ़ी हुई मांग तथा वसूली में की गयी बेईमानियों के कारण खेतिहरों को यदि बीबी बच्चे बेंचने पड़े हों तो क्या आश्चर्य, जब कि उस जमाने में लगान वसूली के इन तरीकों को काम में लाना शासन की खराबी नहीं मानी जाती थी। ऐसी स्थिति में बदाऊनी के वर्णन का अधिकांश सरकारी इतिहासकारों के वर्णनों से मिलता है। इस प्रकार बदाऊनी को पक्षपात पूर्ण कहना तर्क पूर्ण नहीं है।

यदि बदाऊनी के बयान को ध्यान में रखकर अमीनुलमुल्क की नियुक्ति पर विचार करें तो यह मानना पड़ेगा कि इस नियुक्ति का कारण यही था कि टोडरमल का चरित्र अजीब अजीब विरोधों का सम्मिश्रण था। उस समय शायद अकबर यह समझ गया होगा कि राजा टोडरमल अपने स्वभाव के कारण जरूरत से आगे जा

चुके थे। टोडरमल ने मुहस्सिलों से हिसाब लेने में (इस हिसाब लेने की क्रिया को तब मुहासबा कहते थे) पिछले जमाने की याद दिला दिया, जिसमें बकाया रकम की वसूली के लिये हर जुल्म जायज था और हर यातना उचित। जिस प्रकार के मुहासबे चौदहवीं शताब्दी में प्रचलित थे, उन्होंने शायद उसी प्रकार के कार्य फिर प्रारम्भ कर दिया। यह बात नहीं कि उक्त प्रकार के मुहासबों का प्रचलन एक दम बन्द हो गया था क्योंकि बदाऊनी ने ही लिखा है कि बंगाल में मुहासबे के वक्त इसी प्रकार का अत्याचार मुजफ्फर खाँ ने भी किया था। यह बात भी विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि जिन मुकदमों को निपटाने के लिये अमीनुलमुल्क की नियुक्ति हुई थी वे सब के सब उसी समय के थे जब मुजफ्फर खाँ महकमा लगान का काम देखते थे। ये मुकदमे अनिर्णीतावस्था में कई वर्षों से पड़े चले आ रहे थे। मुहस्सिलों को बार बार बुलाकर उन्हें नाना प्रकार की यातनायें दी जाती रहती थीं। यहाँ तक कि रोज रोज की इन परेशानियों से ऊबकर उन्हें तत्काल निपटा देने की इच्छा से अकबर ने फतहुल्ला को बीजापुर से बुलवा कर अमीनुलमुल्क पद पर नियुक्त किया।

अमीनुलमुल्क ने तत्कालीन दोषों को दूर करने के लिये जो योजना प्रस्तावित की तथा जिसकी सभी बातें बादशाह द्वारा अपने शासन के तीसवें वर्ष में ज्यों की त्यों स्वीकृत कर ली गयीं, उसका पूरा विवरण उस दूसरे दस्तावेज में दिया गया है जिसका वर्णन हम पहले कर चुके हैं। इस प्रयत्न की सभी बातों को स्पष्टतया समझ पाना कठिन है। फिर भी इससे पता चलता है कि इसमें इस बात पर जोर दिया गया है कि महकमा लगान का स्थानीय कर्मचारियों से कैसा सम्बन्ध होना चाहिये, उन दिनों मुहस्सिलों के पद असह्य हो चुके थे। पूरी लगान वसूल करने का उत्तरदायित्व उनके कन्धों पर था। तनिक भी इधर उधर हो जाने पर महकमा लगान उन्हें अत्यधिक परेशान करता था क्योंकि लगान की रसीद देने की प्रथा का पालन नहीं किया जा रहा था। इसका मतलब यह होता था कि कुछ दिनों तक ये लोग स्वतन्त्रतापूर्वक काम करते रहते थे और तब उन्हें अचानक मुहासबे के लिये सदर में बुला लिया जाता था। अथवा जब वे हटाये जाते थे या उनका स्थानान्तरण होता था तो उन्हें पूरे समय का हिसाब देना पड़ता था। तब उन्हें अपने पूरे कार्यकाल की वसूली तथा उस वसूली को सरकारी खजाने में जमा करने का पूरा हिसाब देना पड़ता था। यदि इस हिसाब में तनिक भी गड़बड़ी पायी जाती तो फिर उनको अत्यधिक परेशानी का सामना करना पड़ता था। यदि कुछ रकम बकाया रह जाती तो उन्हें उसे अपने घर से देना पड़ता था। अमीनुलमुल्क ने

कोशिश की कि मुहस्सिलों का पद सह्य हो जाय तथा उन्हें इतनी अधिक परेशानियों का समना न करना पड़े। फतहुल्ला की रिपोर्ट को यदि पूरा पूरा पढ़ा जाय तो जिन दोषों को सुधारने का प्रस्ताव उस योजना में किया गया है, उन दोषों का पूरा पूरा पता चल जाता है। उन तमाम दोषों से पाठकों का परिचय करा देने के लिये उस योजना का सारांश * नीचे दिया जाता है :—

१—लेखा निरीक्षकों ने अत्यधिक असावधानी की है तथा उन्होंने सरकारी आदेशों को भुला कर कार्य किया है। उन्हें चाहिये था कि निरीक्षण करते समय वास्तविक रकमों पर ही ध्यान देते, परन्तु इसके विपरीत उन्होंने अनुमानों पर आवश्यकता से अधिक भरोसा किया है और इस प्रकार मुहस्सिलों के जिम्मे बकाया रकम को बहुत बढ़ा दिया है। इसका परिणाम यह हुआ है कि चालाकी से काम करने वाले लोग उन्नति कर गये हैं तथा ईमानदार कर्मचारियों की जान पर आ बनी है। यदि बकाया रकम सही सही निकाली गयी होती तो कर्मचारी उसे आसानी से बेबाक कर दिये होता, परन्तु निरीक्षकों द्वारा निकाली गयी बकाया की रकम बहुत बड़ी होती थी जिसको अदा करने के भय से मुहस्सिल लोग अत्यधिक परेशान हो जाते थे।

२—नियम था कि जिन खेतिहरों से लगान ली जाय उन्हें वसूल की गयी पूरी रकम की रसीद दे दी जाय, परन्तु इस नियम का पालन मुहस्सिलों ने नहीं किया है। साथ ही भ्रष्टाचार के कारण केन्द्रीय महकमा लगान ने गलत रकम को भी स्वीकार कर लिया है, जिनका कोई ठीक हिसाब नहीं है। इन जमा की गयी रकमों का सही सही हिसाब भी मुहस्सिलों ने नहीं दिया है।

३—मुहस्सिलों को जिस रकम की वसूली का आदेश दिया गया है वह तथ्यों पर आधारित न होकर गलत सलत ढंग से कूती गयी है।

४—अतिरिक्त वसूली का हिसाब ठीक नहीं है। (उस वाक्यांश का स्पष्टीकरण नहीं दिया गया है।)

५—निरीक्षकों ने खेती की उपज में घट-बढ़ हो जाने की वास्तविकता को स्वीकार नहीं किया है तथा इसीलिये कितने ही गाँव तरक्की कर रहे हैं जब कि कम

---

* यह सारांश अकबरनामा भाग ३ पृष्ठ ८८७ के आधार पर दिया गया है। इसमें तथा मिस्टर बेवरिज द्वारा दिये गये वर्णन में कुछ भिन्नता है।

उपज वाले गाँव बर्बाद होते जा रहे हैं। निरीक्षकों ने इन बर्बादियों का सारा उत्तर-दायित्व मुहस्सिलों पर डाल दिया है, परन्तु जहाँ तरक्की हुई है, वहाँ उनको कोई भी श्रेय नहीं दिया है। उचित तरीका तो यह था कि एक गाँव की तरक्की व बरबादी को ध्यान में न रख कर पूरे परगने की स्थिति से मुहस्सिलों के कार्यों का मूल्यांकन किया जाता।

६—इस डर से कि कहीं मुहस्सिलों के जिम्मे कुछ रकम बकाया न पड़ जाय उनका चौथाई वेतन काट कर खजाने में जमानत के तौर पर रख लिया जाता था। इस रकम को प्रायः रोक लिया जाता था जब कि उसे तभी रोका जाना चाहिये जब कि मुहस्सिल का अपराध दंडनीय हो।

७—मुहस्सिलों को यथा आवश्यक कर्मचारी नहीं दिये गये। किसी आदेश के पाने के बाद जब वे अपने काम को छोड़ कर अन्यत्र जाते थे, न उसी समय का उनका वेतन मिलता था और न उस समय का जब कि वे लेखा निरीक्षण के लिये सदर में रहते थे।

८—व्यर्थ के पत्राचार से भी मुहस्सिलों को परेशानी होती थी।

उपरोक्त सारांश में हमने उन धाराओं को छोड़ दिया है जो सामान्य प्रशा-सन से सम्बन्धित थे, परन्तु जिन धाराओं का सारांश हमने ऊपर दिया है, उनसे पता चल जाता है कि अमीनुलमुल्क ने अपनी नियुक्ति के समय जिस व्यवस्था को प्रचलन में पाया वह इतनी दोष पूर्ण थी कि मुहस्सिलों का पद कांटों सेज बन गया था। खासकर ईमानदार लोगों की तो गुजर ही नहीं थीं। यह भी स्मरणीय है कि जिन मामलों में खोज बीन की गयी वे कई साल पुराने थे। इस रिपोर्ट को देखने से पता चलता है कि मुहस्सिलों से जितना मांगा जाना चाहिये था उससे अधिक मांगा जाता था। मांगने वाला था टोडरमल जैसा जिद्दी तथा बदला लेने की भावना से काम करने वाला व्यक्ति। नीचे के कर्मचारी शाह मंसूर द्वारा नियुक्त किये गये थे जिससे टोडरमल की कभी भी नहीं पटी थी। ऐसी दशा में यह विश्वास करना कठिन नहीं है कि भले ही बदाऊनी के द्वारा दिया गया वर्णन अत्युक्तिपूर्ण हो, परन्तु वह आधारित है सत्यों पर ही। अकबरनामा के लेखक ने केवल इतना लिख कर इतिश्री कर दिया है कि इस प्रकार पुराना हिसाब तै हो गया और अमीनुल्मुल्क के न्यायपूर्ण प्रयासों से महकमा लगान शान्ति एवम् प्रसन्नता का केन्द्र बन गया। ऐसी दशा में यह मान लेना तर्क विरुद्ध नहीं होगा कि अमी-

तुलमुल्क के द्वारा किये गये प्रयत्नों * के पहले इस महकमें में बड़ी ही कुव्यवस्था व्याप्त थी।

इस स्थिति में हमें यह मान लेना चाहिये कि बदाऊनी द्वारा दिये गये वर्णनों की पुष्टि सरकारी लेखकों द्वारा भी हो जाती है। फिर भी उपरोक्त प्रपत्रों (दस्तावेजों) के वर्णनों की थोड़ी और विवेचना आवश्यक है। प्रश्न यह उठता है कि इन प्रयत्नों का वास्तविक स्थान तो आईन में था, फिर इन्हें अकबरनामा में स्थान क्यों दिया गया। उचित तो यह था कि इन प्रयत्नों को उस अध्याय के अन्त में स्थान दिया जाता, जिसमें 'दस वर्षीय' वर्णन के बाद आकस्मिक समाप्ति आ गयी है। जहाँ तक आईन में दिये गये वर्णनों से पता लगता है, अकबर ने चौबीसवें वर्ष तथा चालीसवें वर्ष के बीच महकमा लगान के सुधार के लिये स्वयम् कुछ नहीं किया, जो कुछ भला-बुरा किया गया सिर्फ उसके वजीरों द्वारा ही। फिर भी अकबरनामा के लेखक ने इन प्रयत्नों को इतना महत्वपूर्ण क्यों समझा कि अपने साधारण पथ से हट कर उसने इनको अकबरनामा में स्थान दिया। इन प्रयत्नों को छोड़ कर और सभी प्रकार के वर्णन अकबरनामा में संक्षिप्त रूप से ही दे दिये गये हैं। इस प्रकार की पथच्युति से अकबरनामा के लेखक का सारा दृष्टिकोण ही छिन्न-भिन्न हो उठा है। आखिर उसने अपनी निश्चित व्यवस्था को इतना उलट क्यों दिया? इस प्रश्न का उत्तर देने वाली कोई सामग्री कहीं भी प्राप्त नहीं है अतः सिवाय अनुमान का सहारा लेने के और कोई चारा नहीं है। मेरा स्वयम् का अनुमान यह है कि आईन में उन विषयों का वर्णन (जिन पर इन पंक्तियों में विचार हो रहा है) जब लेखक कर रहा था तो उसने इन प्रयत्नों को महत्वहीन समझा और उसने इनको अलग कर दिया। परन्तु जब इन वर्णनों को समाप्त कर दिया गया, तब या तो लेखक ने इन प्रयत्नों का मूल्य समझा या स्वयम् अकबर ने आदेश दिया होगा कि चूं कि ये प्रपत्र महत्वपूर्ण हैं अतः इन्हें सुरक्षित रक्खा जाय। अतः अबुल फजल ने इसे अकबरनामा के तृतीय भाग में रख दिया, क्योंकि आईन का उक्त अध्याय समाप्त हो चुका था तथा अकबरनामा के वर्णन अभी शेष थे। स्मरणीय है कि अकबरनामा को असम्पूर्ण छोड़ कर ही अबुलफजल मरा था। यह अनुमान मात्र है जिसकी पुष्टि कहीं से नहीं हो सकी है और इस

---

* वयजीद ने फतहुल्ला के तत्कालीन कार्यों का बड़ा सुन्दर उदाहरण दिया है। वयजीद का वर्णन पिछले पृष्ठों की टिप्पणी में कहीं दिया गया है यदि फतहुल्ला ने इस झगड़े को अकबर के हाथों में न दे दिया होता तो टोडरमल ने इस प्रश्न को न जाने किस प्रकार खतम किया होता।

अनुमान को यहाँ दे देने का केवल इतना ही मतलब है कि इस विषय में रुचि रखने वालों का कुछ पथ प्रदर्शन हो सके।

इस समय में दो बातें स्पष्ट दिखाई पड़ती हैं। प्रथम तो अमीनुलमुल्क द्वारा प्रस्तावित योजना की स्वीकृति तथा दूसरे महकमा लगान के प्रबन्धों में स्थायित्व। इस काल के आगे के वर्णनों में लगान विषयक वर्णन चूंकि नहीं दिये गये हैं अतः सिद्ध होता है कि इस समय में किया गया बन्दोबस्त अकबरी शासन के अन्त तक अपरिवर्तित ही रहा। इन परिवर्तनों के दो मुख्य अंग थे। पहला तो यह कि लगान निर्धारण की दरें सिक्कों के ही रूप में निश्चित कर दी गयीं तथा दूसरा यह कि जागीरों का देना फिर से शुरू कर दिया गया, परन्तु कुछ साधारण सुधार अभी बाकी थे। जिलों के कार्यों में भी और केन्द्रीय महकमा लगान में भी पर्याप्त सुधार आवश्यक थे। जिलों के सुधार का कार्य राजा टोडरमल के जिम्मे आया तथा महकमें के सुधार का कार्य फतहुल्ला शीराजी ने पूरा किया। चालू वर्णन को समाप्त करने के लिये यह आवश्चक है कि केन्द्रीय महकमा लगान के संगठन में किये गये परिवर्तनों का वर्णन कर दिया जाय। अकबरी शासन के चौतीसवें वर्ष में टोडरमल की मृत्यु हो गयी। दो वर्ष बाद रक्षित प्रदेशों का विभागीय बँटवारा हो गया तथा उसके चारों विभागों (प्रदेशों) के लिये चार अफसर नियुक्त किये गये। ये चारों अफसर केन्द्र में ही रह कर महकमा लगान के अध्यक्ष के मातहत रह कर कार्य करते थे चालीसवें वर्ष में एक मुख्य परिवर्तन * यह किया गया कि हर सूबे में लगान सम्बन्धी प्रशासन के लिये एक दीवान की नियुक्ति की गयी। ये दीवान लोग महकमा लगान के अध्यक्ष से सीधा आदेश प्राप्त करते थे। मेरी समझ में यहीं से प्रशासन के दो विभाग अर्थात दीवानी तथा फौजदारी होने लगे। इन दो विभागों की आगे की दो शताब्दियों में पूरी मान्यता मिली। इसके बाद से (चालीसवें वर्ष के बाद से) दीवान लोग सीधे राजस्व मंत्री से ही आदेश प्राप्त करने लगे। उनको सामान्य प्रशासन के किसी भी मंत्री से कोई मतलब नहीं रहा करता था। अब तक सूबे का दीवान शाही प्रतिनिधि के रूप में काम करता था परन्तु ४० में वर्ष के बाद से वह शाही सेवा के कर्मचारी के रूप में काम करने लगा।

---

* अकबरनामा भाग ३ पृष्ठ ६०५, ६७०। जिस वक्त मैंने रायल एशियाटिक जर्नल में लेख लिखा था तब इस वर्णन को नहीं देखा था इसी लिये लिख दिया था कि यह परिवर्तन जहांगीर के समय में किया गया था।

व्यवस्थापिका प्रणाली (Regulatieon System)

यदि अकबर के समय की लगान प्रणाली के अन्तिम रूप को तथा उसके सम्पूर्ण अंगों को ध्यानपूर्वक देखा जाय तो उसे व्यवस्थापिका प्रणाली का नाम देना ठीक मालूम होता है। इस प्रणाली के बारे में सभी ज्ञातव्य बातों का पता आईन अकबरी के उस अध्याय को देखने से चलता है जिसमें मुहस्सिलों तथा उनके लिपियों के निर्धारित कर्तव्यों की सूची दी गयी है। इन अध्यायों में उस समय के सभी अफसरों को दिये गये कार्यसम्बन्धी आदेशों का वर्णन है जिस समय आईन के वर्णन संग्रहीत किये जा रहे थे। वे न तो ऐतिहासिक निबन्ध हैं न तो किसी कार्यप्रणाली का विवेचन। वास्तव में, इनका स्वरूप निबन्धात्मक होते हुये भी, इनमें बादशाह के उन आदेशों का संग्रह किया गया है जिनके द्वारा अफसरों को कार्यप्रणाली का परिचय दिया गया है एवम् उस कार्यप्रणाली को किस प्रकार कार्यरूप में परिणत किया जाय इसका पता चलता है। अतः हम उन वर्णनों को वास्तविक आदेशों के रूप में ही ग्रहण कर सकते हैं। इनकी कुछ बातों से पता चलता है कि २७ वें वर्ष में टोडरमल द्वारा प्रस्तावित परिवर्तनों को कार्य प्रणाली में स्थान मिल चुका था तथा उनमें बाद में किये संशोधनों को भी स्वीकृत मिल चुकी थी तथा और भी समय समय पर जो परिवर्तन व परिवर्द्धन किये गये हैं, उन सभी का समावेश किया गया है। वास्तव में आज कल जैसे कर्मचारियों के लिये आचरण संहिता बनी हुई है वैसा ही कुछ रूप आईन के इन अध्यायों का भी है।

आईन के इस प्रकार के अध्यायों में यत्र तत्र एक विचित्र विरोधाभास सा दिखाई पड़ता है। सूबेदारों को दिये गये आदेशों में ज्यादा जोर उनकी नैतिकता पर दिया गया है न कि उनके पदगत कर्तव्यों पर। अलंकारात्मक भाषा में उनके सामने बड़े बड़े आदर्श रक्खे गये है तथा स्थान स्थान पर उचित उद्धरण भी दिये गये हैं, बड़े शायरों की शेरों तथा विद्वानों के विचार उद्धृत किये गये हैं। परन्तु ज्यों ज्यों हम आगे चलते हैं अलंकारात्मक वर्णनो में कमी आती जाती है तथा कर्मचारियों के कर्तव्य-वर्णनों का आधिक्य होता गया है। इसी प्रकार जब हम स्थानीय खजान्ची को दिये गये आदेशों को पढ़ते हैं तो हमें लगता है जैसे हम 'बृटिश एकाउन्ट कोड' में दिये गये अनुच्छेदों को पढ़ रहे हैं। यदि हम मुहस्सिलों तथा उनके लिपिकों ही को दिये गये आदेशों को पढ़ें तो पहली बात तो यह स्पष्ट होती जाती है कि जैसा कि हम पहले कह चुके हैं उन्हीं मुहस्सिलों का उपयोग केवल क्षेत्रों तक सीमित था जो प्रत्यक्ष शासन के लिये सुरक्षित रक्खे गये थे। उत्तर में जागीरदारी प्रथा का पुनः प्रचलन हो चुका

था। यह पता चलता है कि जागीरदारों के लिये लगान निर्धारणों की सूची कानूनन लागू थी परन्तु इसका पता नहीं चलता है कि उस समय में लगान निर्धारण तथा वसूली के लिये जिस विस्तृत कार्यवाही का निर्देश किया गया था, उन सब का पालन समान रूप से सभी जागीरदारों द्वारा किया जाता था या नहीं। जहाँ तक मेरा अध्ययन है, उससे यह पता नहीं चलता कि प्रत्यक्ष शासन के लिये कितना क्षेत्र सुरक्षित रक्खा गया था या कितने मुहस्सिलों की नियुक्ति की गयी थी। इतना ही कहा जा सकता है कि साम्राज्य का बहुत छोटा सा भाग प्रत्यक्ष शासन के लिये सुरक्षित था तथा इसका केवल अनुमान किया जा सकता है कि जागीरदारों द्वारा शासित प्रदेशों में भी वही व्यवस्था अपनायी जा रही थी, जो प्रत्यक्ष शासन के लिये सुरक्षित प्रदेशों में प्रचलित थी। परन्तु इसे केवल अनुमान ही समझना चाहिये न कि प्रमाण-सिद्ध।

इन अध्यायों में जो दूसरी स्पष्ट बात दिखाई पड़ती है वह इनमें किये वर्णनों के आकार-प्रकार से सम्बन्धित है। एक एक करके इनमें किसी काम या कार्य शैली के विभिन्न अंगों का साँगोपांग वर्णन दिया गया है। इसी स्थान पर कई बातों में विरोधाभास दिखाई पड़ता है और इसीलिये यह आवश्यक नहीं है कि एक धारा की सभी बातें उसी प्रकार की सभी बातों में लागू हों। कहीं पर एक कार्य को करने की आज्ञा है परन्तु दूसरे स्थान पर वही काम वर्जित है, फिर भी यदि सन्दर्भ पर अच्छी तरह ध्यान दिया जाय तो यह विरोधाभास दूर हो जाता है और इन पृष्ठों में एक अत्यन्त ही सुन्दर ढंग से लिखी गई एवम् सुगठित आधार संहिता के दर्शन होते हैं। इनको अलग अलग करके समझना कठिन है, किन्तु यदि इन्हें आपस में मिला कर सम्पूर्ण रूप से देखा जाय, तो इनका अर्थ स्पष्ठ हो जाता है तथा उन अफसरों को तो यह एकदम स्पष्ट हो जाती रही होगी, जो इस व्यवस्था से परिचित रहे हों, तथा इसके पारिभाषिक शब्दों को समझते रहे हों।

निस्सन्देह इसमें उस वातावरण का वर्णन नहीं दिया गया है जिसमें प्रयुक्त होने के लिये यह संहिता बनी, परन्तु यदि इसकी धाराओं को ध्यानपूर्वक देखा जाय तो उनसे ग्रामीण-व्यवस्था के तत्वों की कुछ न कुछ जानकारी अवश्य प्राप्त होती है। किसानों की एक बड़ी संख्या अपने अधिकार प्राप्त भूमि को जोतती बोती रहती थी। उनके ऊपर एक या एकाधिक मुकद्दम होते थे। इन मुकद्दमों की स्थिति अधिक सुविधापूर्ण थी। गाँवों में एक लेखारक्षक या पटवारी रहता था जो कृषि, भूमि, उपज, निर्धारण तथा वसूली इत्यादि सभी के कागजात उस गाँव के सम्बन्ध में रखता था। ये कागजात गाँव की सम्पत्ति होते थे, न कि राज्य की, परन्तु अवसर पड़ने पर

राज्य को भी दिये जा सकते थे । मुहस्सिलों का रुख खेतिहरों के साथ कैसा हो, इसका स्पष्ट निर्देश दिया गया है । वह खेतिहरों का मित्र होता था तथा खेतिहरों तक उसकी सीधी (बिना किसी मध्यस्थ के) पहुँच थी। वे लोग भी जब चाहें मुहस्सिलों से बिना किसी मध्यस्थ के मिल सकते थे । वह प्रति किसान के साथ इस प्रकार का व्यवहार रखता था जैसा किसी व्यक्ति का किसी व्यक्ति से होता है अर्थात् वह खेतिहारों के समूह से नहीं बल्कि व्यक्ति से व्यवहार करता था । इसीलिये मुहस्सिलों को आदेश था कि जिस भी परगने में रहें वहाँ की स्थानगत-कृषि-स्थिति की भली भाँति जानकारी रखें। उसे यह भी आदेश था कि कृषि विकास के लिये वे लोग गाँवों को ही उपज की इकाई समझें तथा मुकद्दमों की सहायता से गाँव गाँव का विकास करें; साथ ही जहाँ के मुहस्सिल यह अनुभव करें कि मुकद्दम की वजह से उपज वृद्धि हुई है तो उस वृद्धि का कोई न कोई भाग वे अवश्य मुकद्दम को दे दें । मुकद्दमों द्वारा पाया जाने वाला अंश कुल वृद्धि का ढाई प्रतिशत होता था जो प्रति बीघा को उपज पर लगाया जाता था। मुहस्सिलों को कड़ा आदेश था कि वे किसानों से निर्धारित लगान वसूल करने के लिये मुकद्दमों की सहायता न लें अन्यथा वे अयोग्य समझे जा सकते थे । मुकद्दम के महत्व को मानने का आदेश था परन्तु उसे अत्यधिक अधिकार देने की मनाही थी। इतना होते हुये भी इस पद की उपयोगिता कम न थी ।

पिछली पंक्तियों में जिस ढंग को हमने विकास की पारस्परिक नीति कहा है, उसे इस काल में अधिक महत्वपूर्ण माना गया । यह कर्तव्य मुहस्सिलों के जिम्मे किया गया कि अपनी सारी शक्ति इस विकास में लगा दें अर्थात् वे दोहरा प्रयास करें । उनके प्रयत्न का पहला अंग था कि किसानों को यथा सम्भव सहायता देकर उनकी प्रति बीघा उपज बढ़ाई जाय तथा दूसरा अंग यह था कि वे किसानों को दबा कर, समझा कर तथा सहायता देकर उन्हें इस बात के लिये तैयार करें कि खाली पड़ी जमीन के अधिकांश को वे जोत में ले लें । इस कर्तव्य निर्देश के पीछे यह भावना थी कि किसानों के सामने अधिक उदारतापूर्ण शर्तें रक्खी जायँ तथा यदि उनके तथा किसान के बीच नई जोत के बारे में कोई इकरारनामा हो जाय तो वे खुद तो उसे हर हालत में माने ही, किसानों पर भी यथाशक्ति दबाव डालें कि वे इकरारनामे की बातें न तोड़ें । प्रति बीघा उपज बढ़ाने के लिये खेतिहर अधिकाधिक उत्साहित हों, इसलिये मुहस्सिलों को आदेश दिया गया था कि यदि किसान अच्छी फसल पैदा करता है तो उसे स्वीकृत लगान दर में भी छूट दे देनी चाहिये । मुहस्सिलों को यह भी आदेश था कि यदि अत्यधिक आवश्यक समझें तो वे नाप द्वारा प्रचलित लगान निर्धारण प्रणाली को भी छोड़ सकते हैं और उसी प्रणाली से काम ले सकते हैं जिससे

खेतिहर सन्तुष्ट रहें। यदि खेतिहरों की इच्छा टाई प्रथा या सामूहिक निर्धारण मानने की हो तो उसी को प्रयोग में लाया जाय, साथ ही यदि किसानों को गल्ले की शकल में लगान देने में सुविधा होती हो तो गल्ले में ही लगान दें या यदि सिक्के में सुविधा होती है तो सिक्कों में ही लगान दें। इन निर्देशों में एक बात अवश्य खटकने वाली है कि कहीं पर सरकार की ओर से कुओं के खोदवाने की बात नहीं कही गई है, यद्यपि यह कहा गया है कि जरूरतमन्द किसानों को आर्थिक सहायता दी जाय। सम्भव है किसान लोग ही सरकारी आर्थिक सहायता से कुएं बनवाते रहे हों, परन्तु सरकारी कागजपत्रों में एतद्विषयक चुप्पी अवश्य ही खटकती है।

शासन के सत्ताईसवें वर्ष में राजा टोडरमल ने सामूहिक लगान निर्धारण की सिफ़ारिश की थी परन्तु वह कार्यान्वित न हो सकी थी। इसी नवीन व्यवस्था में इस प्रणाली को वर्जित माना गया था, परन्तु उन भूमिखण्डों के लिये इन्हें वर्जित नहीं माना गया था जो खाली पड़े हुये थे तथा जिनके बारे में सरकार की इच्छा थी कि वे जोत में ले लिये जाँय। यदि इस अपवाद पर गम्भीरतापूर्वक सोचें तो स्वयमेव यह बात समझ में आ जायगी कि नवीन व्यवस्था में भी प्रतिवर्ष तथा प्रति फसल बोये गये खेतों की पैमाइश करनी ही पड़ती रही होगी। नई जोत के खेतों के लिये तो यह व्यवस्था ठीक थी, परन्तु जिन खेतों का रक़बा स्थायी रूप ले चुका था तथा जिनकी सीमायें भी स्थायी हो चुकी थीं, उनके हर वर्ष तथा हर फसल में नापने से तो कर्मचारियों को बेमतलब ही हरसाल परिश्रम करना पड़ता होगा तथा कार्य-व्यस्त खेतिहरों की भी परेशानी इससे बढ़ती रही होगी। इसीलिये राजा टोडरमल ने रक्षित प्रदेश की जोतों को निरन्तर घटती जाने पर लिखा था कि 'एक बार जमीन नाप ली जाय, फिर इसके बाद खेतिहरों की कार्य शक्ति प्रतिवर्ष बढ़ती रहने पर आंशिक सामूहिक निर्धारण की स्वीकृति दी जाय'। मेरी समझ में राजा टोडरमल की इच्छा यह रही होगी कि स्थायी खेतों की एक बार पैमाइश कर ली जाय और उनकी संख्या तथा क्षेत्रफल दोनों को सुरक्षित रख लिया जाय और प्रतिवर्ष इसी रक्खे गये रिकार्ड के आधार पर सामूहिक निर्धारण कर लिया जाया करे। जहाँ तक नई जोत की जमीनों का प्रश्न है, एक एक खेत को नापने की जरूरत नहीं थी, बल्कि उन्हें सम्मिलित रूप में नाप कर लगान निर्धारित कर दी जाय। राजा के इस प्रस्ताव को शाही मान्यता मिल चुकी थी, परन्तु किसानों में विभिन्न प्रकार तथा रुचि के लोग थे। उनमें से कितनों को यह व्यवस्था नहीं पसन्द आयी। अमीनुलमुल्क द्वारा प्रस्तावित व्यवस्था में कम से कम नई भूमि जोतने वाले खेतिहरों को तो यह स्वतन्त्रता दे दी गयी कि वे जो भी प्रणाली पसन्द करेंगे उसी के अनुसार उनका निर्धारण होगा तथा जिस

शकल में वे लगान देने में सुविधा समझे उसी में लगान दे दें। नई जोत की जमीनों के बारे में टोडरमल द्वारा प्रस्तावित क्षेत्र विकास योजना में तथा अमीनुक्मुल्क द्वारा प्रस्तावित योजना में यही मुख्य अन्तर था। मजे की बात तो यह है कि फरीद ने जब अपने पिता की दो परगने की जागीर में लगान निर्धारण प्रणाली मानने की स्वतन्त्रता अपने किसानों को दी, तो वे किसी भी एक प्रणाली पर एकमत न हो सके। फिर अकबर कालीन इतने बड़े साम्राज्य के किसान किसी भी प्रणाली पर एकमत कैसे हो सकते थे। राजा टोडरमल ने भारतीय खेतिहरों की 'मुंडे मुन्डे मतिर्भिन्ना' वाली बात पर ध्यान नहीं दिया था, परन्तु फतहुल्ला इस विचित्रता को खूब समझ चुका था, इसीलिये उसने अपनी योजना को लचीली बनाया और यही बात तर्कपूर्ण भी थी।

आईन * अकबरी में उन भूमि खण्डों पर लगान निर्धारण की बाबत प्रर्याप्त जानकारी मिलती है, जो पहले जोते जाते थे, परन्तु बाद में किसी भी कारण से किसानों ने उनको परती छोड़ दिया और अब वे खाली पड़े हुये थे। इस जानकारी से उपरोक्त विकास की नीति पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। अब उन्होंने नवीन सुविधा पाकर इसे फिर से जोतना प्रारम्भ कर दिया था। यह तो तै है कि इन खेतों की उपज सदा जोते जाने वाले खेतों से कम होगी तथा इनमें श्रम भी अधिक लगेगा। ऐसी दशा में यदि इन पर वही निर्धारण लागू कर दिया जाय तो किसान उन्हें क्यों जोतने लगा। अतएव इनके जोतने वालों के लिये एक सर्वथा नवीन प्रकार का निर्धारण लागू किया गया। इन भूमिखण्डों के लिये लगान निर्धारण की तीन दरें स्वीकृत थीं। जिस स्थान तथा परिस्थिति में जो दर उचित जान पड़ती थी, वही लागू की जाती थी। उपरोक्त तीन दरों में पहली दर में सामान्य दर का २/५ भाग लगान लगायी जाती थी। इसी दर को धीरे धीरे बढ़ाकर पाँच वर्षों में सामान्य दर से लगान की मांग प्रारम्भ हो जाती थी। दूसरी दर में बहुत ही नीची दर पर लगान गल्ले के रूप में लगाई तथा वसूली जाती थी तथा धीरे धीरे इसी को बढ़ा कर पाँच वर्ष में सामान्य स्तर पर ले आते थे। दूसरी दर पहली दर से अधिक सुविधा जनक थी, अतः खेतिहरों ने इसे पसन्द भी अधिक किया। तीसरी दर उन भूखण्डों पर लागू की जाती थी जो

* आईन भाग १—पृष्ठ ३०१, मि० जैरेट कृत अनुवाद में जो उपज का $\frac{२}{५}$ से $\frac{४}{५}$ भाग लगान लेने की बात कही गयी है वह मूलग्रंथ से मेल नहीं खाती। वह इस लिये भी सही नहीं है कि हिसाब लगाने पर वह सामान्य दर से ऊँची है फिर "घटी हुई दर" का अर्थ कैसे लगाया जायगा।

पिछले पाँच या अधिक वर्षों से नहीं जोती जा रही थी। इन भूखण्डों पर प्रथम वर्ष में नाममात्र को लगान ली जाती थी और फिर उसी को बढ़ाकर १ ६, फिर १ ४ और अन्त में उपज के १ ३ भाग पर आते थे। यही लगान निर्धारण की सामान्य दर थी जो अककर के पूरे शासन काल भर अपरिवर्तित रहीं। कब, कहाँ कौन सी दर लगायी जाय यह सब निर्भर करता था मुहस्सिलों द्वारा दी गयी सूचनाओं पर। इस प्रकार किसी आपत्ति के कारण उजड़े हुये पुराने गाँवों को फिर से बसाने का काम पूरी तरह से ही हाथ में होता था।

विकास नीति का वर्णन करके, आगे उस प्रणाली का वर्णन किया गया है जिसके द्वारा जोत की जमीन को नाप कर लगान-निर्धारित की जाती थी। इन वर्णनों में यह बात नहीं दी गयी है कि स्थायी खेतों के क्षेत्रफल का ब्यौरा सुरक्षित रक्खा जाता था या नहीं, या नये साल की लगान निर्धारण करते समय पिछले साल के क्षेत्र-फलीय ब्यौरे से ही काम ले लिया जाता था या हर साल पैमाइश की जाती थी। इन वर्णनों में केवल 'नाप' शब्द आया है, परन्तु इससे यह पता नहीं चलता है कि यह प्रतिवर्ष नये सिरे से होती थी या पुराने ब्यौरों को ही जाँच पड़ताल के बाद मान लिया जाता था। इस विषय का सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंग यह है कि फसल खराब हो जाने पर क्या प्रक्रिया अपनायी जाती थी। लगान-निर्धारण के लिये पैमाइश करते समय ही उन खेतों का क्षेत्रफल नोट कर लिया जाता था, जिनकी फसल खराब हुई रहती थी। इस क्षेत्रफल को लगान-निर्धारण करते समय पूरे क्षेत्रफल में से घटा दिया जाता था तथा अवशेष क्षेत्रफल पर ही लगान की माँग की जाती थी। यदि कभी ऐसा हुआ कि लगान की माँग निर्धारित हो जाने के बाद फसल में कोई अप्रत्याशित खराबी आ गयी तो तत्सम्बन्धी रिपोर्ट ऊपर के कर्मचारियों को भेज दी जाती थी। इसमें यह सूचना देनी होती थी कि फसल में क्या खराबी आगयी है, कितनी भूमि (बीघों में) प्रभावित हुई तथा फसल की कितनी हानि हुई है। यह रिपोर्ट उसी अफसर को दी जाती थी, जिसके पास निर्धारण सम्बन्धी सूचनायें भेजी जाती थीं। ये नियम तथा उपनियम ही इस व्यवस्थापिका प्रणाली के मुख्य अंग थे क्योंकि लगान उपज की तिहाई थी, अर्थात् लगान की दर काफी ऊंची थी। ऐसी दशा में फसलों की खराबी पर छूट न मिलने से खेतिहर परेशानी में पड़ सकते थे तथा गाँवों के फिर से उपड़ जाने की नौबत आ सकती थी। सामान्य फसल की उपज होने पर निर्धारण-नियम साधारण ही थे तथा इसी लिये निर्धारण बड़ी सरलता से हो जाता था। पहले प्रत्येक खेत की फसल नोट कर ली जाती थी। फिर एक एक खेतिहर के खेतों को इकट्ठा कर के जोड़ लिया जाता था और तब स्वीकृत निर्धारण दर से

प्रति किसान लगान निर्धारित कर दी जाती थी। इस तरह एक गाँव के सभी खेतिहरों पर अलग-अलग जो लगान निर्धारित की जाती थी, उसको जोड़ कर गाँव भर की सामूहिक लगान निर्धारित हो जाती थी। फिर उस गाँव से उतनी लगान की माँग की जाती थी। इतनी प्रक्रियाओं के बाद परगने भर के सभी गाँवों की निर्धारित लगान की सूचना 'दरबार' को भेज दी जाती थी। दरबार को भेजने का अर्थ शायद यह हुआ कि केन्द्रीय महकमा लगान को भेज दिया जाता होगा। बाद में इस व्यवस्था के प्रचलित हो जाने पर शायद सूबे के दीवान के पास वे सूचनायें भेजी जाती होंगी जो इन्हें सम्बन्धित वजीर (Revenue Minister) को भेज देता रहा होगा।

लगान-निर्धारण की प्रक्रियाओं के वर्णन कर चुकने के बाद लगान वसूली का विषय शुरू होता है। किसानों को इस बात के लिये उत्साहित किया जाता था कि वे लोग निर्धारित लगान को नकदी के रूप में किश्त दर किश्त खजाने में जमा कर दिया करें। खजाने से मतलब मुहस्सिलों के खजांची से है जो हर परगने में मुहस्सिल के साथ ही रहता था। आवश्यक होने पर स्वयम् मुहस्सिल या उसका कोई गुमाश्ता गाँवों में भेजा जाता था। इस वसूली की प्रक्रिया में मुकद्दम तथा पटवारी भी हिस्सा बँटाते रहते थे। इन वर्णनों में ऐसा कोई आदेश नहीं दिया गया है जिससे यह पता चल सके कि कुछ खेतिहर जो गल्ला लगान के रूप में दे देते थे; उसको क्या किया जाता था। शायद इस आदेशाभाव का कारण यह है कि गल्ले के रूप में लगान देने का मामला कभी-कभी ही सामने आता था। आगे की धाराओं में उन प्रक्रियाओं का वर्णन है जो खजाने में प्रयुक्त होती थी, तथा जिनमें समय-समय पर भेजे जाने वाले व्यौरों (Returns) का वर्णन दिया गया है। इस स्थल पर एक यही बात ध्यान में रखने योग्य है कि मुहस्सिल को सदर के स्थानीय प्रतिनिधि का भी कार्य करना पड़ता था। उसे वक्फ की जमीनों की दूसरी जमीनों से अलग करके वक्फदारों को कब्जा दिलाना पड़ता था साथ ही अन्य प्रकार के महसूल जिनमें इस्लाम के आदेशानुसार गैरमुस्लिमों से जजिया (अकबर के समय में जजिया नहीं लिया जाता था पर यदि लिये जाने की स्थिति आती तो उसकी वसूली का भार मुहस्सिल पर ही पड़ता) से लेकर मुकद्दमों द्वारा दी गई सलामी तक शामिल थी, सभी की वसूली उसकी कर्तव्य सूची में थी। कभी-कभी मुकद्दम लोग जब मुहस्सिल से मिलने आते तो सम्मान प्रगट करने के लिये उसे कुछ न कुछ भेंट स्वरूप देते थे, इसी रकम को सलामी कहते थे। इनसे यह भी परिणाम निकाला जा सकता है कि मुहस्सिलों के

जिम्मे ऐसे भी काम थे कि यदि वह चाहता तो बहुत कुछ नाजायज तरीके से भी कमा सकता था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मुहस्सिल तथा उसके लिपिक के कर्तव्यों की सूची पर्याप्त बड़ी थी तथा ये कर्तव्य भी विभिन्न दिशाओं में थे। ऐसी दशा में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि क्या एक मुहस्सिल इतने अधिक कर्तव्यों की यथावत् पूर्ति कर भी सकता था या नहीं। हम नहीं जानते कि उस समय मुहस्सिल का कार्य-क्षेत्र कितना बड़ा होता था, परन्तु इसका मोटा अन्दाजा अप्रत्यक्ष रूप से किया जा सकता है। पिछले पृष्ठों में कहा गया है कि एक करोड़ी या मुहस्सिल के जिम्मे इतनी भूमि दी जाती थी जितनी जमीन की आमदनी एक करोड़ टंका होती थी। यह बात शासन के १९वें वर्ष की है। यदि यह मान लिया जाय कि उस समय प्रति बीघा लगान चालीस दाम के आस पास रही होगी तो हिसाब लगा कर मालूम किया जा सकता है कि एक मुहस्सिल के जिम्मे करीब करीब ढाई लाख बीघे खेत के रहे होंगे। यदि आबादी, तालाब, परती पड़ी जमीन तथा बागों को भी मिला दिया जाय तो करोड़ी का कार्यक्षेत्र चार लाख बीघे से कम का नहीं होता होगा। आईन में दिये गये आदेशों में करोड़ी के जितने प्रकार के कर्तव्य बताये गये हैं, उन सब का पालन यदि वह बिना सहायकों के करना चाहता तो सम्भव नहीं था कि वह ऐसा कर सकता। अतः हमको मानना पड़ेगा कि करोड़ी के पास और भी कर्मचारी रहते होंगे तथा लिपिक के पास और भी लिपिक रहते होंगे। करोड़ी अपने विभाग का प्रधान कर्मचारी रहता होगा। अपनी सभी जिम्मेदारियों को निभाने के लिये सहायकों की नियुक्ति वह स्वयम् कर लेता होगा। अकबरनामा के वर्णनों से इतना पता तो चलता है कि करोड़ी के गुमाश्ते होते थे जो गाँव गाँव घूम कर लगान वसूल किया करते थे। प्रधान लिपिक भी कुछ सहायक लिपियों की सेवाएँ प्राप्त करता रहा होगा। हरएक पैमाइश करने वाले दल के साथ एक लिपिक का रहना आवश्यक होता होगा। अकबरनामा में (भाग ३ पृष्ठ ३८२) जहाँ टोडरमल के सुधारक प्रस्तावों को स्थान दिया गया है, वहीं इस बात का भी वर्णन भी मिलता है कि इस प्रकार के पैमाइश करने वालों के कई दल एक ही सर्किल के विभिन्न गाँवों में साथ साथ काम करते रहते थे। इन्हीं प्रस्तावों में यह भी लिखा गया है कि पैमाइश करने वालों की संख्या पैमाइश किये जाने वाली जमीन की कमी वेशी पर निर्भर थी। करोड़ी को एक ऐसे स्थान पर रहना पड़ता था, जहाँ से वह पूरे क्षेत्र की देख भाल तथा उस क्षेत्र में काम करने वाले कर्मचारियों पर पूरा नियन्त्रण रख सके।

इतना कह चुकने के बाद हम अब इस स्थिति में आ गये हैं कि इस समूची

प्रणाली पर एक विहंगम दृष्टि डाल सकें, साथ ही यह भी बता सकें कि इस व्यवस्था में साधारण खेतिहरों का इस व्यवस्था से क्या और कितना सम्बन्ध था। उसे यह अनुभव तो पहले से ही हो जाता था कि इस वर्ष उसे इतनी लगान देनी पड़ेगी। अतएव वह अपने खेतों में बोआई की व्यवस्था इस प्रकार करता होगा कि उसे लगान देने के लिए आवश्यक सिक्के सुविधापूर्वक मिल जायँ; परन्तु उसे यह तो मालूम नहीं होता था कि उसकी फसल बाजार में किस भाव बिकेगी। जहाँ तक लगान का प्रश्न था, गाँव के अधिकारियों द्वारा किसी प्रकार का शोषण या अत्याचार उसके ऊपर सम्भव नहीं था। हाँ उसे यह चिन्ता अवश्य ही रहती होगी कि उसके क्षेत्र में पैमाइश करने वाला दल उसके साथ न्यायपूर्ण व्यवहार ही करे तथा निर्धारण कर्मचारी भी न्यायपूर्ण निर्धारण करें तथा वसूली करने वाले न्यायपूर्ण वसूली करें। सम्भव है कि मुहस्सिल उसे उपज वृद्धि एवम् क्षेत्रवृद्धि के लिये दबाते भी रहे हों और इस दबाव में वे उसकी शक्ति, उसके साधन तथा स्थानीय परिस्थितियों पर विचार न करते रहे हों। यह भी सम्भव था कि मुहस्सिल उनसे सहानुभूति पूर्ण व्यवहार करता रहा हो और कृषि विकास के लिये उसे आवश्यक साधन व सरकारी सहायता का प्रबन्ध कर देता रहा हो। किसान पर इस व्यवस्था का प्रभाव निर्भर था मुहस्सिलों के व्यवहार पर, क्योंकि वही गाँव का कर्ता धर्ता था। यदि वह न्याय-पूर्ण तथा सहानुभूतिपूर्ण प्रबन्ध करता था तो किसानों के लिये पूर्ण सुख व सुविधा रहती थी। परिस्थिति एवम् समय के अनुसार यह व्यवस्था खेतिहरों के लिये कष्टपूर्ण भी हो सकती थी और सुख पूर्ण भी। यह बताने के लिये कोई भी सामग्री नहीं प्राप्त है कि वास्तव में खेतिहरों की क्या स्थिति थी। हम सरलता से अनुमान लगा सकते हैं कि किसानों की दशा न तो बहुत अच्छी ही थी और न असह्य ही। मुहस्सिलों में भलेमानुस भी थे और मतलबी लोग भी। अतः इस सुख दुःख का निपटारा बादशाह के व्यक्तित्व से ही हो सकता है। यदि बादशाह की नीति यह रही कि किसान सुखी व सम्पन्न हो कर आपही उसको सम्पन्न बनावें, तो किसानों की दशा अच्छी रहती थी, परन्तु इसके विपरीत यदि बादशाह खेतिहरों की सुख सुविधा की बात को सोचे बगैर अपने ही सुख व ऐश्वर्य की बात सोचता था तो अधीनस्थ कर्मचारी खेतिहरों के जीवन को दुःखमय बना डालते थे। ऐसी दशा में हम आशा कर सकते हैं कि कम से कम प्रत्यक्ष शासन के प्रदेशों में अकबर जैसे बादशाह के शासनकाल भर तो इस व्यवस्था से प्रजा की सुख-शान्ति में वृद्धि हुई ही होगी, क्योंकि उस व्यवस्था के प्रति फिर किसी शिकायत की बात किसी ग्रन्थ में नहीं मिलती। आगे चल कर हम देखेंगे कि जहाँगीर के शासनकाल में यह व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गई और औरंगजेब

के सिंहासनारोहण के समय तक इस व्यवस्था का नाम निशान तक नहीं रह गया था।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, प्रत्यक्ष शासन के लिये बृहत् साम्राज्य का बहुत थोड़ा सा भाग रक्षित किया गया था और अधिकांश जागीरदारों के हाथ में था। अतः भारत के किसानों में से अधिकांश का भाग्य जागीरदारों के हाथ में था। सोलहवीं एवम् सत्रहवीं शताब्दी के साहित्य से हमें तत्कालीन जागीरदारों के सम्बन्ध में प्रायः कुछ नहीं मिलता। निरन्तर बदलते रहने वाले जागीरदारों के प्रबन्ध में स्थायित्व एवम् कुशलता का अभाव अवश्य ही रहा होगा। हर जागीरदार यही सोचता होगा कि न जाने कब उसकी जागीर बदल दी जाय। ऐसी दशा में कृषि विकास एवम् खेतिहरों की सुख शान्ति का खयाल शायद ही उसे आता होगा और यदि आया भी तो उसे तत्सम्बन्धी प्रयास व्यर्थ एवम् कष्टकर ही मालूम पड़ते रहे होंगे। केवल मुहस्सिल ही खेतिहरों के दुःख सुख का स्थायी साथी था। यदि उसने अच्छा काम किया तो उसे इनाम मिल गया, यदि उसका काम अच्छा न हुआ तो कोई बात नहीं। किसी जागीरदार ने अपनी जागीर में विकास कार्य प्रारम्भ किया, अभी उसके प्रयास पूरे भी न हुए थे कि उसकी जागीर की बदली का परवाना आ पहुँचा। फिर कौन और क्यों इस प्रकार के प्रयास करे।

तत्कालीन ऐतिहासिक ग्रन्थों में ऐसी कोई सामग्री नहीं है, जिसके आधार पर यह निर्णय दिया जा सके कि जागीरें जागीरदारों के पास कितने दिनों तक रहती या रह सकती थीं। इस विषय को स्पष्ट करने वाला न तो कोई नियम या आदेश ही मिलता है और न वर्णन ही। यद्यपि इन ग्रन्थों में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जिनमें बड़ी-बड़ी जागीरों की अदला बदली होती रही है परन्तु उन उदाहरणों से भी कोई सही परिणाम नहीं निकाला जा सकता। ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जिनमें एक ही जागीर काफी दिनों तक एक ही जागीरदार के अधिकार में रही। ऐसी जागीरों में यदि जागीरदार चाहता तो विकास की दिशा में बहुत कुछ किया जा सकता था, परन्तु चूँकि जागीरदारों को यह निश्चित नहीं रहता था कि अमुक जागीर कितने दिनों उनके पास रहेगी, अतः उनका एकमात्र ध्येय यही रहता था कि नियमों के दायरे के भीतर ही रह कर वे अधिक से अधिक कमा लें। इस अनिश्चिन्तता की भावना ने जागीरों के खेतिहारों को उन्नति करने से बहुत रोका। हाँ प्रत्यक्ष शासन के अन्तर्गत रहने वाले खेतिहरों की उन्नति का मार्ग अवश्य खुला हुआ था, बशर्ते कि कर्तव्य प्रेमी मुहस्सिल मिल जाय। पिछले पृष्ठों में हमने मुहस्सिलों के कर्तव्य वर्णन में मुहस्सिलों के उत्तरदायित्व को यदि भली प्रकार ग्रहण किया है तो

हमें यह समझ लेने में कोई दिक्कत न होनी चाहिये कि उस समय में गाँवों की उन्नति का सारा दारोमदार इन मुहस्सिलों पर ही था। हमें यह भी ध्यान रखना चाहिये कि प्रत्यक्ष शासन के लिये रक्षित प्रदेशों में तथा जागीरों वालों प्रदेशों में स्पष्ट विभाजन तो था, परन्तु वह विभाजन स्थायी नहीं था। तत्कालीन ऐतिहासिक ग्रन्थों में ऐसे कई उदाहरण हैं, जिनमें जागीर का प्रदेश प्रत्यक्ष शासन के प्रदेश में तथा प्रत्यक्ष शासन का प्रदेश जागीरदारी में बदला गया था। इन उदाहरणों से एक अन्य बात भी स्पष्ट हो जाती है कि केन्द्रीय महकमा लगान इस बात का प्रयत्न अवश्य करता था कि जिन प्रान्तों की उपज अच्छी हो तथा जिनका प्रबन्ध करने में कम दिक्कतें हों वे प्रान्त अवश्य ही प्रत्यक्ष शासन में रहें। एक बार एक जिले के मुहस्सिल ने शिकायत की कि जो प्रदेश उसकी देख रेख में है, वह रक्षित रक्खे जाने के योग्य नहीं है। इस शिकायत का परिणाम यह हुआ कि वह प्रदेश जागीरदारी में दे दिया गया। साथ ही यह भी बताया गया है कि एक परगने को जागीर में दे देने का प्रस्ताव किया गया परन्तु उच्च कर्मचारियों ने ध्यान नहीं दिया। नतीजा यह हुआ कि सारा परगना ही बरबाद हो गया * यत्र तत्र बिखरे हुए इन घटनाओं के वर्णनों के बल पर किसी परिणाम पर पहुँच पाना अत्यन्त कठिन है। यह बात तब और कठिन प्रतीत होती है जब इस प्रकार के वर्णनों की संख्या बहुत कम हो। अकबर के शासनकाल में कुछ प्रदेश अवश्य ऐसे थे जो सदा प्रत्यक्ष शासन के अन्तर्गत रहे, परन्तु उस समय भी किसी प्रदेश के खेतिहर को किसी भी प्रबन्ध या व्यवस्था के स्थायित्व पर विश्वास नहीं था, क्योंकि अस्थायित्व ही तो सामान्य था।

अन्तिम स्थिति (Final Position)

इस विभाग का वर्णन मैंने उन वर्णनों के आधार पर किया है जो आईन अकबरी में † "बारह सूबों का वर्णन" शीर्षक के अन्तर्गत दिये गये हैं। यह पूरा का पूरा अध्याय वर्णनात्मक है तथा इसे "अकबरी साम्राज्य का गजेटियर" कहने में कोई

---

* बयजीद १४६, १५४। हाकिन्स (प्रारम्भिक यात्राएँ, ११४) कहता है कि "जागीरदारी की भूमि इसलिये रक्षित कर ली जाती थी कि वह उपजाऊ होती थी।"

† आईन भाग १, पृष्ठ ३८६। इस विभाग की सूचनाएँ निर्धारण दरों की सूची में भी मिल सकती हैं जिनका वर्णन आईन के ३४८ पृष्ठ से शुरू होता है।

गलती न होगी। हर एक सूबे को बारी बारी से लिया गया है। पहले प्रत्येक सूबे का संक्षिप्त भौगोलिक वर्णन दिया गया है, फिर वहाँ की खेती का वर्णन है, इसके पश्चात् उस सूबे की लगान प्रणाली का वर्णन किया गया है। सम्बन्धित सूबे में कौन-कौन से उद्योग धन्धे प्रचलित हैं तथा उनकी क्या स्थिति है, इसका वर्णन करने के बाद उस सूबे के लोगों के जीवन स्तर की जानकारी दी गयी है और फिर उस प्रदेश के मुख्य शहरों एवम् कस्बों का वर्णन है। इसके बाद व्यापारिक दृष्टि से उस प्रान्त की सांख्यिकी का वर्णन दिया गया है और इन सब के अन्त में उस सूबे का इतिहास दिया गया है। प्रायः सभी सूबों का वर्णन उपरोक्त क्रम से ही दिया गया है, परन्तु वर्णनों का आकार एवम् प्रकार एक सा नहीं है। इस विभिन्नता के कारण ऐसा प्रतीत होता है जैसे विभिन्न सूबों का वर्णन विभिन्न व्यक्तियों द्वारा किया गया है तथा ये लेखक उस सूबे के विशेषज्ञ माने जाते रहे होंगे। इन लेखकों के सामने लिखने की योजना रख दी गई थी, परन्तु शायद ऐसा कोई बन्धन नहीं रक्खा गया था कि योजना को अटल मान कर लिखा जाय। चूँकि ये वर्णन सभी हस्तलिखित प्रतिलिपियों में नहीं पाये जाते, इसीलिये ऐसा सोचा जा सकता है कि इन वर्णनों को जब लिखा गया या आईन में शामिल किया गया तो आईन के पृष्ठ समाप्त किये जा चुके थे। इस प्रकार का सोचना एक और बात से भी सही माना जा सकता है कि शीर्षक देते समय बारह ही सूबों का वर्णन करने को सोचा गया था। ये बारह सूबे शासन के चौबीसवें वर्ष में ही बन चुके थे। इस वर्णन की भूमिका में तीन नये सूबों यानी बरार, खानदेश तथा अहमदनगर का भी नाम जोड़ दिया गया है। ये तीनों सूबे २४ वें वर्ष के बाद जीते गये थे। इनमें से बरार तथा खानदेश का वर्णन पर्याप्त विस्तृत है। अतः निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि सूबों का यह वर्णन कब लिखा गया, परन्तु हम इन वर्णनों की सहायता से अकबरी शासन के चालीसवें वर्ष के आस पास के समय में साम्राज्य की जो स्थिति थी, उसकी साधारण जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। यहाँ यह कह देना भी अप्रांसगिक नहीं होगा कि इन सारे लेखों का सम्पादन * स्वयम् अबुल फजल ने ही किया है तथा वह शासन के ४३वें वर्ष तक आईन के सम्पादन का कार्य करता रहा।

उस समय जो लगान प्रणाली प्रचलित थी उसका संक्षिप्त पर सम्पूर्ण परिचय

* मालवा का प्रारम्भिक वर्णन स्वयम् अबुल फजल द्वारा लिखा गया है तथा शासन के ४३वें साल का उज्जैन का एक संस्मरण भी मिलता है जिसे अबुल फजल ने दक्षिण जाते समय देखा था।

सरकारी (पारिभाषिक शब्दावली युक्त) भाषा में दिया गया है। जहाँ कहीं एकाध सूचना का अभाव मालूम पड़ता है, वहाँ भी पूरा वर्णन पढ़ने से वह सूचना मिल जाती है। इस विषय के तथ्यों को संक्षिप्त रूप से आगे की पंक्तियों में दिया गया है।

साम्राज्य के छः पुराने सूबे ही उसके केन्द्र थे। इनके नाम थे, मुल्तान, लाहौर, दिल्ली, आगरा, अवध तथा इलाहाबाद। इन सूबों के मुख्य रूप से (समग्र रूप से नहीं) उसी व्यवस्था के अनुसार काम होता था जिसे हमने व्यवस्थापिका प्रणाली का नाम दिया है। इनमें लगान की माँग कैशरेट की सूची से निर्धारित की जाती थी। यह माँग केवल उसी भूमि के क्षेत्रफल पर की जाती थी, जितने में उस साल फसल की बोआई हुई रहती थी। इन दरों की सूची आईन में दी हुई है और ये सूचियाँ जागीरों में भी उसी प्रकार लागू होती थीं, जैसे रक्षित प्रदेशों में। कुछ क्षेत्र ऐसे भी थे जिनकी व्यवस्था कुछ भिन्न थी। दिल्ली सूबे का पहाड़ी जिला कुमाऊँ ऐसा ही क्षेत्र था। इलाहाबाद के दक्षिण में भी कुछ क्षेत्र इसी भिन्न व्यवस्था के अन्तर्गत आते थे उसे भटगोरा का जिला कहते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि ये क्षेत्र करद सरदारों द्वारा शासित होते थे या हो सकता है कि ऐसे क्षेत्र एकदम से स्वतन्त्र ही रहे हों। कुछ छोटे छोटे भूभागों की सांख्यिका * से पता चलता है कि वहाँ भी भिन्न व्यवस्थायें प्रचलित थीं, परन्तु ये सभी भूभाग मिल कर भी साम्राज्य के कुल क्षेत्र के लाखवें भाग से भी कम थे।

अन्य प्रान्त इन केन्द्रीय प्रान्तों से दूर रहते थे तथा उन सब की व्यवस्था में इतना विभेद है कि उनका अलग वर्णन ही समुचित होगा। पश्चिम में ठट्टा या दक्षिणी सिन्ध में बँटाई प्रथा से लगान निर्धारण होता था तथा समूची उपज की तिहाई लगान में ली जाती थी। यह बताने की कोई ऐसी सामग्री नहीं मिलती कि लगान गल्ले के रूप में ली जाती थी या सिक्कों के रूप में।

मुगल कालीन अजमेर वह प्रदेश था जिसे हम आज राजस्थान कहते हैं, परन्तु वर्तमान राजस्थान के पूर्वी भाग इसमें शामिल नहीं थे। ये पूर्वी भाग आगरा में शामिल किये गये थे। अकबर के शासनकाल में यह प्रान्त अनेक विभिन्न तत्वों के मेल से बना था। इसके कुछ भागों में व्यवस्थापिका प्रणाली लागू थी, जब कि इसके अधिकांश भाग करद सरदारों के हाथ में थे, जिनसे बादशाह को कर मात्र मिलता था, लगान नहीं। इस प्रकार के भूभागों में लगान की दर साम्राज्य शासित प्रदेशों से नीची थी। किसी-किसी इतिहासकार ने तो लिखा है कि इन भूभागों में उपज

* कृपया परिशिष्ट 'ग' देखिये।

का सप्तमांश या अष्टमांश ही लगान रूप में लिया जाता था। अनेक वर्णनों से पता चलता है कि इन क्षेत्रों के खेतिहर अपनी लगान गल्ले के रूप में देते थे, यद्यपि ऐसा कोई नियम नहीं था, क्योंकि सिक्कों के रूप में भी लगान दी जाती थी, ऐसा पता चलता है। यदि आईन में दी गई सांख्यिकी पर भरोसा करें तो हम यह सकने की स्थिति में हैं कि अजमेर, नागौर तथा रणथम्भोर के जिलों में व्यवस्थापिका प्रणाली प्रचलित थी। दूसरे और भी जिलों की गणना की गयी है। इनमें बीकानेर पूर्ण रूपेण किसी सरदार के हाथ में था। सिरोही का जिला चार सरदारों में बँटा हुआ था। जोधपुर तथा चित्तौर भी सरदारों के हाथों में थे, यद्यपि दोनों जिलों के कुछ परगने प्रत्यक्ष शासन के अन्तर्गत ले लिये गये थे। निर्धारण दरों की सूची बीकानेर तथा सिरोही को छोड़कर प्रत्येक जिलों की अलग अलग दी गई है। इन दो जिलों की सूची बनाने की आवश्यकता ही नहीं समझी गई। जोधपुर एवम् चित्तौर के लिये जो निर्धारण दर की सूचियाँ दी गई हैं वे अवश्य उन्हीं परगनों में लागू रही होंगी, जो प्रत्यक्ष शासन के अन्तर्गत थे।

मालवा प्रान्त भी अनेक विरोधी तत्वों का सम्मिश्रण था। इसमें व्यवस्थापिका प्रणाली प्रचलित थी, परन्तु इसका स्पष्ट वर्णन है कि न तो पश्चिम में मन्दसौर जिले में उक्त प्रणाली प्रचलित थी और न पू र्व में गढ़ा जिले में ही। इन जिलों का जैसा वर्णन किया गया है उससे यही पता चलता है कि ये सब सरदारों के हाथों में थे। प्रान्त के कुछ अन्य जिलों की व्यवस्था के बारे में भी सन्देह बना रह जाता है। विस्तृत * रूप से किसी भी निश्चय पर पहुँचना कठिन प्रतीत होता है। इतना निस्सन्देह स्पष्ट है कि जिन तीन निर्धारण मंडलों का वर्णन किया गया है, उसमें से केवल एक मंडल की सूची (रायसीन तथा चंदेरी) ही काम चलाऊ है। मांडू में तरबूज को छोड़ कर अन्य किसी भी ग्रीष्म कालीन उपज की दर सूची में नहीं है।

---

* आईन भाग १ पृष्ठ ३८१। मालवा में निर्धारण मण्डलों का विभाजन स्पष्ट है। यदि और सूबों की तरह ही इसे भी विभाजित किया जाय तो उज्जैन तथा रायसीन एक वर्ग में पड़ेंगे परन्तु सूची में वे अलग अलग वर्ग में हैं। सर्वाधिक उचित परिणाम यही मालूम होता है कि १—गढ़ा एवम् मन्दसौर के लिये कोई सूची नहीं बनी, २—चन्देरी तथा रायसीन में एक ही सूची काम में लायी जाती थी, ३—मांडू के लिये अलग सूची थी, ४—उज्जैन वाली सूची शेष सात जिलों में चालू थी। जो पाठक मिस्टर जैरेट के अनुवाद पर निर्भर करना चाहें वे उसमें उज्जैन के स्थान पर गढ़ा पढ़ें।

शरत् कालीन फसलों में भी केवल गन्ना, कपास, तथा सिंघाड़े की दरें दी गयी हैं जब कि इस मंडल में दोनों ऋतुओं में अन्यान्य फसलें भी होती थी। तीसरी सूची (जो सात जिलों के लिये है) भी त्रुटिपूर्ण है। शरत् कालीन फसलों में तो कितनी ही फसलें छोड़ी ही गयी हैं, साथ ही ग्रीष्म कालीन फसलों में केवल पपीता, तेलहन, तरबूज तथा कुछ तरकारियों की दरें दी गयी हैं। मालवा की जिस सूची में मुख्य खाद्यान्न गेहूँ की तथा दालों की दरें नहीं दी गयी हैं उसे हम काम चलाऊ कैसे मान सकते हैं। इसकी कल्पना तो की नहीं जा सकती कि आईन में दी गयी दरें प्रचलित सरकारी दरें हैं। इन त्रुटिपूर्ण सूचियों से एक मात्र यही परिणाम निकाला जा सकता है कि व्यवस्थापिका प्रणाली पूर्णरूपेण केवल रायशीन तथा चन्देरी में ही प्रचलित थी। बाकी मंडलों में बाजारू चीजों की दरें भर दी गयी है। बाकी महलों में कोई स्थानीय दर प्रचलित रही होगी जिसका वर्णन नहीं हो सका है।

बिहार उन सूबों में नहीं था जो उन्नीसवें वर्ष में प्रत्यक्ष शासन में ले लिये गये थे। अतः केवल पांच साल बाद ही वहाँ के लिये दरों की सूची बनाने के लिये आवश्यक सूचनाओं की कमी अवश्य ही पड़ी होगी। आईन में भी बिहार के लिए कोई सूची नहीं दी गयी है, यद्यपि उसमें यह लिखा गया है बिहार प्रान्त के अधिकांश भाग में व्यवस्थापिका प्रणाली चालू की गयी थी। अतः हम अनुमान कर सकते हैं कि इस सूबे में व्यवस्थापिका प्रणाली शासन के २५ वें तथा चालीसवें वर्ष के बीच कभी लागू की गयी होगी। मुंगेर जिले में अवश्य ही यह प्रणाली लागू नहीं थी। अन्य जिलों में छोटे छोटे कुछ क्षेत्र सरदारों के अधीन थे। इस सूबे में १९९ मंडल (जिस प्रकार आजकल की तहसीलें हैं) थे तथा इनमें से १३८ मंडलों में उक्त प्रणाली प्रचलित थी।

बंगाल से अकबर ने वही व्यवस्था कायम रक्खी जो उस समय वहाँ प्रचलित थी जब बंगाल मुगल-साम्राज्य में मिलाया गया। उस समय वहाँ 'नसक' प्रणाली प्रचलित थी, जिसका स्पष्टीकरण परिशिष्ट 'द' में दिया गया है। आज भी इसके अर्थ के बारे में विद्वानो में मतभेद है। इस प्रथा का संकेत समूचे गाँव या समूचे परगने के निर्धारण की ओर होता है, परन्तु इस शंका का समाधान नहीं हो पाता कि निर्धारण किसानों के साथ व्यक्तिगत रूप से होता था या मुकद्दम या चौधरी के साथ

१—कुछ तत्कालीन ऐतिहासिक ग्रन्थों के अनुसार बिहार प्रान्त की उत्तरी सीमा गङ्गा तक ही थी। परन्तु आईन के अनुसार आजकल के लगभग समान ही सारन, चम्पारन तथा तिरहुत के जिले बिहार में ही थे जो गङ्गा के उत्तर में थे।

सामूहिक रूप से। आईन में इस सूबे में प्रचलित दरों की सूची नहीं दी गयी है, इसलिये १८ वीं शताब्दी के लेखकों ने जो कहा है कि टोडरमल ने बंगाल में प्रतिव्यक्ति लगान निर्धारित की, उनकी पुष्टि के लिये कोई तत्तकालीन वर्णन नहीं मिलता।

आईन के वर्णनों में उड़ीसा को बंगाल का ही भाग बताया जाता है तथा उस प्रदेश की लगान-निर्धारण-प्रणाली का वर्णन अलग से नहीं किया गया है। इस प्रान्त की सांख्यिकी के अध्ययन से पता चलता है कि इस प्रदेश की व्यवस्था बंगाल के ही समान थी। यहाँ के दो जिले अर्थात् कलिंग तथा राजामहेन्द्र अवश्य ही सरदारों के शासन में थे। कुछ वर्णन से ऐसा संकेत मिलता है कि कुछ अन्य छोटे मोटे क्षेत्र भी सरदारों के ही अधीन थे।

उड़ीसा के पूर्व में एक सूबा पड़ता था, जिसे कहीं कहीं गोंडवाना का सूबा कहा गया है, परन्तु सूबों की तत्तकालीन सूची में गोंडवाना का नाम नहीं आया है। शायद तब तक यह सूबा बना ही नहीं था। यह भूभाग स्वतंत्र सरदारों का था या उन सरदारों का था जो किसी प्रकार से बादशाह की अधीनता स्वीकार कर चुके थे तथा इनके इलाकों का वर्णन पड़ोसी सूबों के साथ ही कर दिया गया है। इस इलाके के बाद बरार का नम्बर आता है। जिस समय यह प्रदेश विजित किया गया था उसके काफी पहले से यहाँ 'नसक' प्रणाली प्रचलित थी और जैसा कि बंगाल में हुआ था। अकबर ने भी उसी प्रणाली को मान्यता दे दी थी। इस प्रान्त के बारे में बंगाल की तरह ही यह शंका बनी रह जाती है कि लगान निर्धारण प्रति किसान होता था या प्रति मुखिया। प्रान्त का अधिकांश भाग सरदारों को रियासत के रूप में दे दिया गया था। कुछ छोटी छोटी स्वतंत्र रियासतें भी थीं यद्यपि सांख्यिकी में उनका भी नाम आ गया है।

खानदेश (जिसे आईन में दान देश कहा गया है) एक छोटा सा सूबा था। इसमें एक ही जिला खानदेश था, जो नर्मदा के दक्खिन में पड़ता था। यह नहीं लिखा गया है कि इस सूबे में लगान निर्धारण की कौन सी प्रणाली प्रचलित थी, परन्तु सांख्यिकी से अनुमान किया जा सकता है, कि यहाँ भी बरार वाली प्रणाली ही व्यवहृत होती थी।

सूबों की सूची में गुजरात का नम्बर अन्तिम है। इसके विषय में कुछ कठिनाइयाँ सामने आती हैं। उन्नीसवें वर्ष में यह सूबा प्रत्यक्ष शासन में नहीं लिया गया था, अतः यहाँ की निर्धारण-दरें तैयार नहीं की जा सकी होंगी और शायद इस सूबे की निर्धारण सूची इसीलिए आईन में नहीं दी जा सकी। आईन के वर्णन में यह वाक्यांश किया गया है कि 'अधिकांश नसक और अति गौण रूप में नाप प्रणाली

प्रचलित थीं', परन्तु सोरठ को छोड़कर शेष जिलों की जो सांख्यिकी दी गयी है उससे पता चलता है कि अधिकांश परगनों की लगान क्षेत्रफल पर निर्धारित की गयी थी। इससे यह परिणाम निकलता है कि कभी न कभी यहाँ की भूमि की पैमाइश अवश्य हुई होगी, क्योंकि सांख्यिकी की बातों को केवल कपोल कल्पित कह कर उड़ाया नहीं जा सकता। यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उन्नीसवें वर्ष के बाद कभी इस क्षेत्र में व्यवस्थापिका प्रणाली का प्रचलन किया गया होगा तथा बाद में चलकर इसे छोड़कर या तो सीरदारी को अपना लिया गया होगा या सामूहिक निर्धारण को। इस निर्धारण में उस समय की सूचनाओं का सहारा अवश्य लिया गया होगा जो व्यवस्थापिका प्रणाली के प्रचलन-काल में प्राप्त की गयी होंगी। निस्सन्देह ऐसी कोई सामग्री नहीं मिलती जिसे आधार मान कर हम किसी निश्चित परिणाम पर पहुँच सकें।

ऊपर की पंक्तियों में विभिन्न सूबों का जो संक्षिप्त वर्णन दिया गया है उसमें न तो काश्मीर के पहाड़ी सूबे का वर्णन है और न अफगानिस्तान का, जब कि ये दोनों ही भूभाग मुगल साम्राज्य में शामिल थे। इन दोनों प्रदेशों में लगान की जो भी प्रणालियाँ प्रचलित थीं वे बड़ी उलझन पूर्ण एवम् विचित्र थीं। इनमें सर्वत्र स्थानीय विचार काम कर रहे थे। आईन में इन प्रान्तों का जो कुछ वर्णन दिया गया है, वह स्थानीय इतिहास में रुचि रखने वालों के लिये काफी महत्वपूर्ण है, परन्तु ग्रामीण-व्यवस्था के अन्तर्गत लगान प्रणाली में रुचि रखने वालों को तो इस वर्णन से निराशा ही मिलेगी। इस वर्णन में ऐसी कोई सामग्री नहीं है जो साम्राज्य के शेष भाग की या सम्पूर्ण साम्राज्य की प्रणाली की कोई जानकारी दे सके। आईन में इन दोनों प्रदेशों से सम्बन्धित जिन तथ्यों का उल्लेख किया गया है, वे इस विचारधारा का समर्थन करते हैं कि कम से कम अपने शासन के ४० वें वर्ष तक अकबर व्यवस्थापिका प्रणाली को न केवल मानता ही रहा, वरन् जहाँ तक परिस्थितियों की अनुकूलता ने उसे जाने दिया वहाँ तक उसने उक्त प्रणाली को प्रचलित किया, परन्तु जिस प्रदेश की स्थानीय परिस्थितियाँ इस प्रणाली के प्रतिकूल थीं, वहाँ उसने इसके प्रचलन में जबर्दस्ती नहीं किया। अब केवल एक महत्वपूर्ण प्रश्न का उत्तर देना शेष रह गया है। वह प्रश्न यह है कि जिन प्रदेशों में व्यवस्थापिका प्रणाली का प्रचलन था, उन प्रदेशों की स्थानीयस्थितियों का इस प्रणाली को चलाने में कहाँ तक विचार किया गया था ? दूसरे शब्दों में इस प्रश्न को इस प्रकार भी रक्खा जा सकता है कि जिन प्रदेशों में उक्त प्रणाली प्रचलित की गयी थी, उन प्रदेशों का कितना भूभाग सरदारों की रियासतों के रूप में था ?

आईन में जो सूचनायें इस सम्बन्ध की मिलती हैं उनसे इस प्रश्न का उत्तर नहीं मिलता, क्योंकि जिन सूचनाओं को आधार बना कर हम इस प्रश्न का उत्तर

प्राप्त कर सकते हैं उनके ऐतिहासिक महत्व विभिन्न रूप के हैं। विश्वास के साथ जो कुछ कहा जा सकता है वह इतना ही है कि राजपूताना का अधिकांश भाग सरदारों की रियासतों के रूप में था, गोंडवाना के चतुर्दिक सरदारों की रियासतों का घेरा सा बना हुआ था, अर्थात् इलाहाबाद एवम् बिहार के दक्षिण, उड़ीसा के पश्चिम, बरार के उत्तर तथा मालवा के पूर्व वाले भूभाग में अधिकांश रियासतें ही थीं। जहां तक केन्द्रीय प्रदेशों का प्रश्न है, कुछ निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि भारतीय जनता का व्यवहार शासन के प्रति आन्तरिक रूप से अमित्रता पूर्ण था और अबुलफजल का यह कथन ठीक था कि 'भारतीय जमींन्दारों (सरदारों) में यह रिवाज सा था कि वे निश्चय पूर्वक एक राह पर नहीं रहते थे वरन् उनकी दृष्टि चतुर्दिक घूमती रहती थी और वे हर ऐसे व्यक्ति के साथ कदम बढ़ाने को तैयार रहते थे जो आगे बढ़ रहा हो तथा जिसका साथ देने में उन्नति का अवसर हों।' हम यह मान सकते हैं कि अबुलफजल ने सरदारों को ही दृष्टि से रख कर ऐसा लिखा था। ऐसी दशा में यह अकबर की बुद्धिमानी ही थी कि उसने किसी भी व्यवस्था को बल पूर्वक किसी पर नहीं लादा, बल्कि सामान्य प्रशासन में भी उसने सबके हितों का एवम् मतों का ध्यान रक्खा।

जिस प्रदेश को अवध कहा गया है उसका वर्णन भी इस विषय में महत्वपूर्ण है। यहाँ की स्थानीय परम्पराओं के अध्ययन से पता चलता है कि इस प्रदेश के अधिकांश राजपूत सरदारों ने अपना अधिकार समूचे मुगल राज्य काल में सुरक्षित रक्खा, परन्तु आईन में उक्त निश्चय को पुष्ट करने वाला कोई वर्णन नहीं मिलता। उससे तो यही पता चलता है कि सारे प्रदेश में बिना किसी आधार के व्यवस्थापिका प्रणाली प्रचलित की गयी थी। ऐसी दशा में सम्भावना इस बात की ही अधिक है कि स्थानीय परम्पराओं में सरदारों के अधिकारों का वर्णन अत्युक्तिपूर्ण किया गया हो, फिर भी तत्तकालीन स्थिति का वर्णन करते समय इन वर्णनों को सम्पूर्ण रूप से विस्तृत भी नहीं किया जा सकता। मेरा स्वयम का विचार यह है कि वास्तविकता इन दोनों के मध्य में नहीं है, अर्थात् यद्यपि सिद्धान्त रूप में शासन प्रबन्ध सारे सूबे में ही चलता रहता था, परन्तु उसे कार्य रूप परिणत करने के लिये इन सरदारों की भी सहायता लेनी पड़ती थी। इन सरदारों को इतनी स्वतंत्रता थी कि वे प्रजा से पाये हुये लगान का कुछ अंश अपने खर्च के लिये रख लेते थे, परन्तु इस मत को भी पुष्ट करने वाला प्रमाण कहीं उपलब्ध नहीं है। अतएव इस प्रश्न को तब तक के लिये अनिर्णीतावस्था में ही छोड़ देना चाहिये जब तक कि इस विषय की पूर्ण जानकारी देने वाली सामग्री प्राप्त नहीं हो जाती।

———

पाँचवाँ अध्याय

सत्रहवीं शताब्दी

जहाँगीर तथा शाहजहाँ (१६०५-१६५८)

सन् १६०५ ईस्वी में अकबर की मृत्यु हुई तथा उसका पुत्र सलीम जहाँगीर के नाम से गद्दी पर बैठा। जहाँगीर का उत्तराधिकारी हुआ खुर्रम, जिसे हम ताजमहल के निर्माता के रूप में शाहजहाँ के नाम से जानते हैं। शाहजहां का शासन काल सन् १६५८ तक रहा, अर्थात् इन दोनों बादशाहों का शासन काल सत्राहवीं शताब्दी के मध्य काल तक रहा। इस शताब्दी के प्रारम्भिक पचीस वर्षों तक का समय ऐसा रहा कि इसमें ग्रामीण व्यवस्था की स्थिति का ठीक ठीक पता देने वाली कोई सामग्री नहीं मिलती। इतना ही नहीं कि इस सम्बन्ध में आवश्यक-सरकारी-प्रपत्र नहीं मिलते, वरन् तत्कालीन इतिहासकारों ने भी इस विषय में कुछ लिखना आवश्यक नहीं समझा। न तो किसी व्यवस्था का जिक्र उन्होंने किया और न किसी व्यवस्था में किसी प्रकार के महत्वपूर्ण परिवर्तन का ही। उनकी इस प्रकार की खामोशी से यही परिणाम निकालना समुचित जान पड़ता है, कि अकबर कालीन जिस व्यवस्था का पिछले अध्याय में वर्णन किया गया है; वही व्यवस्था इस समय में भी अपरिवर्तित रूप में ही चालू रही, परन्तु औरङ्गजेब ने सन् १६६५ में जिस प्रकार आदेश इस विषय में दिया, उससे इस परिणाम के विपरीत धारणा बनानी पड़ती है। इन आदेशों से पता चलता है कि अकबरकालीन व्यवस्था उस समय तक छिन्न भिन्न हो गयी थी तथा उसका प्रचलन सम्पूर्णरूपेण समाप्त हो गया था। ऐसी दशा में ऐसा समझ पड़ता है कि आईन की समाप्ति होने के साल अर्थात् सन् १५९४ ई० तथा औरङ्गजेब के सिंहासनारोहण के बीच के किसी समय में या तो कुछ ऐसे परिवर्तन किये गये, जिनका वर्णन (चाहे जिस किसी भी वजह से) नहीं हो सका, या अकबर कालीन व्यवस्था ही धीरे धीरे क्षीण हो गयी। मेरी समझ से द्वितीय सम्भावना ही अधिक तर्कपूर्ण मालूम पड़ती हैं। औरंगजेब के आदेशों का वर्णन हम इसी अध्याय में आगे चल कर करेंगे। उन आदेशों से यह पता चलता है कि कुछ पिछड़े हुये भूभागों में

बँटाई की प्रथा तथा शेष साम्राज्य में सामूहिक निर्धारण की प्रथा प्रचलित थी। जिन पिछड़े क्षेत्रों में बँटाई की प्रथा चालू थी, उनके नाम नहीं ज्ञात हो सके। जहां पर सामूहिक निर्धारण चालू था वहाँ सुविधानुसार बँटाई तथा नाप दोनों ही निर्धारण प्रथायें काम में लायी जा सकती थीं। बँटाई तथा नाप का सहारा उसी स्थान पर लिया जाता था, जहाँ का मुकद्दम सरकार द्वारा निर्धारित लगान को स्वीकार नहीं करता था। जिन आदेशों के कारण ये परिवर्तन सम्भव हो सके उनका कहीं भी पता नहीं चलता। ऊपर जो मैंने कहा है कि अकबरकालीन व्यवस्था धीरे धीरे क्षीण हो गयी, उसी से समझ लेना चाहिये कि एक व्यवस्था के क्षीण होने से दूसरी व्यवस्था स्वयमेव ही चालू हो जाती है, और ऐसी खुदबखुद चालू हो जाने वाली व्यवस्था का समय निर्धारण करना बहुत ही कठिन काम होता है। इसीलिये यह नहीं पता चलता कि व्यवस्थापिका प्रणाली कब समाप्त हुई तथा उपरोक्त व्यवस्था कब शुरू हुई। यदि ये परिवर्तन किसी आदेशानुसार किये गये होते तो उनका पता अवश्य ही चल जाता। तत्कालीन स्थिति में व्यवस्था की क्षीणता ही अधिक सम्भव है।

पिछले अध्याय के वर्णनों को भली भांति पढ़ने से यह बात स्पष्ट दिखाई पड़ेगी कि प्रत्येक वर्ष में दो बार उन खेतों की पैमाइश करनी पड़ती थी, जिनमें फसलें बोई जाती थीं। नापने की इस प्रथा में राज्य का खर्च भी बहुत होता था और कष्ट भी कम नहीं होता था। सुदृढ़ एवम् सशक्त शाहंशाह के शासन में यह रीति प्रभाव पूर्ण होती थी, इसमें शक नहीं, परन्तु शायद यह रीति अनुपयुक्त थी और यदि केन्द्रीय-महकमा-लगान जरा भी निर्बल हुआ तो यह रीति बादशाह पर भी, कर्मचारियों पर भी तथा साथ ही किसानों पर बहुत बड़ा बोझ बन जाती थी। यद्यपि बादशाह हर बात में महकमा लगान का समर्थन नहीं करता था तब भी दिक्कतें पड़ने लगती थी। इसकी असुविधायें कुछ अधिक इसलिये भी मालूम पड़ती थीं कि लोग सामूहिक निर्धारण की सुविधा को जानते थे। सामूहिक निर्धारण-प्रणाली राज्य के लिए सस्ती भी पड़ती थी और सुविधाजनक भी। अकबर ने अपने शासनकाल में यद्यपि इसको वर्जित कर रक्खा था, फिर भी महकमा-लगान वाले इस प्रथा से बखूबी परिचित थे, और अकबरी शासन में भी स्थानीय परिस्थितियों के कारण यह प्रथा यत्र-तत्र लागू थी। यदि तत्कालीन परिस्थितियों से अकबर का सशक्त हाथ हम अलग कर सकें तो देखेंगे कि सामूहिक निर्धारण उस समय के लिये भी सर्वाधिक सुविधाजनक प्रणाली थी। यदि अकबर ने वर्जित न किया होता तो प्रति वर्ष दोहरी पैमाइश की दिक्कतों के तंग आकर महकमा लगान ने स्वम् ही सामूहिक निर्धारण ही लागू कर दिया होता। थोड़े समय के लिये यह परिवर्तन ही ठीक ही था, बल्कि मेरी तो यह राय

है कि तत्कालीन परिस्थितियों में उत्तर भारत में सर्वाधिक उचित यही था कि व्यवस्थापिका प्रणाली को परिवर्तित कर दिया जाय, क्योंकि यह प्रणाली इतने अधिक दिनों तक अभंगरूप से प्रचलित रही थी कि बार बार की पैमाइशों एवम् उन पैमाइशों के आधार पर किये गये निर्धारण से कर्मचारियों एवम् जनता के पास इतने पर्याप्त आंकड़े हो गये थे कि अब वे सामूहिक निर्धारण को आसानी से चालू कर सकते थे और उसमें किसी को भी शायद यह शिकायत नहीं हो सकती कि उसको आर्थिक हानि का सामना करना पड़ा। अब इस प्रथा को कब तक चालू रक्खा जा सकता था जब तक कि देश में कोई भारी आर्थिक परिवर्तन न हो जाता। यह बात भी मान्य हो सकती है कि जहाँगीर के शासन के प्रारम्भ में ही लोगों के दिमाग में इस प्रकार के परिवर्तन की बात उठती रही हो, परन्तु इस बात का चिन्ह भी किसी तत्कालीन लेख या सरकारी कागजों में नहीं मिलता। चाहे जिस किसी लिये या जिस किसी प्रकार के परिवर्तन की बात सामने आवेगी, हम लोगों को उसका महत्व मानना ही पड़ेगा। परन्तु औरंगजेब के आदेशों का अध्ययन करने के पूर्व हमें उन थोड़ी सी सूचनाओं पर विचार कर लेना चाहिये, जो सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के बारे में प्राप्त हैं।

जहांगीर-काल के इतिहासकारों के वर्णनो में सुरक्षित प्रदेशों तथा जागीरों के बीच का भेद स्पष्ट है। साम्राज्य का अधिकांश भाग उसी प्रकार जागीरदारी में था, जैसे अकबर के समय में शेष भाग के लगान का प्रबन्ध प्रत्येक सूबे में इसी कार्य के लिये नियुक्त किये गये दीवानों के हाथ में था, जो सीधे वजीर-लगान से आदेश प्राप्त करते थे। १६४७ ई० में सुरक्षित प्रदेशों की कुल आमदनी तीन करोड़ रुपये थी, जब कि समूचे साम्राज्य की आमदनी थी बाइस करोड़ रुपये। * इससे भी सिद्ध होता है कि उस समय में देश के अधिकांश खेतिहर जागीरदारों के हाथ में थे। हो सकता है कि विभिन्न वर्षों में यह अनुपात विभिन्न होता रहा हो, † हाँ इसी के आस पास का अनुपात पूरे समय तक बना रहा। एक ग्रन्थ है 'मआसिरुल' उमरा। यह एक कोष है जिसमें तत्कालीन बड़े लोगों के जीवन चरित्र दिये गये हैं। इन्हीं जीवन चरित्रों में यत्र तत्र कुछ अर्थ सम्बन्धी बातें भी दी गयी है जो सम्पूर्णतया सही भले ही न हो, परन्तु

---

* बादशाहनामा भाग २ पृ० ७१३। यह ग्रन्थ बादशाह की आज्ञा से लिखा गया था अतः इसकी बातों को सरकारी ही समझना चाहिये।

† भाग २ पृ० ८१३। इलियट के अनुसार इस ग्रन्थ की रचना दक्खिन में हुई न कि उत्तर भारत में तथा यह रचना १८वीं शती की है, नकि १७वीं शती की।

वे कपोल कल्पित भी नहीं मानी जा सकतीं। उसमें दी हुई सांख्यिकी में कुछ अत्युक्ति हो सकती है, परन्तु उसके मूल रूप को सही माना जा सकता है। इस अध्याय में और कुछ कहने के पूर्व उक्त पुस्तक के उन स्थलों के सारांश की जानकारी दे देना समुचित होगा जो आर्थिक स्थिति से सम्बन्धित हैं। इस पुस्तक के अनुसार अकबर का साम्राज्य दिनोंदिन विस्तृत होता गया और साथ साथ ही विस्तृत होता गया उसका व्यय, जो निरन्तर बढ़ते हुए साम्राज्य की आय से भी पूरा नहीं पड़ता था, और समय समय पर खजाने की रक्षित पूंजी में भी हाथ लगाना पड़ता था। अपने शासन-काल में जहाँगीर शासन प्रबन्ध पर कम ध्यान देने लगा था, जिसका परिणाम यह हुआ कि शाही खर्च बढ़ते बढ़ते १५० लाख सालाना तक जा पहुँचा और रक्षित प्रदेश की आय निरन्तर घटती गयी। यहाँ तक कि वह घटते घटते केवल ५० लाख वार्षिक ही रह गयी। वास्तव में न तो खर्च ही इतना बढ़ा था और न आमदनी ही इतनी कम हुई थी। सत्य तो यह था कि खजाने तक पहुँचते पहुँचते रकम आधी से भी कम रह जाती थी। वसूली से शुरू होकर खजाने तक आने में जितने ही हाथ लगते थे, उतनी ही रकम घटती जाती थी। उधर खर्च का यह हाल हुआ कि खर्च हुआ एक तो दिखाया गया तीन। बढा हुआ खर्च निरन्तर रक्षित कोष से लिया जाता रहता था जिससे वह दिनों दिन कम होता जा रहा था। अपने सिंहासनारोहण के समय से ही शाहजहाँ ने आर्थिक विषयों पर ध्यान देना शुरू किया। उसने रक्षित प्रदेशों की आय का लक्ष्य बिना लगान बढ़ाये हुये रक्खा १५० लाख तथा वार्षिक व्यय रक्खा १०० लाख रुपये। अब उसके हाथ में प्रतिवर्ष ५० लाख रुपये प्रतिवर्ष की आय बँचत रूप में आने लगी जो आपत्ति कालीन खर्चों के लिये सुरक्षित कोष में रक्खी जाने लगी। इसमें शक नहीं की कि सी आय उससे भी अधिक बढ़ी अर्थात् वह सन् १६४७ में प्रतिवर्ष ३०० लाख तक जा पहुँची और शासन के अन्त तक ४०० लाख रुपये प्रतिवर्ष तक जा पहुँची। औरंगजेब ने कोशिश की कि आय व्यय का जो संतुलन उसके पिता के समय में था, वह बना रहे, परन्तु दक्खिन की लम्बी लड़ाइयों में उसका बहुत सा रुपया खर्च हो गया और उसकी मृत्यु के समय खजाने में दस बारह करोड़ रुपये से अधिक नहीं बँच सका था। यह थोड़ा सा अवशेष भी उसके उत्तराधिकारियों द्वारा शीघ्र ही इधर उधर कर किया गया।

जहाँगीर के शासनकाल का यह वर्णन उस वर्णन से करीब करीब मिलता जुलता ही है जो तत्कालीन ऐतिहासिक ग्रंथों में मिलता है। उस समय में जो विदेशी यात्री भारत में आये थे, उन्होंने भी इससे मिलता जुलता वर्णन ही दिया है। अपने शासन के अन्तिम वर्षों में जहाँगीर ने आप ही शासन तन्त्र को छोड़ दिया एवम् उसकी

स्त्री नूरजहाँ अपने भाई की सहायता से सल्तनत का काम देख रही थी। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक ही था कि शासन में अपव्यय एवम् प्रभाव-हीनता आ जाती। तत्कालीन इतिहास-लेखकों ने इस समय की आर्थिक दशा पर कुछ भी नहीं लिखा है, इससे भी सिद्ध होता है कि जहांगीर ने देश के शासन प्रबन्ध में रुचि लेना बन्द कर दिया था। बादशाह के संस्मरण के लेखक ने भी इन विषयों पर कुछ भी नहीं लिखा है। फिर भी इस ग्रन्थ के कुछ अंशों पर ध्यान देना आवश्यक प्रतीत होत है। बादशाह ने गद्दी पर बैठने के वक्त कुछ आदेश प्रचारित किये थे। उस आदेश की सातवीं धारा में कहा गया है कि—"कोई भी कर्मचारी या जागीरदार किसी किसान की भूमि स्वयम् अपने प्रयोग के लिये तब तक न ले जब तक किसान की पूरी रजामन्दी न हो।" इस धारा से ऐसा प्रतीत होता है कि ऐसी घटनाओं की शिकायत बादशाह के कानों तक पहुँचायी गयी थी। यहां यह भी सोच लेना चाहिये, कि यदि इस प्रकार की दो एक घटनायें ही हुई होतीं, तो बादशाह तक उनकी शिकायत न पहुँच सकी होती। वहाँ तक इस प्रकार की शिकायतों के पहुँच जाने का मतलब ही यह होता है कि इस प्रकार के अपवाद चारों ओर फैल चुके होंगे। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि जब साम्राज्य में अत्यधिक कृषि योग्य भूमि बिना जोती पड़ी थी तो किसी भी कर्मचारी या जागीरदारों को किसी किसान की भूमि जबर्दस्ती लेने की आवश्यकता ही क्यों पड़ती होगी? इस प्रकार की आवश्यकता दो कारणों से ही पड़ सकती है; या तो खेत अत्यधिक उपजाऊ हों या उस खेत की स्थिति अधिक सुविधापूर्ण हो। जहाँगीर के चरित्र के विषय में जो कुछ जाना सुना गया है, उससे यही मालूम होता है कि उसने इस प्रकार के कामों को कभी नहीं पसन्द किया होगा, यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि उसके आदेशों का पालन वैसा हुआ होगा, जैसा उसे वांछित था। बादशाह अच्छे फलों का भी प्रेमी था। इन्हीं संस्मरणों में एक ऐसे आदेश * का वर्णन है जिसके अनुसार यदि खेती की जमीन में भी बाग लगा दिये जाँय तो उस जमीन की लगान मुआफ कर दी जाती थी। स्मरण रहे कि अकबर के समय में भी बाग पर लगान नहीं ली जाती थी, परन्तु जोती जाने वाली जमीन में बाग लगाने पर उस भूमि की लगान खत्म कर दी जाती थी या नहीं, उसका ठीक पता नहीं चलता। इतिहासकारों के वर्णन से यह पता लगता है कि यद्यपि जहाँगीर ने एकाधिक बार इस प्रकार की जमीन को लगान-मुक्त करने

---

* तुजक २५२ फलदार पेड़ों पर लगाने वाली लगान को सरदरख्ती कहते थे। अकबर ने इसे मुआफ कर दिया था।

११

का आदेश दिया, परन्तु पूर्णरूप से लगान-मुक्ति किसानों को कभी भी नहीं मिल सकी।

तुजक में जहाँगीर ने एक नवीन व्यवस्था का जिक्र किया गया है, जिसे हम तमगा व्यवस्था कह सकते हैं। जहाँगीर ने इसे अलतमगा * कहा है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत दी गयी भूमि पर पाने का जिस प्रकार का स्वामित्व माना जाता था, वह आजकल की स्वामित्व-भावना के समीप तक पहुँचता था तथा यह व्यवस्था मुगलकाल की अपने किस्म की प्रथम व्यवस्था थी। इस प्रकर की आवश्यकता उन्हीं मामलों में पड़ती थी जहाँ कोई प्रमुख या अधिकारी कर्मचारी जागीर रूप में उसी स्थान की भूमि के लिये प्रार्थना करता था, जिस गाँव या परगने में उसका जन्म-स्थान होता था। इस किस्म की स्वीकृतियाँ एक खास किस्म की मुहर लगाकर दी जाती थीं। ऐसी जागीरें न तो वापस ली जाती थीं और न ही उनके स्वामी का स्थानान्तरण होता था। उस समय में जितने भी प्रकार के स्वामित्व का प्रचलन था, उनमें अलतमगा का स्वामित्व सर्वाधिक स्थायी होता था यद्यपि निरंकुश बादशाह सभी मामलों में मनमानी कर सकता था और निस्सदेह वह यदाकदा ऐसा करता भी था। इस प्रकार की व्यवस्था भारतीय व्यवस्था नहीं थीं, वरन् यह मध्य एशिया के भूभागों से ली गयी थी। इन बातों की कोई सूचना नहीं मिलती कि इस प्रकार की स्वीकृतियाँ सत्रहवीं शताब्दी में कितनी दी गयी थीं, परन्तु अनुमान किया जाता है कि इनकी संख्या अवश्य ही बहुत कम रही होगी। बादशाहनामा में जिन बीस वर्षों का वर्णन किया गया है, उस अवधि में इस प्रकार की केवल एक स्वीकृति का पता चलता है जिसके द्वारा एक सफल डाक्टर को एक अन्य प्रकार के पुरस्कारों के साथ एक गाँव अलतमगा में दिया गया था। आगे के इतिहास में इस बात का कतई पता नहीं चलता कि कालान्तर में इस व्यवस्था को कितना महत्व व कितनी मान्यता मिली।

---

* तुजक १०; बादशाहनामा, २, ४०६, बृटिशकाल में भी 'अलतमगा' के दावेदारों की कमी नहीं थी। हाँ १८वीं शताब्दी की व्यवस्थाहीन दशा में इस शब्द का दुरुपयोग होने लगा था। ईस्ट इंडिया कम्पनी को दी गई बंगाल की दीवानी भी अलतमगा थी। ऐचिसन की Treaties (१८९२) भाग १, ५६; परन्तु जहाँगीर कालीन अर्थ कुछ और ही था, और उतना अधिकार बाद वाले **अलतमगा** में नहीं था।

मुस्लिम कालीन भारतीय ग्रामीण-व्यवस्था से सम्बन्धित जहाँगीर कालीन में इस एक ही नवीनता का पता चलता है। कुछ अन्य साधनों से इस विषय की जानकारी सम्भव है। हम जानते * हैं कि कुछ मामलों में प्रान्तीय सूबेदारों की नियुक्ति सीरदारी की शर्त पर की जाती थी, परन्तु इस बात का कोई पता नहीं चलता कि इस प्रकार के सीरदारों को रक्षित प्रदेश की मालगुजारी का भी कुछ अंश पाने का अधिकार था या नहीं। इस नवीन सीरदारी की व्यवस्था को तेरहवीं चौदहवीं शताब्दी की सीरदारी व्यवस्था से अलग करके देखना चाहिये। उस समय में सीरदारी प्राप्त सूबेदार अपने क्षेत्र की सारी ही लगान का उपयोग करते थे, जिसका सारा प्रबन्ध उन्हीं के जिम्मे रहता था। जहाँगीर के समय में लगान का प्रबन्ध करने के लिये एक अलग महकमा ही था, अतः सीरदार सूबेदारों को अवश्य उतना ही मिल पाता रहा होगा, जितना वे अपनी सीर से प्राप्त कर लेते थे। इसकी सम्भावना है कि दीवान लोग सुरक्षित प्रदेश की अच्छी भूमि को स्वयम् ही जोतवा लेते हों और उसका भी लाभांश वह स्वयम् ही ले लेते रहे हों, परन्तु इस सम्भावना को प्रामाणिक बताने वाली सामग्री का पूर्ण अभाव है। इसमें सन्देह नहीं है कि ये दीवान † लोग अवश्य ही कुछ अतिरिक्त आय कर लेते होंगे। उपरोक्त अनुच्छेद के परिणाम स्वरूप हम यह मानने की स्थिति में हैं कि इस काल के खेतिहर सीरदारी की प्रथा से भी परिचित थे।

---

* रो, २१०: बिहार के सूबेदार के बयान के अनुसार वह अपनी नियुक्ति के लिये ग्यारह लाख सालाना अदा करता था। इसमें से तीन लाख साठ हजार उसे इनाम या पेंशन के रूप में मिल जाते थे। बाकी रकम का हिसाब उसे अपने मन्सब (सूबे की आय) से देना पड़ता था। इसका परिणाम यह होता था कि उसकी सारी आमदनी उन विभिन्न करों से आती थी, जो वह अपने सूबे के लोगों से बसूल किया करता था। इस प्रकार उसकी असल आय सल्तनत द्वारा निर्धारित आय से अवश्य ही अधिक होती होगी। इन आंकड़ों में गलतियाँ भी हो सकती हैं, अतः इनको आधार मान कर नहीं चला जा सकता।

* पेलसर्ट (पृष्ठ ५४) कहता है कि एक व्यक्ति बादशाह की खिदमत में रहता था, अतः उसे जागीर मिली हुई थी। उसे बादशाह की खिदमत से छुट्टी नहीं मिल पाती थी, अतः वह अपनी जागीर के प्रबन्ध के लिये कुछ नौकरों से काम चलाता था या वहाँ के मुहस्सिल को ही अपनी जागीर सीरदारी प्रथा के अन्तर्गत दे देता था।

सन् १६३० के कुछ पहले लिखे गए एक लेख * के आधार पर हम गुजरात की कृषि व्यवस्था तथा खेतिहरों के विषय में कुछ अधिक ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। इसके अनुसार 'किसी जमीन को इस्तेमाल में लाने का इच्छुक व्यक्ति गाँव के मुकद्दम के पास जाकर अपनी आवश्यकता तथा सहूलियत के लिहाज से जमीन की माँग करता है। यह माँग प्रायः स्वीकार कर ली जाती है क्योंकि यहाँ की कुल जमीन का दसवाँ भाग भी नहीं जोता जाता; और इसीलिए कोई भी व्यक्ति स्वेच्छा से चुनी हुई तथा इच्छित स्थिति की जमीन पा सकता है और अपनी सामर्थ्य के अनुसार जोत बो सकता है, बशर्ते कि वह जागीरदार को मालगुजारी देता रहे।' यह लेख उस काल तथा आधुनिक काल के बुनियादी फर्क को पूरे तौर पर स्पष्ट करता है। आज सम्पूर्ण कृषि योग्य जमीन इस्तेमाल में है, भूमि पर स्वामित्व साधारणतया स्थायी है, और एक मेहनती किसान अपनी जोत का दायरा बढ़ाने में कठिनाई महसूस करता है। जब जमीन जरूरत से ज्यादा थी तो किसानों को जमीन का चुनाव करने की पूरी आजादी थी। यह मान लेना तर्कसंगत है कि साधारण हैसियत के व्यक्ति भी कुछ निश्चित जमीन पर स्थायी अधिकार रखते थे; और ऐसी दशा में अपने साधनों तथा अन्य सहूलियतों के अनुसार अपनी जोत का दायरा घटाना या बढ़ाना उनके लिए मुमकिन था। इसके अलावा इस प्रथा में ऐसे प्रशासकीय कानूनों के लिये भी स्थान था जैसे कि अकबर ने अपने मुहस्सिलों के लिए बेकार जमीन को खेती के इस्तेमाल में लाने तथा जोती हुई जमीन को परती पड़ने से रोकने के सिलसिले में बनाए थे। यह लेख उन कानूनों से भी सहमति प्रकट करता है जो मुकद्दम को अपने गाँव की तरक्की के सिलसिले में किए गए प्रयत्नों पर पुरस्कृत करने के विषय में थे।

इस लेख के अनुसार गुजरात में जागीरदार अक्सर किसानों से कुल उपज का तीन चौथाई भाग वसूल करते थे। इस प्रकार गरीबी सामान्य थी और कुछ ही किसान कुछ हद तक खुशहाल थे। यह आँकड़ा शायद अतिशयोक्तिपूर्ण है—क्योंकि इसके कुछ ही समय बाद के एक लेखक ने, जिसने अवश्य ही इस रिपोर्ट को देखा होगा, लिखा है कि उपज का आधा भाग या कभी कभी तीन चौथाई हिस्सा जागीरदार

---

* गुजरात रिपोर्ट फाइल २१ 'दसवाँ भाग भी नहीं जोता जाता' वाक्यांश का मतलब शुद्ध गणीतात्मक अर्थ में नहीं लगाना चाहिए। रिपोर्ट के लेखक ने प्रायः अस्पष्ट आँकड़ों का इस्तेमाल किया है; मेरे विचार से उसका मतलब केवल यह है कि उस समय जमीन जरूरत से अधिक थी। वह जागीरदार के लिए कई स्थानों पर (Lord) का प्रयोग करता है।

को दिया जाता था। यह मानते हुए कि इसमें मालगुजारी तथा अन्य महसूल भी शामिल हैं, यह बयान उपज की आधी के दर पर मालगुजारी निर्धारित करने की प्रथा की ओर भी इशारा करता है जिसे कि हम औरंगजेब के शासनकाल में पूर्णतः स्थापित नहीं पाते हैं।

कृषि व्यवस्था की अस्थिरता * आखिरी और महत्वपूर्ण तथ्य है जिसका जिक्र करना बाकी है। ऐसा प्रायः जागीरदारों की नियुक्ति में परिवर्तन होते रहने के कारण होता था। विलियम हाकिन्स जो कि जहाँगीर से तिजारती सम्बन्ध कायम करने वाला प्रथम अँग्रेज था—प्रचलित अनुशासनहीनता का दोष जागीरदारों द्वारा किसानों पर किए जाने वाले अत्याचारों को देता है। जागीरदारों द्वारा खेतिहरों पर किया गया जुल्म ही अनुशासनहीनता को जन्म देता था। उसने इस बुराई के लिए शासन व्यवस्था को दोषी ठहराते हुए लिखा है कि—

'एक व्यक्ति ६ महीने भी एक खेत को नहीं जोत सकता; यह खेत उससे लेकर दूसरे को दे दिया जाता है और यदि जमीन अच्छी और उपजाऊ हुई तो खुद बादशाह ही इसे अपने इस्तेमाल के लिए ले लेता है और बदले में कोई खराब और अनुपजाऊ जमीन दे देता है, या जो भी सलाह उसे वजीर से मिले उसके अनुसार रद्दोबदल करता है। इस प्रकार अधिक से अधिक फायदा पाने के लिए वह किसानों को सताता है, जो हमेशा अपनी जमीन के बदल जाने के डर से ही परेशान रहते हैं। लेकिन बहुत ऐसे लोग भी हैं जो एक ही जमीन पर अधिक समय तक बने रहते हैं, और वे यदि ६ साल भी रह पाए तो बहुत धन इकट्ठा कर लेते हैं।'

हाकिन्स ने केवल एक पर्यटक की हैसियत से ही नहीं लिखा है। जहाँगीर ने उसके निर्वाह के लिए एक छोटी सी जागीर उसे दिया था, और उसे इस जागीर की स्थिति के सिलसिले में महकमा लगान से काफी दिनों तक व्यवहार रखना पड़ा था। वह लिखता है कि उस समय कुछ सामन्तों की शिकायत पर—जिन्हें कि अच्छी जागीरों के स्थान पर बंजर और बलवाइयों से भरी हुई जागीरें मिली थीं, जब कि अच्छी जागीरों का फायदा वजीर स्वयं उठाता था—सम्बन्धित वजीर बरखास्त कर दिया गया था, परन्तु इस व्यवस्था में किसी रद्दोबदल का कोई निशान नहीं मिलता। हाकिन्स के स्थानान्तरण सम्बन्धी बयान को हम अतिशयोक्तिपूर्ण मान सकते हैं,

---

* Hawkins के लिए देखिए Early Travels ८३, ९१, ९२, ११४, Terry के लिये idem ३२६, गुजरात रिपोर्ट में उद्धृत अंश भड़ौच का वर्णन करने वाले अध्याय के ६ में है।

पर ऐसा अक्सर होता था, यह कुछ अन्य सबूतों द्वारा भी स्पष्ट हो जाता है। हाकिन्स के कुछ वर्ष बाद टेरी ने लिखा कि ऊँचे हाकिमों की प्रायः सालाना बदली हुआ करती थी, इस प्रकार उनकी जागीरें भी बदल जाया करती थीं। गुजरात पर रिपोर्ट लिखने वाले डच (हालैण्डवासी) लेखक ने जिसका कुछ अंश ऊपर उद्धृत किया गया है, लिखता है कि जागीरदार 'हर साल, या आधा साल अथवा हर दो तीन साल बाद स्थानान्तरित कर दिए जाते थे', फलस्वरूप उनमें से कोई कोई भी 'अपनी जागीर में हुई तरक्की का कोई निश्चित अन्दाज नहीं लगा पाता, क्योंकि आज वे एक जागीर के स्वामी हैं और कल बदल दिए जाते हैं।' आगरा में पेल्सर्ट ने भी सन् १६२६ में लिखते हुए साम्राज्य के प्रभावशाली सामन्तों की अस्थिर स्थिति कर बयान किया। जब हम जहाँगीर के संस्मरणों के साथ-साथ इन पर्यवेक्षकों के वर्णनों को पढ़ते हैं तो इसी निश्कर्ष पर पहुचते हैं कि उस विस्तृत साम्राज्य में कृषि की तरक्की से ताल्लुक रखने वाली किसी दूरदर्शी नीति का निर्धारण करना अवश्य ही नामुमकिन रहा होगा क्योंकि कोई भी जागीरदार अपनी कोशिशों और मेहनत का फायदा उठाने के लिए अधिक समय तक उसी जागीर में नहीं रह पाता था। इसके अलावा हमें यह भी याद रखना चाहिए कि यह निरन्तर बढ़ती हुई ऐय्याशी और फजूलखर्ची का काल था, जागीरदारों की जरूरतें बढ़ती ही जाती थीं और उन्हें पूरा करने का जिम्मा गरीब किसानों के सर पर था। उस काल के ये सभी हालात देश के संसाधनों का विकास करने की अपेक्षा देश को कंगाल बना देने की ही अधिक सम्भावना प्रगट करते हैं।

उस समय के ऐतिहासित वृत्तान्त शाहजहाँ के कार्यों के विषय में जहाँगीर के सम्बन्ध की सूचनाओं से भी कम सूचना देते हैं। कुछ समय बाद के एक लेखक * ने जरूर उसके द्वारा किसानों के कल्याण और खुशहाली के लिए निकाले गए कुछ आदेशों, मालगुजारी सम्बन्धी प्रशासन पर उसके सतत् ध्यान तथा अपने चकले (सर्किल) की तरक्की पर चकलेदारों (टैक्स कलेक्टर) को पुरस्कृत करने के विषय में कुछ लिखा है, लेकिन मुझे इन आदेशों का कोई विवरण नहीं प्राप्त हो सका है। यह तथ्य, कि मेहनती

---

* देखिए इलियट, ७, १०१ 'कलेक्टर' शब्द 'चकलादार' के लिए प्रयोग किया गया है। मैंने इस शब्द का प्रयोग इसके पहले नहीं पाया, लेकिन इस शताब्द के मध्य तक चकला एक मुहस्सिल के क्षेत्र के लिए इस्तेमाल किया जाने लगा था। (देखिए I १, ४०६); और इस आधार पर कलेक्टर के लिए 'चकलादार' शब्द का प्रयोग किया जा सकता है।

और जिम्मेदारी निभाने वाले चकलेदारों को पुरस्कृत किया जाता था—'बादशाहनामा'* से स्पष्ट हो जाता है। उसके शासन काल में लगान में वृद्धि सम्बन्धी बयान से, जो कि पहले ही उद्धृत किया जा चुका है, बादशाह की अर्थव्यवस्था के प्रति जागरूकता स्पष्ट हो जाती है, अब यह नहीं मालूम कि उसने क्या आम कानून जारी किये थे, या किए भी थे अथवा नहीं।

इस शासन काल की एक और विशेषता है—सिंचाई के लिए नहरों का निर्माण। लेकिन तत्कालीन ऐतिहासिक ग्रन्थ इस प्रश्न पर चुप हैं कि इन खर्चीले निर्माण कार्यों का मालगुजारी पर क्या असर पड़ा, यह अनुमान किया जा सकता है कि इन नहरों से सिंचाई के लिए अतिरिक्त महसूल लगता था या नहीं, सम्भवतः मालगुजारी की बढ़ी हुई दर इस खर्च को पूरा करने के लिए पर्याप्त समझी जाती थी, साथ ही सालाना या मौसमी लगान वसूली के साथ ही यह रकम भी तुरन्त वसूल हो जाती थी। मुझे किन्हीं अन्य परिवर्तनों का कोई विवरण नहीं मिला है, और जहाँ तक तत्कालीक ग्रन्थ सूचना प्रदान करते हैं, हम इस काल को कृषि व्यवस्था के स्थायित्व का काल कह सकते हैं। हमें बर्नियर के अनुभवों की उपेक्षा भी नहीं करनी चाहिए, जो उसने औरंगजेब के शासन के प्रारम्भिक वर्षों में प्राप्त किये थे, उसके अनुसार उस समय तक किसानों पर अत्यधिक भार हो गयाथा, खेती के काम में उनकी रुचि कम होती जा रही थी और खेत परती पड़ते जा रहे थे। इन तथ्यों का महत्व औरंगजेब द्वारा निकाले गए फरमानों से उत्पन्न परिस्थितियों के अध्ययन के पश्चात् स्पष्ट हो जायगा।

औरंगजेब के फरमान (१६६५-१६६९)

औरंगजेब के शासन-काल के प्रारंभिक वर्षों में कृषि सम्बन्धी कुछ निश्चित ज्ञान उन दो फरमानों से मिल सकता है जो बादशाह के अधिकार के अन्तर्गत मुहकमा लगान द्वारा जारी किए गए थे। † इनमें से पहला फरमान जो शासन के आठवें

---

* देखिए "बादशाहनामा" II, २४७, ४१६।

† इन फरमानों का अनुवाद सहित मूल रूप प्रोफेसर जदुनाथ सरकार द्वारा जर्नल आफ ऐशियाटिक सोसायइटी बंगाल जून १९०६ में प्रकाशित किया गया था (पृष्ठ २२३)। इसी लेखक की पुस्तक "स्टडीज इन मुगल इन्डिया" के पृष्ठ १६८ में भी में इन अनुवादों का समावेश हैं जहाँ कि ज्ञात पाण्डुलिपियों की गणना भी की गई हैं। आगे इस प्रसंग में रसिकदास के नाम वाले फरमान के लिए (र) तथा

वर्ष अर्थात् १६६५-६६ में लागू हुआ, 'कृषि के विस्तार तथा किसानों के कल्याण' को सुरक्षित रखने की दृष्टि से निर्देशित हुआ था। यह फरमान उस समय सुरक्षित क्षेत्रों में प्रचलित लगान वसूल करने के तरीकों का बयान करता है, तथा उनमें कुछ दोषों की ओर भी इशारा करता है; इसके पश्चात् भविष्य में अपनाए जाने वाले तरीके का एक निर्देश है; और तत्पश्चात् कर्मचारियों को किसानों के साथ व्यवहार करने के तरीकों का बयान करती हुईं १५ धाराएँ (Clauses) हैं जो कि सूबे के दीवानों एवं उनके सहायकों से खास ताल्लुक रखती थीं, लेकिन उन्हें जागीरदारों द्वारा नियुक्त कर्मचारियों का पथ-प्रदर्शन करने की दृष्टि से भी बनाया गया था। दूसरा फरमान सन् १६६८-६९ में एक खास मकसद से जारी किया गया था कि सारे साम्राज्य में लगान की दर तथा वसूली इस्लाम के कानूनों के अनुसार तय की जाय; यह फरमान खास तौर पर यह निर्देश करता है कि अलग अलग किसानों के प्रति कैसी कार्रवाई की जाय तथा उनके लिए कैसा रवैया अख्तियार किया जाय, इस प्रकार यह फरमान ब्रिटिश काल के लगान और कृषि अधिनियम का प्रारंभिक रूप माना जा सकता है।

इन दोनों फरमानों की नकलें विभिन्न व्यक्तियों * के नाम लिखी गई हैं लेकिन आम तौर पर सर्वत्र लागू होने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। और हम तर्क

मुहम्मद हाशिम के फरमान के लिए (ह) लिखूँगा। इन कागजातों के बारे में जर्नल आफ रायल एशियाटिक सोसाइटी में अपने विचार प्रगट किए थे लेकिन तब मुझे दूसरे फरमान तथा फतवा-ए 'आलमगीरी' के बीच सम्बन्ध का पता नहीं लगा था।

* पहला फरमान रसिक दास करोड़ी के नाम हैं लेकिन इसके लिखने का ढङ्ग बताता है कि यह सूबे के दीवान के लिए था क्योंकि यह दीवान को बताता है कि किस तरह अपने अधीन कर्मचारियों जैसे अमीन, अमील या करोड़ी और खजान्ची पर नियन्त्रण रखना चाहिए। इसलिए करोड़ी से किसी पद नहीं बल्कि कर्तव्य विभाजन का अर्थ लगाना चाहिए। ऐसे कर्तव्य विभाजन प्राय; एक ही नाम के दो या अधिक अधिकारी होने पर प्रयोग किए जाते थे, और सम्भवतः रसिकदास दीवानी पाने के पहले क्रोरी रह चुका था। मैंने तत्कालीन ग्रन्थों में उसके सम्बन्ध में खोज नहीं की है। वे कभी भी इस काल में सूबे के दीवानों की सूची की तरह कोई विवरण नहीं रखते थे। दूसरे फरमान पाने वाला व्यक्ति मुहम्मद हाशिम, प्रोफेसर सरकार के अनुसार गुजरात के सूबे का दीवान था।

संगत ढंग से यह निश्कर्ष निकाल सकते हैं कि इनकी एक एक नकल सूबे के दीवानों के नाम से भेजी गई थी। पहला फरमान साम्राज्य के सुरक्षित क्षेत्रों तथा जागीरों में की गई जाँच पर आधारित है जब कि दूसरा फरमान खास तौर पर 'हिन्दुस्तान साम्राज्य के एक छोर से दूसरे छोर तक' लगान से सम्बन्धित सभी कर्मचारियों पर लागू होता है।

इन दोनों फरमानों की शब्दावली में स्पष्टतः बहुत फर्क दिखाई पड़ता है। पहले फरमान में अकबर के समय की सरकारी ज़ुबान का इस्तेमाल किया गया है और इसकी व्याख्या करने में कोई गम्भीर कठिनाई सामने नहीं आती यद्यपि कुछ वाक्यांश बहुत क्लिष्ट हैं। दूसरी तरफ दूसरा फरमान इस्लामी कानून की शब्दावली में लिखा गया है। स्पष्टतः उन प्रचलित फतवों के संग्रह * पर आधारित हैं जो कि बादशाह द्वारा प्रसंग उपस्थित करने पर काजियों (धार्मिक न्यायाधीशों) द्वारा बनाए गए थे। यह फरमान इन फतवों पर, या इसके पूर्व इसी आशय के फसलों पर आधारित है; इसको मजहबी कानूनों के अनुसार शासन चलाने के सम्बन्धित औरंगजेब के जोश का एक अंश ही समझना चाहिए जिसका वह बहुत कट्टर अनुयायी था।

पहले फरमान की विशेषता यह है कि यह उचित और तर्कसंगत से व्यवस्थित हैं; अकबर द्वारा चकलेदारों (टैक्स कलेक्टर्स) के लिए बनाए गए नियमों की तरह ही है; और यह व्यावहारिक ढंग उस दोहरे शासन प्रबन्ध का लागू होना प्रगट करता है जिसका संकेत पिछले उपसर्ग में ही मिल चुका है। सुरक्षित क्षेत्रों की आमदनी किसी शाही प्रतिनिधि द्वारा नहीं बल्कि स्वयं बादशाह द्वारा खर्च की जाती थीं और लगान का निर्धारण तथा वसूली दीवानों के जरिए मुहकमा लगान करता था। साथ ही वाइसराय या गवर्नर जैसे किसी शाही प्रतिनिधि का जिक्र भी नहीं मिलता; हर जगह दीवान और उसके सहायक कर्मचारियों का ही बयान जिसमें तीन वर्ग सम्मिलित थे—अमीन, जिनका मुख्य काम लगान निश्चित करना था, करोड़ी जो वसूली से ताल्लुक रखते थे, और खजान्ची जो कि वसूल किए हुए धन का हिसाब रखते थे। ये सहायक कर्मचारी चकलों (सर्किल्स) के लिये नियुक्त किए जाते थे; ये चकले अकबर के समय के जिलों की तरह नहीं थे, बल्कि सम्भवतः कार्यभार की मात्रा के अनुसार व्यवस्थित किए गए थे।

---

* "फतवाए-आलमगीरी"; इस किताब की ज़ुबान अरबी है। मुझे इसके किसी भी प्रकाशित अनुवाद की कोई खबर नहीं है। जिस अनुवाद का मैंने प्रयोग किया है वह मेरे अनुरोध पर मेरे लिए श्री U. M. Daudpota द्वारा किया गया है।

पहले फरमान का खास मकसद इन स्थानीय कर्मचारियों के समूह पर अधिक नियंत्रण रखता है; केन्द्रीय अधिकारियों की यह खास शिकायत थी कि कृषि-सम्बन्धी हालात की जानकारी उन्हें नहीं मिल पाती और वे प्राप्त विवरणों की सही जाँच भी नहीं कर पाते। इस फरमान की भूमिका हमें वास्तविकताओं से परिचित कराती है, और बताती है कि लगान वसूली का पूरा सिलसिला किस तरह था। साल के प्रारम्भ में एक बहुत ही आशापूर्ण लगान की दर निश्चित की जाती थी जब कि वसूली का नतीजा बहुत निराशा-जनक होता और कागज पर इस कम वसूली का कारण तरह तरह की आपत्तियों में की गई रियायत को बताया जाता और इन बयानों को झूठ तथा बेइमानी से भरे होने का शक किया जाता। प्रशासन को अधिक मजबूत तथा ठोस स्थिति में रखने के लिये प्रत्येक गाँव की सालाना आमदनी का और अधिक विस्तृत विवरण देने के हुक्म निकाले गए; इसी मौके पर इस महकमे के कार्यों को नियमबद्ध करने की कोशिश भी की गई, और इस फरमान का केवल यही हिस्सा इसे ऐतिहासिक महत्व प्रदान करता है।

इसमें व्यवस्थित विषय वस्तु के सिलशिले का अनुसरण करते हुए हम महकमे की विकास नीति से प्रारम्भ कर सकते हैं। यह तकरीबन पूरे तौर पर उसी ढंग का है जिसकी जानकारी हम हासिल कर चुके हैं। सबसे पहले कृषि के विस्तार का बयान सामने आता है; फिर ऊँचे दर्जे के फसलों के क्षेत्रफल में वृद्धि और उसके बाद सिंचाई के लिये कुओं के निर्माण तथा मरम्मत कराने का बयान है। जो किसान इस नीति के अनुसार कार्य करने में सक्रिय सहयोग देते उनके संग उदार व्यवहार किए जाने तथा उचित सहायता के लिए उनकी प्रार्थना पर विचार किए जाने की बात भी आती है, परन्तु अब भी यह विचार बहुत शक्तिशाली था कि खेतिहरों का साम्राज्य के प्रति बहुत बड़ा कर्तव्य है—इस कर्तव्य की उपेक्षा करने वालों के लिए कोड़ों से पीटने की खास सजा निर्धारित थी (र. २, ह. १-३)। इन नियमों का क्रियान्वित होना काफी हद तक इन स्थानीय कर्मचारियों के व्यक्तित्व पर निर्भर रहता था, चूँकि कृषि का विस्तार और लगान द्वारा आमदनी में वृद्धि ही इस महकमे के घोषित उद्देश्य थे, इसलिए इन कर्मचारियों की काबिलियत का फैसला उनके द्वारा इन मकसदों के पूरा करने के नतीजे पर ही खास तौर पर आधारित रहता होगा। इस प्रकार किसानों के प्रति कड़ा बर्ताव करने के लिए काफी प्रलोभन मौजूद थे, यह सख्ती और बेरहमी उस समय के शासन की खास विशेषता थी। जरूरत से अधिक सख्ती करने पर नुकसान होने की ही सम्भावना थी क्योंकि इससे किसान—जैसा कि हम आगे

देखेंगे—खेती ही छोड़कर बैठ जाते, फिर भी हम यह तर्कसंगत निश्कर्ष निकाल सकते हैं कि इलाकों में किसानों को सख्त अनुशासन में रहना पड़ता था।

अकबर के काल की अपेक्षा इस काल में मालगुजारी की दर ऊँची हो गई थी, अकबर का कुल उपज का एक तिहाई भाग अब न्यूनतम सीमा बन गई थी, इससे अधिक भी माँगा जा सकता था। उपज का आधा भाग लेना लगान की अधिकतम सीमा थी (ह. ६-१७)। इन्हीं दो हदों के भीतर स्थानीय कर्मचारियों को स्पष्टतः अपने विवेक से लगान की दर निश्चित करने की अनुमति प्राप्त थी, परन्तु यह देखते हुए कि उनका खास फर्ज आमदनी बढ़ाना था, हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि वास्तविक लगान की दर न्यूनतम सीमा की अपेक्षा अधिकतम सीमा के ही अधिक निकट थी। व्यवहार में इस लगान निर्धारण का गणनात्मक अंग अकबर के काल की अपेक्षा कम महत्व रखता था, क्योंकि तरीके बदल गए थे।

प्रचलित तरीकों का बयान पहले फरमान की भूमिका में किया गया है। कुछ गाँवों में, जहाँ किसान गरीब थे, वहाँ स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार निर्धारित दरों पर उपज में हिस्सा लेने का ढंग (बँटाई) प्रचलित था—जैसे उपज का 'आधा या एक तिहाई, या $\frac{2}{5}$ या इसके कम या अधिक', पर सामूहिक लगान निर्धारण का तरीका ही विधिसंगत था। साल के प्रारम्भ में अमीन एक गाँव, या कभी-कभी पूरे परगने द्वारा अदा की जाने वाली लगान की रकम निश्चित कर देता था। प्राप्त आंकड़े, पिछले वर्षों की निर्धारित लगान की रकम और उस साल जोती बोई जाने वाली भूमि के क्षेत्रफल के अनुसार यह निर्धारण किया जाता था। कोई गाँव अमीन द्वारा निर्धारित की हुई रकम अदा करने से इन्कार भी कर सकता था, और ऐसी अवस्था में हाकिमों के फैसले के अनुसार उपज के हिस्से के ढंग से या नाप प्रणाली द्वारा मालगुजारी ले ली जाती थी। फिर भी, यह निश्कर्ष निकालना असंगत नहीं होगा कि उस काल की परिस्थितियों में इन्कार कर जाना एक अपवाद ही रहा होगा।

इस प्रकार किसानों के लिए व्यक्तिगत स्तर पर लगान का निर्धारण करना मुकद्दम के हाथ में ही छोड़ दिया जाता था, और सदैव की तरह हम पाते हैं कि सरकारी तौर पर 'शक्तिशाली लोगों का भार' कमजोरों के सर पर ही पड़ने की अधिक प्रवृति रखता था। इसीलिए सूबे के दीवान को ताकीद की गई थी (र. ६) कि तफरीक (बँटवारे) की जाँच—जिस गाँव में भी उसे पहुँचने का अवसर

मिले करे, और मुकद्दम अथवा मुनीम (क्लर्क) किए हुए अनुचित बँटवारे को ठीक करे। ※

दीवान को यह भी आदेश था (र. ११ कि वे गाँव के मुनीम द्वारा रखी गयी रसीदों और भुगतानों के विवरण का निरीक्षण करे और सरकारी हिसाब से मिलान करके, किसी हाकिम, मुकद्दम अथवा मुनीम द्वारा अनुचित ढंग से व्यय किए हुए धन की राशि को निश्चित करे; मुकद्दम और मुनीम को परम्परागत खर्च लेने की ही अनुमति प्राप्त थी, यदि वे इससे अधिक कुछ भी लेते थे तो उनसे वह ले लिया जाता था।

यहाँ, संयोग से ही, सरकारी कागजों से एक गाँव के आन्तरिक जीवन की कुछ झलक मिल जाती है, और यह ब्रिटिश काल के प्रारम्भिक वर्षों के वर्णनों से प्राप्त ज्ञान से पूर्ण रूपेण मिलती-जुलती है। जहाँ कहीं भी सामूहिक लगान निर्धारण की प्रथा प्रचलित थी वहाँ मुकद्दम और मुनीम या सम्बन्धित अधिकारी † दोहरी शक्ति

※ इस धारा के दूसरे उपविभाग में (र० ६) में "गुञ्जाइश" का एक अस्पष्ट सा प्रसंग आता है। प्रोफेसर सरकार ने इसका अनुवाद "गैरकानूनी ढङ्ग से प्राप्त जमीन" किया है। मैंने इस शब्द का इस अर्थ में प्रयोग का प्रचलन नहीं पाया है, और न तो फरमान में इसका समानार्थी कोई दूसरा शब्द ही हैं, परन्तु शब्द की व्युत्पत्ति तथा प्रसंग के आधार पर मेरी समझ में इसका अर्थ आधिक्य हैं जो कि मुकद्दम अपने को हानि से बचाने के लिए वसूल करते थे। उन्हें एक निश्चित रकम जमा करना पड़ता था; यदि वे किसानों से उसी हिसाब से माँगते, और कुछ लोग न दे पाते तो मुकद्दम को ही नुकसान उठाना पड़ता। इसलिए किसानों से उचित लगान से अधिक लेना स्वाभाविक ही था जिससे कि अदा करने वाले, न अदा करने वालों का हिस्सा भी पूरा कर दें, और यह तरीका, एक बार प्रचलित होने पर, एक बुरी रीति के रूप में विकसित होने की सम्भावना रखता था। मैं इस उपविभाग का अर्थ यह समझता हूँ कि दीवान को जाँच करके यह निश्चित कर लेना चाहिये कि मुकद्दम द्वारा जरूरत से अधिक लगान वसूल कर स्वयं के लिए रख लेने की गुञ्जाइश तो नहीं है। अध्याय ६ में दिया हुआ एक उद्धरण प्रगट करता है कि दिल्ली के पास के गांवों में मुकद्दम प्रायः उचित रकम से अधिक वसूल करके स्वयं रख लेते थे।

† मैंने "सम्बधित अधिकारी" (डामिनेन्ट क्लर्क) को र ६६ में लिखे 'मुतागालिबन' के अर्थ में प्रयोग किया है। ऐसे अधिकारियों का अस्तित्व प्रारम्भिक ब्रिटिश काल में भी विशेष महत्व रखता था, १८ वीं शताब्दी तक वे निश्चय ही ये बहुत पुराने हो चुके थे।

रखते थे। एक तरफ तो वे सरकारी हाकिमों से लगान निर्धारण के सम्बन्ध में बातचीत करने या व्यवहार में लाई जाने वाली किसी सरकारी सख्ती को सहने में गाँव का प्रतिनिधित्व करते थे; दूसरी तरफ कमजोर और कम प्रभावशाली व्यक्तियों पर मालगुजारी का भार अधिक करके, और गाँव के खर्च के लिए अधिक कर संग्रह करके वे किसानों को—यदि वे चाहते तो—सताने की शक्ति भी रखते थे। गाँव के व्यय का मद सामान्यतः बहुत लोचदार समझा जाता था। सरकारी कागजात इस दूसरे भाग को ही अधिक महत्व देते हैं; अब यह पता लगाना असम्भव है कि वे दोनों में से किस शक्ति का अधिक प्रयोग करते थे। पर हम यह निश्चित रूप से कह सकते हैं कि विभिन्न गाँवों में स्वयं बहुत अन्तर था।

लगान निर्धारण से वसूली की तरफ ध्यान हटाने पर खजान्ची के लिए दिए हुए निर्देश (र ८) स्पष्ट कर देते हैं कि किसानों द्वारा प्रायः नकद भुगतान ही किए जाते थे, अन्न या किसी अन्य रूप से मालगुजारी के भुगतान के विषय में कोई निर्देश प्राप्त न होने के कारण यह स्पष्ट है कि यह पद्धति सामान्यतः प्रचलित नहीं थी, यद्यपि उन क्षेत्रों में जहाँ मुद्रा की साधारणतः कमी थी, * ऐसी प्रथा के अस्तित्व की सम्भावना की जा सकती है। भूमिका की शब्दावली भी नकद भुगतान की ओर ही संकेत करती है जिसके अनुसार गिरती हुई कीमतों को भी सूखे तथा पाले जैसे दैवी आपत्तियों की कोटि में ही रखने का निर्देश किया गया है। सामूहिक लगान निर्धारण की प्रथा में वर्ष भर के लिए लगान की माँग निश्चित कर दी जाती थी—अन्य तरीकों की तरह प्रत्येक मौसम के लिए नहीं। यह हर परगने की परिस्थितियों के लिहाज से निश्चित की हुई तीन किश्तों में (र ४) वसूल किया जाता था।

सामान्य मौसमों में गाँव की स्थिति बिलकुल स्पष्ट थी। पूरी लगान की माँग वर्ष के प्रारम्भ में एक निश्चित रकम के रूप में निर्धारित कर दी जाती थी जो कि मुकद्दम द्वारा गाँव वालों में तफरीक कर दी जाती थी। फसलों के पकने पर किसान मुकद्दम के पास अपना-अपना लगान का हिस्सा जमा कर देते थे और मुकद्दम चकलेदार की माँग को पूरा करता था। यह व्यवस्था किसी आकास्मिक आपत्ति जैसे—

---

* प्रोफेसर सरकार ने 'स्टडीज इन मुगल इन्डिया' पृष्ठ २१६ में लिखा है कि उड़ीसा के कुछ भागों में अन्न या वस्तुओं के रूप में ही कर अदा किया जाता था (औरङ्गजेब के शासन काल में), लेकिन ये भाग उन क्षेत्रों में थे जहाँ कि मुद्रा का सामान्यतः अभाव था, इसलिये इस उदाहरण को हम पूरे उत्तरी भारत के लिए लागू नहीं कर सकते।

"सूखा, पाला, नीची कीमतें और अन्य" के फल स्वरूप गड़बड़ हो जाती थी। क्योंकि सामूहिक कर निर्धारण की प्रथा में भी जो कि उपज के लगभग आधे भाग की दर पर निर्धारित की जाती थी—नाप प्रणाली द्वारा वसूली की प्रथा का दोष विद्यमान था और वह यह था कि उपज में जरा सी हानि होने से ही निर्धारित कर का वसूल होना असम्भव हो सकता था। ऐसी परिस्थितियों में महकमा लगान के कर्मचारियों को आदेश दिया गया था कि वे सक्रिय तथा सावधान रहें और वास्तविक उपज के अनुसार फिर से लगान निर्धारित करें और इस पर विशेष ध्यान रखें कि कहीं किसानों पर तफरीक करने का कार्य मुकद्दम, मुनीम और सम्बन्धित अधिकारी * के जिम्मे न रह जाय। दूसरा फरमान इतना और जोड़ता है (ह.९७) कि वास्तविक उपज का आधा भाग किसानों के पास छोड़ दिया जाना चाहिए। साथ ही यह फसल के कटने के पहले तथा कटने के बाद में आने वाली आकस्मिक आपत्तियों में भी अन्तर (६०१०) पैदा करता है। फसल कटने के बाद वाली विपत्तियों के लिए नहीं, बल्कि कटने के पहले की ही आपत्तियों के लिए लगान में रियायत की जाती थी; यह नियम १९वीं शताब्दी की प्रशासकीय परम्परा में भी बना रहा।

प्रशासन का कार्य यह देखना था कि किसानों से कानूनी लगान की माँग के अनुसार ही लगान वसूल किया जाय, न वसूल किए जाने वाले, तीन तरह के निषिद्ध वर्गों का स्पष्टीकरण भी किया गया है (र.१०) पहले वर्ग में वे कर सम्मिलित है जिन्हें बादशाह ने माफ कर दिया था, जिसने इस मुआमले में फिरोज और अकबर का अनुसरण

---

* र. ६ में लिखे 'सरबस्ता' आपत्ति का अर्थ लगाने में कुछ दिक्कत है। सन्दर्भ से केवल यही प्रगट होता है कि यह एक आपत्ति से सम्बन्धित है जिसमें तफरीक करने का अधिकार मुकद्दम और मुनीम के हाथ में रहता है, और यह अधिकार उनके हाथ से ले लेना चाहिए। इस बात को स्पष्ट करने वाले केवल दो खण्ड मुझे मिले हैं, वे हैं 'बाँकी' भाग १ पृष्ट ७३२ और 'मआसिर-डलउमरा' भाग ३ पृष्ठ, ये दोनों ग्रंथ एक ही लेखक के हैं। उनमें 'तखशीश-ई-सरबस्ता' का प्रयोग प्रत्येक व्यक्ति के नाम अलग अलग लगान निश्चित करने के अर्थ में हुआ है। यहाँ इस शब्द का अर्थ स्पष्टतः प्रति व्यक्ति है, या व्युत्पत्ति से भी लगभग यही अर्थ निकलता है, और ऊपर से सम्बन्धित अंश के लिए यह अर्थ ठीक बैठता है। सरबस्ता आपत्ति ऐसी स्थिति है जिसमें गाँव के अधिकारी प्रत्येक किसान के अलग अलग नुकसान दिखाते हुये एक सूची भेज देते हैं। इस तरह के क्रम में बेइमानी और छल की सम्भावनाएँ ही इस प्रथा को बन्द करने के हुक्म का स्पष्टीकरण कर देती हैं।

किया था, दूसरे वर्ग में "मालगुजारी के अतिरिक्त वसूली" जो अनुमानतः हाकिमों द्वारा परम्परागत करों के रूप में लगा दिया जाता था, सम्मिलित है। तीसरे वर्ग को 'बलिया' शब्द से अभिव्यक्त किया गया है जिसका अर्थ सामान्य प्रयोग में 'दबाव' हो सकता है, यहाँ यह सम्भवतः किसी विशेष प्रकार के दबाव या अत्याचार की ओर इशारा करता है जो उस समय प्रचलित था, लेकिन मुझे कोई ऐसे वर्णन नहीं मिले हैं जो इस अर्थ की पुष्टि कर सकें। इतना स्पष्ट है कि लगान वसूली के विभिन्न तरीके प्रचलित थे और निश्चित रूप से उन पर रोक लगाई गई थी; अब यह कहना मुश्किल है कि यह नियंत्रण कितना कारगर हुआ।

ये फरमान जिनका सारांश ऊपर दिया गया है केवल सुरक्षित क्षेत्रों में ही लागू होते थे, जो कि पूरे साम्राज्य का बहुत छोटा सा भाग था—पर इनके नियम जागीरदारों द्वारा नियुक्त किए गए कर्मचारियों के लिए व्यवहार तथा कार्य करने के ढंग का एक स्तर स्थापित करने की दृष्टि से भी बनाए गए थे। जागीरदारियों के कर्मचारियों को उन्हीं नियमों के अनुसार कार्य करने .के लिए प्रेरित किया जा सकता था। यह बताना कठिन है कि इन फरमानों का असर कहाँ तक और कितना पड़ा। औरंगजेब का स्थानीय प्रशासन बहुत कुशल और सक्षम नहीं था फलस्वरूप इस काल के जागीरदार अकबर के समय की अपेक्षा अधिक आजादी का उपभोग करते थे, लेकिन एक नियम द्वारा यह संकेत भी मिलता है कि सूबे का दीवान वास्तव में जागीरदारों द्वारा नियुक्त कर्मचारियों पर भी नियंत्रण रख सकता था। उससे इन जागीरदारियों में नियुक्त कर्मचारियों की स्वामिभक्ति और कार्यकुशलता के विषय में विवरण देने की आशा की जाती थी, और उसके द्वारा प्रेषित विवरण के आधार पर दोषियों को दण्ड दिएजाने का वादा उसमें किया गया था। अब यह समझना आसान नहीं है कि किस तरह जागीरदारों द्वारा नियुक्त कर्मचारियों को महकमा लगान सजा देने का वादा कर सकता था लेकिन यह वचन दिया गया है, और हम यह निश्कर्ष निकाल सकते हैं कि किसी तरह वचन को निभाया जा सकता था।

इस्लाम के नियमों का उपयोग

पिछले उपसर्ग में, औरंगजेब के अधिकार के अन्तर्गत जारी किए गए दो फरमानों की सहायता से औरंगजेब के शासन के प्रारंभिक वर्षों की सामान्य दशा का वर्णन किया गया है। अभी दूसरे फरमान के उन नियमों का निरीक्षण करना बाकी है, जो इस्लामी कानून के आधार पर बनाए गए हैं, और ऐसा करते समय उन मजहबी कानूनी सलाहकारों अर्थात काजियों की स्थिति का पता लगाना जरूरी है

जिनके फतवों पर यह फरमान आधारित है। यह मानना तर्क संगत नहीं है कि ये काजी महकमा लगान के कार्य कलापों की कोई जानकारी रखते थे; उनकी जानकारी के मुख्य जरिए शेरशाह अथवा अकबर द्वारा जारी किए गए कानून न थे बल्कि वे कानूनी किताबें और टीकाएँ थीं जिनमें से अधिकांश एशिया के अन्य भागों या देशों जैसे अरब, सीरिया या ईराक- में लिखी गई थीं। प्रचलित फतवों में जरूरी जगहों पर इनके लेखकों की पंक्तियाँ उद्धृत की गई हैं और हम इनमें अबू हनीफ, महीत या अबू यूसुफ जैसे लोगों के नाम पाते हैं जिन्होंने बहुत पहले—और भारत में हर तरह से भिन्न देशों में अपना 'ज्ञान' अर्जित किया था। फरमान का रूप निर्धारित करने वाले व्यक्तियों ने स्पष्टतः इन फतवों का पूर्ण अनुसरण किया है और फलस्वरूप भारतीय व्यवस्था में ऐसे शब्दों, विचारों तथा संस्थाओं का आयात स्वाभाविक ही था जो कि भारतीय जीवन की वास्तविकताओं के अनुसार आसानी से नहीं ढाले जा सकते।

ऐसे विदेशी पारिभाषिक शब्दों के उदाहरण के रूप में हम किसान के लिए इस्तेमाल किए गए शब्द 'मालिक' को लेत हैं; यह शब्द प्रारंभ में राजा के लिए प्रयोग किया जाता था, पर कालान्तर में यह किसी वस्तु के स्वामी के अर्थ में प्रयोग किया जाने लगा। वह गुमनाम टीकाकार, जिसके विचारों को प्रोफेसर सरकार ने फरमान के अपने अनुवाद में शामिल किया है, स्पष्टतः इस अपरिचित शब्द से कुछ परेशान सा नजर आता है। उसने यह सोचकर कि कोई भी व्यक्ति जमीन का स्वामी नहीं हो सकता था, 'मालिक' का अर्थ 'फसल का स्वामी' लगाया है, परन्तु वास्तविकता यह है कि अन्य इस्लामी देशों में निस्सन्देह, और उचित रूप से ही, 'मालिक' शब्द का प्रयोग किया जाता था, वहां से यह हिन्दुस्तान में ले आया गया जहाँ कि स्थानीय परिस्थितियों में यह शब्द लागू नहीं हो सकता था। उसी तरह विचारों की दृष्टि से भी, एक ही फसल पैदा करने में प्रयोग की जाने वाली भूमि के सम्बन्ध में विचार फरमान के कुछ अंशों के महत्व को कम कर देता है। इसमें ज़मीन सम्बन्धी नियमों का विवरण बहुत ही विस्तृत ढंग से खजूरों और बदामों के क्रम से दिया गया है जो कि भारत की तत्कालीन कृषि व्यवस्था की दृष्टि से असंगत प्रतीत होता है। परन्तु इसमें हम जरूरी मसलों जैसे गन्ने आदि फसलों से सम्बन्धित विशेष दिक्कतों- का कोई जिक्र नहीं पाते। इसी प्रकार यह फरमान उश्री भूमि तथा खिराजी भूमि के फर्क पर जोर देता है जो-जैसा कि हम पहले अध्याय में ही देख चुके हैं— इस्लामी बन्दोबस्त की जड़ में है, लेकिन भारत में मैं उश्री भूमि के एक भी मामले का अस्तित्व खोजने में नाकामयाब रहा हूँ, और यदि अस्तित्व रहा भी हो तो वह निश्चित रूप से महत्व

हीन रहा होगा। ऐसी अवस्था में हमें इस फरमान को किसानों की मालिकाना हस्ती को मान्यता देने की दृष्टि से या दिन ब दिन तरक्की करते हुये खजूर पैदा करने के उद्योग के अस्तित्व की सूचना पाने की दृष्टि से या आवश्यक रूप से उश्री भूमि का महत्व जानने की दृष्टि से नहीं पढ़ना चाहिए। कुछ अन्य बातों के सिलसिले में भी, यह सवाल उठत है कि क्या वास्तव में इस फरमान के नियमों की कोई जरूरत थी या इसके रूप निर्धारण और लिपि बद्ध करने के समय की परिस्थियों के कारण विधानों व नियमों में अनावश्यक वृद्धि की गई।

इनमें से केवल एक जरूरी मसला, जिस पर बिचार करना बाकी है वह है भूमि के स्वामित्व के दो तरीकों के बीच का अन्तर जिसका पूरे फरमान में ध्यान रखा गया है। इन दो तरीकों के लिए 'मुकस्सम' और 'मुवज्जफ' शब्दों का प्रयोग किया गया है। इन शब्दों की परिभाषा फरमान में भी नहीं की गई हैं, पर उनके बीच का फर्क एक फतवे द्वारा स्पष्ट हो जाता है, जिसके अनुसार पहले तरीके (मुकस्सम) के अनुसार केवल खेतों को जोतने पर ही लगान देना पड़ता था जब कि दूसरे तरीके (मुवज्जफ) के अनुसार चाहें सम्बन्धित जमीन पर खेती की जाय या न की जाय, उस पर निर्धारित लगान देना ही पड़ता था। यही वर्गीकरण फरमान (ह २) में भी मिलता है और इसके नियम बताते हैं कि मुवज्जफ भी पहले बयान किए हुए इकरारनामे का एक रूप है जिसके अनुसार जमीन को उपयोग में रखने के लिए एक निश्चित रकम चुका दी जाती थी।' किसी भी फसल के बोने या उसकी उपज से शासन का कोई सम्बन्ध नहीं रहता था। दूसरे तरीके में (मुक़स्सम) हिस्से बाँट कर (बँटाई) या नाप प्रणाली द्वारा लगान के भुगतान तक को अपनी हद में घेर लेता है और ऐसे सभी मुआमलों में लागू होता है जहाँ मालगुजारी की रकम का निश्चित किया जाना किसी मौसमी उपज पर निर्भर रहता है। मुझे इस बात का निश्चित सबूत नहीं प्राप्त हुआ है कि फरमान जारी होने की तारीख तक इकरारनामें द्वारा भूमि पाने की प्रथा (ठेकेदारी प्रथा) का मुस्लिम-कालीन-भारत में कोई अस्तित्व था। * फिर वही

---

* वज़ाफा (मुवज्जफ का लगान) अदा करने का 'आइन' भाग १, पृष्ठ ३६४ में संकेत है। सामान्य इस्लामी-मालगुजारी प्रथा के सम्बन्धित एक लेख में भी यह बात है, पर भारत में इसके प्रचलन का इसमें कोई वर्णन नहीं मिलता। भारतीय ग्रंथों में 'वज़ाफा' शब्द का प्रायः प्रयोग किया गया है परन्तु यह किसी भी स्थान पर किसानों के लगान के बन्दोबस्त के विषय की कोई जानकारी नहीं देता। साधारणतः इसका अभिप्राय प्रायः नकद चुकाई जाने वाली उस रकम से है जो बादशाह द्वारा

सवाल उठता है कि इससे सम्बन्धित प्रसंग केवल नियमों में बढ़ोत्तरी की दृष्टि से उठाए गए हैं या वास्तव में भारत की तत्कालीन परिस्थितियों की दृष्टि से वे आवश्यक थे।

इस सवाल पर दो प्रकार से विचार किया जा सकता है। पहला यह है कि ठेकेदारी की प्रथा ब्रिटिश काल के प्रारम्भ में कुछ क्षेत्रों में पूर्णतः प्रचलित थी; अब या तो औरंगजेब के समय में ही यह व्यवस्था प्रचलित हो गयी हो या इसका प्रचलन १८ वीं सदी में हुआ हो, परन्तु दूसरी सम्भावना अर्थहीन समझी जा सकती हैं, क्योंकि यह एक अव्यवस्था का काल था और इस दौरान में लोग रोज खाने के लिए रोज कमाते थे, फलतः वे भविष्य के लिए अपने को कष्ट देने के लिए उत्सुक नहीं थे। पाँच वर्ष जैसे छोटे से काल के लिए भी लगान देने के इकरारनामे को मानने से किसानों का इन्कार कर देना, प्रारम्भिक ब्रिटिश काल का एक उल्लेखनीय तथ्य है। उस समय लोकमत भविष्य में पूरी स्वतंत्रता की इच्छा के साथ केवल एक वर्ष के लिए लगान निर्धारित करने के पक्ष में था और यह समझना कठिन है कि ऐसे वातावरण में किस तरह ठेकेदारी की प्रथा ने फिर अस्तित्व ग्रहण किया। ऐसी दशा में केवल एक ही सम्भावना हो सकती है कि इस प्रथा का आधार बहुत पुराना हो।

उदयपुर के जमीनी बन्दोबस्त के सम्बन्ध में, प्रथम अध्याय में दिए गए तथ्य से इस विचार की पुष्टि होती है। मुस्लिम शासन के अन्तर्गत स्थायी रूप से कभी न आने वाले उन क्षेत्रों में ठेकेदारी द्वारा भूमि प्राप्त करने की प्रथा का वर्णन कुछ ऐसे प्रलेखों में मिलता है जिनमें से कुछ चार शताब्दी से भी पहले के हैं। इस प्रकार निश्चित रूप से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि यह कोई आधुनिक प्रथा नहीं, बल्कि हिन्दुओं में यह पहले से ही प्रचलित थी। यह तथ्य कि मुस्लिम मुगल कालीन भारत के प्रारम्भिक साहित्यिक में इस प्रथा का कोई वर्णन नहीं है, इस प्रथा के अस्तित्व को अप्रमाणित करने का कोई सन्तोषजनक सबूत नहीं है। इसका यह अर्थ भी निकाला जा सकता है कि मुस्लिम शासकों को इस क्षेत्र में हस्तक्षेप करने का अवसर नहीं प्राप्त हुआ। इस प्रकार, जब कि प्रत्यक्ष प्रमाण का अभाव है, यह मान लेना उचित ही है कि यह प्रथा उसी समय से चली आ रही है जब से कि सर्वप्रथम दिल्ली में मुस्लिम-राज्य स्थापित हुआ। यह प्रथा एक सामान्य व्यवस्था के रूप में नहीं, बल्कि विशेष क्षेत्रों या विशेष परिस्थितियों में प्रचलित थी जिनमें कि इस प्रथा को सुविधा

स्वेच्छा से किसी विद्वान या अन्य प्रार्थी या मदद के काबिल व्यक्ति की मदद के लिए, वितरित करने की स्वीकृत देता है।

जनक पाया जाता था। इसके विषय में औरङ्गजेब द्वारा जारी किए गए ये आदेश दीवान को समय-समय पर इससे पैदा होने वाली दिक्कतों को दूर करने का अधिकार प्रदान करते थे। जिन नियमों पर इन पंक्तियों में विचार किया जा रहा है वे केवल व्यर्थ ही प्रचलित किये गये थे तथा किसी अस्थायी विचार से किसी आवश्यकता की पूर्ति के लिये बना दिये गये थे, इस विचार को भी किसी प्रकार किसी भी साक्षी द्वारा गलत नहीं सिद्ध किया जा सकता। सम्भव है कि दूसरा विचार ही अधिक सही हो।

इस आदेश से तो यही पता चलता है कि तात्कालीन प्रशासन किसानों के भूमि को अपने अधिकार में रखने तथा आवश्यकता पड़ने पर उसे बेंच सकने के अधिकार को मान्यता देता था। ठेकेदार के मरने पर उसके पुत्र को उसका ठेका उत्तराधिकार रूप में मिल जाता था, तथा वह उस भूमि पर अपने स्वामित्व को बंधक रख सकता था, किसी अन्य को ठेके पर दे सकता था या बेंच सकता था। आदेश में ऐसी कोई बात तो नहीं आती, जो प्रत्यक्ष रूप से यह सिद्ध कर दे कि व्यक्तिगत रूप से किसानों को भी उस भूमि पर स्वामित्व उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त था, परन्तु उस आदेश में एक बात ऐसी है जो अप्रत्यक्ष रूप से यह सिद्ध कर देती है कि किसान जिस भूमि की लगान देता था, वह भूमि उसकी मृत्यु के पश्चात् स्वतः उसके पुत्र को मिल जाती थी। हाशिम के फरमान में यह कहा गया है कि यदि कोई उत्तराधिकारी शेष न रह गया हो तो वह भूमि बेंच दी जाय या किसी अन्य को दे दी जाय। इसी आदेश में अप्रत्यक्ष रूप से इस बात का भी प्रमाण है कि भूमि बेंची भी जा सकती थी। इन नियमों से यह संकेत नहीं मिलता कि व्यवस्था में कुछ मौलिक परिवर्तन किये गये थे, क्योंकि जैसा हम पहले अध्याय में देख चुके हैं, हिन्दू धर्म में पैत्रिक उत्तराधिकार तथा विक्रय या वन्धक द्वारा तथा दान द्वारा भी स्वामित्व परिवर्तन को मान्यता दी गयी है।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में ऐसी व्यवस्था है कि यदि खेतिहर ठीक से खेती न करे तथा यदि उचित समय पर राज्यांश न दे दे, तो उसे खेत से बेदखल कर देना चाहिये। औरंगजेब के इन फरमानों में ऐसी कोई व्यवस्था की निर्देशक सामग्री नहीं है। दोनों ही फरमानों में बेदखली के नियमों का समावेश नहीं किया गया है। पहले फरमान में सर्वाधिक बल दिया गया है लगान की वसूली पर, परन्तु इस विषय पर कोई नियम ही नहीं दिया गया है कि यदि कोई खेतिहर लगान न दे या न दे सके तो क्या करना होगा। यह तो असम्भव जान पड़ता है कि जो शासन खेतिहरों तथा अन्य स्रोतों से अधिक से अधिक वसूल करना ही अपना लक्ष्य बना चुका हो,

उस शासन में बादशाह का हक न देने वालों के लिए कोई विधान ही न हो। इसलिये ऐसा सोचा जा सकता है कि कर्मचारियों को ऐसे मामलों में कुछ न कुछ करने का अधिकार अवश्य रहा होगा, परन्तु उसको फरमानों में जगह नहीं दी गई क्योंकि खेतिहरों के अभाव की स्थिति में ऐसे नियमों का कोई महत्व ही नहीं होता। किसानों की कमी रहने से भूमि की मांग वैसे भी कम हो जाती है, उस पर कड़े विधान उस मांग को और भी कम बना देते हैं।

अकबर के ही समान औरंगजेब द्वारा दिये गए आदेश में ऐसी कोई व्यवस्था नहीं है कि लगान न देने या न दे पाने पर खेतिहर के आश्रित पारिवारिक सदस्यों को बेंच दिया जाय, परन्तु कितने ही इतिहासकारों * की कृतियों से हमें ऐसा संकेत मिलता है कि स्थानीय कर्मचारी इस तरीके को धड़ल्ले से काम में लाते थे। पिछले अध्याय में हमने बदाऊनी के वर्णन को देखा है, जिसमें उसने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि अकबर के शासन काल में 'खेतिहरों के स्त्री तथा बच्चे ऐसी दशा में बेंच दिए जाते थे और इस प्रकार वे सुदूरस्थ विदेशों में तितर बितर हो जाते थे।' अगले शासन काल का वर्णन करते समय इतिहासकार पल्सर्ट भी स्त्रियों तथा बच्चों को बेंचे जाने की बात कहता है। बर्नियर ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि यदि कोई खेतिहर लगान न दे पाता था तो 'उसके बच्चों को उससे अलग कर दिया जाता था तथा उन्हें गुलाम बना दिया जाता था।' मुगल कालीन बंगाल का वर्णन करते हुये मैनरिक नामक लेखक ने लिखा है कि 'जब कोई अभागा शासन की इस मांग (पूरी की पूरी लगान अग्रिम रूप में) को दे पाने में असमर्थ हो जाता था, तो उसके बीबी बच्चों को गुलामों की तरह सरे बाजार नीलाम करके बेंच दिया जाता था।' इस प्रकार हमें यह नहीं सोच लेना चाहिये कि इन आदेशों में तत्सम्बन्धी सारी कार्यवाहियों का विवरण दे दिया गया है जो सामान्य अवस्था में तथा आपत्तिकालीन अवस्था में व्यवहृत होती थी। उचित धारणा तो यह है कि इन आदेशों में उसी सम्बन्ध के नियमों को स्थान दिया गया है जिन पर नियम बनाने की अत्यधिक आवश्यकता थी। सम्भव है कि लगान न दे सकने वालों के लिये नियम बनाने की आवश्यकता या तो इसलिए न पड़ी हो कि ऐसे मामले होते ही नहीं थे, या इसलिये कि ऐसी स्थिति में परम्परा का ही पालन होता रहा हो। शायद दूसरी बात ही ठीक हो।

इस फरमान में एक मजेदार नियम वह है जो इस प्रकार के ठेकेदारों के अवशिष्ट अधिकारों की व्याख्या करता है, जिन्होंने कुछ भूभाग को ठेके पर ले तो लिया,

---

* बदाऊनी भाग २, १८६, पेल्सर्ट ४७, बर्नियर २०५, मैनरिक भाग १, ५३

परन्तु उसे जोत न सके या अन्य किसी कारण से पलायन कर गये। हाशिम के फरमान में इस बात की स्पष्ट व्यवस्था की गई है कि ऐसी दशा में उस ठेकेदार का स्वामित्व उस भूमि पर बना रहेगा, परन्तु कर्मचारी को चाहिये कि उसकी अनुपस्थिति की अवधि में उस भूमि का प्रबन्ध किसी अन्य खेतिहर के साथ कर दे और ज्यों ही वह ठेकेदार लौटे या वह इस योग्य हो जाय कि वह अपने ठेके में प्राप्त खेतों को जोत सके, तो उसकी भूमि तुरन्त उसको मिल जानी चाहिये। कर्मचारी उस भूमि को सीरदारी के ढंग पर उठा सकता था। यदि उस भूमि की आय ठेके में उल्लिखित आय से अधिक हुई तो वह अतिरिक्त रकम ठेकेदार को दे दी जाती थी। यह अपने ढंग का प्रथम उल्लेख है, जो मालिकाना शब्द के अर्थ के समीप पहुँचाता है, जिसके अनुसार भूमि न जोतने पर भी स्वामित्व को धक्का नहीं पहुँचता था। वह विषय उन्नीसवीं शताब्दी के कुछ वर्षों में बड़ा महत्वपूर्ण समझा जाता था।

यदि यह मान लिया जाय कि ठेकेदारी की व्यवस्था उस समय के पहले से ही थी तो यह कहना पड़ेगा कि उपरोक्त आदेशों ने भारतीय ग्रामीण-व्यवस्था में किसी महत्वपूर्ण नवीनता को जन्म नहीं दिया। निस्सन्देह काजियों द्वारा दिये गये फतवों में आये हुये नियमों की विस्तृत विवेचना आवश्यक है, जैसे स्थानान्तरण की दशा में लगान का बँटवारा करने के नियम (ह० १२, १३), अंगूर तथा बादामों के खेतों पर लगान निर्धारण के नियम (ह० १४), मुसलमानों द्वारा उश्री भूमि के अतिरिक्त अन्य भूमि पर दी जाने वाली लगान के नियम (ह० १४), कब्रिस्तानों या मकबरों को दी गयी भूमि की लगान-मुक्ति के नियम (ह० १५)। इन नियमों को भारतीय ग्रामीण-व्यवस्था में बिना किसी महत्वपूर्ण परिवर्तन के भी लागू किया जा सकता था, क्योंकि विभिन्न मुसलमान बादशाहों के शासन में धीरे धीरे जिस व्यवस्था का विकास हो चुका था, वह सर्वथा इस योग्य हो गयी थी कि उसमें इन नियमों का भी समावेश सुचारु रूप से हो सकता था। ये नियम उस प्रशासन के लिए अवश्य सहायक सिद्ध हो सकते थे, जिसको इस प्रकार की उलझनों की आवश्यकता पड़ती रहती थी। निस्सन्देह वाह्य रूप रेखा में मूल व्यवस्था अपरिवर्तित ही रही। हाँ अगर हम इसको ही मान लें कि ठेकेदारी प्रथा इस काल में पहले पहल प्रचलित हुई (मेरी राय में ऐसा होना सम्भव नहीं है) तब तो बात ही दूसरी है।

किसानों का अभाव

औरंगजेब के फरमानों के सम्बन्ध में एक और भी बात विवेचनीय है। इन फरमानों में इस बात पर अत्यधिक जोर दिया गया है कि पुराने किसान हाथ से जाने

न पावें साथ ही नये-नये किसान भी प्राप्त किये जायँ। पिछले अध्यायों में हम यह देख चुके हैं कि तेरहवीं शताब्दी में तथा उससे आगे किसी भी बादशाह के लिये कृषि विकास का सर्वाधिक प्रमुख तत्व यह हुआ करता था कि चाहे जैसे भी हो, देन की जोतने योग्य अधिक से अधिक भूमि को जोत के अन्दर लाया जाय। इसके पूर्व की गयी सभी घोषणाओं में यही जोर दिया जाता रहा है कि कृषिगत भूमि का क्षेत्रफल बढ़ाया जाय। इस बात पर कभी भी और किसी ने भी जोर नहीं दिया था कि किसानों की संख्या बढ़ायी जाय। उदाहरणार्थ गयासुद्दीन तुगलक का आदेश था कि किसान लोग अपने पुराने खेतों को तो जोतें ही साथ ही हर साल नये-नये भूमिखंडों को जोत में ले लिया करें, जिससे खेती के क्षेत्रफल की वृद्धि हो। अकबर के भी नियमों का कमीवेश यही उद्देश्य था। उसने भी अपने मुहस्सिलों को यही आदेश दिया था कि वे इस बात के लिये हर सम्भव प्रयत्न करें कि किसानों को अधिक से अधिक भूमि जोतने का उत्साह मिले। उसने भी खेतों को छोड़ कर भाग जाने वाले किसानों के लिये कोई नियम नहीं बनाया। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि अकबर के शासन काल तक इस प्रकार भाग जाने वाले किसानों की समस्या ने गम्भीर रूप नहीं ग्रहण किया था, परन्तु औरङ्गजेब के शासन काल में इस समस्या ने इतना गम्भीर रूप ग्रहण कर लिया था कि प्रशासन के सामने इस समस्या के कारण उलझनें आने लग गयी थीं। प्रति वर्ष जब लगान निर्धारण का कार्य प्रारम्भ होने को होता था तो सर्वप्रथम यही देखना होता था कि पिछले साल के कितने किसान इस वर्ष में भाग गये हैं। इस बात का पता लग जाने पर भाग गये हुये किसानों का पता लगा कर उन्हें यथासम्भव वापस लाया जाता था। साथ ही इस बात का भी प्रयत्न होता रहता था कि अन्य क्षेत्रों के खेतिहर अपने क्षेत्र में आने को आकर्षित हों (२०२)। भाग गये हुये किसानों की खाली भूमि का प्रबन्ध करने के लिये जिन विस्तृत नियमों की आवश्यकता पड़ती थी, वे हाशिम के फरमान की धारा तीन में दिये गये हैं तथा उनको देखने से यही मालूम होता है कि प्रत्येक वर्ष ऐसे मामले बहुतायत से होते थे। केवल इन्हीं आदेशों को ध्यान में रख कर यदि सोचा जाय तो मालूम पड़ेगा कि उस समय खेती के लिये अन्य भौतिक साधन उतने आवश्यक नहीं थे। मुख्य आवश्यकता पड़ती थी मानवीय शक्ति की। जितने ही अधिक मनुष्य जिसके साथ होते थे, उतनी ही अधिक भूमि वह मनुष्य अपनी जोत में रख सकता था। इसलिये अब यह आसानी से समझा जा सकता है कि उस समय में खेतिहरों का अभाव क्यों था और यह भी कि भूमि की माँग कम क्यों थी।

उपरोक्त विवेचना का तात्पर्य यह कभी न समझ लेना चाहिये कि उस समय

उत्तरी भारत की जनसंख्या तेजी से घट रही थी। यदि तत्कालीन सरकारी कागजों को उस दृष्टि से देखा जाय तो पता लग जायगा कि वास्तव में उस समय उस भूभाग की जनसंख्या तेजी से बढ़ रही थी, यद्यपि लगातार होते रहने वाले युद्धों में कम जन हानि नहीं होती थी तथा अकाल एवम् बीमारियाँ भी जनसंख्या की कमी पर कम प्रभाव न डालते थे। सत्रहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध उत्तरी भारत में अपेक्षाकृत शान्ति एवम् सुव्यवस्था का समय था। निस्सन्देह कभी-कभी गृहयुद्ध तथा विद्रोह होते रहते थे, परन्तु इन सब कारणों से होने वाली जन-हानि असाधारण रूप से अत्यधिक नहीं होती थी। जब मुगलकाल में दक्षिण विजय की परम्परा प्रारम्भ हुई और एक के बाद दूसरी लड़ाइयाँ लड़ी जाने लगीं तो अवश्य उत्तरी भारत के लोगों की एक बड़ी संख्या उधर खिंचने लगी, परन्तु सन् १६३० ई० के बाद भयानक एवम् बड़ी लड़ाइयाँ कम ही हुईं और जिस समय औरङ्गजेब ने इन लगान सम्बन्धी फरमानों को जारी किया था उस समय तक दक्षिण में मरहठा समस्या उठी नहीं थी। इस प्रकार सब बातों को मिलाकर यदि देखा जाय तो पता चलेगा कि उस समय तक ऐसा कोई भी कारण उपस्थित नहीं हुआ था, जो जनसंख्या-वृद्धि में बाधक हुआ हो।

यह सत्य है कि उस काल में पड़ने वाले अकालों का पूरा-पूरा वर्णन * प्राप्य नहीं है, परन्तु जो भी तत्सम्बन्धी सूचनायें लभ्य हैं, उनसे पता चलता है कि सत्रहवीं शताब्दी के प्रथम पचास वर्षों में देश को किसी ऐसी भयानक विपत्ति का सामना नहीं करना पड़ा, जिससे असाधारण जन-हानि हुई हो। सन् १५९६ ई० में अवश्य असाधारण जन-हानि हुई थी, परन्तु इस अत्यधिक जन-हानि का दुष्प्रभाव अवश्य ही सन् १६६० ई० तक समाप्त हो गया होगा। ऐसे भी संकेत मिलते हैं जिनमें पता चलता है कि सन् १६१४-१५ ई० में पंजाब में साधारण-सा अन्नाभाव हो गया था। सन् १६४५ ई० में भी अन्नाभाव हो गया था। इन्हें अकाल की संज्ञा नहीं दी जा सकती। इनके साथ किसी प्रकार की महामारी भी नहीं थी तथा इसीलिये जन-हानि भी नहीं के बराबर हुई थी। सन् १६५० ई० में अवध में भी ऐसी स्थिति आ गयी थी परन्तु उससे कोई जन-हानि नहीं हुई थी। क्योंकि यदि अधिक मनुष्य मरे होते तो सरकारी प्रलेखों में अवश्य ही इनका जिक्र आया होता। सन् १६३० ई० में अवश्य

---

* "अकबर से औरंगजेब" नामक अपनी पुस्तक में मैंने इस विषय का किंचित् वर्णन किया है। इसके विस्तृत वर्णन उस सारांश भाग में दिये गये हैं जो इस पुस्तक में है। सन् १६४५ ई० के पंजाब के अकाल का वर्णन मैंने नहीं किया है किन्तु वह बादशाहनामा के दूसरे भाग में पृष्ठ ४८९ पर दिया गया है।

ही भयायक दुर्भिक्ष पड़ गया था, उसमें जन-हानि भी हुई थी, परन्तु उसका प्रभाव उत्तर भारत पर कुछ भी नहीं था। यह दुर्भिक्ष गुजरात तथा दक्षिणी भूभाग तक ही सीमित रहा। सन् १६४८ ई० में राजपूताना भी अकाल के गाल में था, परन्तु यह विपत्ति केवल स्थानीय ही थी। १६५८, ५९ ई० में सिन्ध को भी अकाल का सामना करना पड़ा, परन्तु अन्य प्रदेश इसके प्रभाव से अछूते ही रह गये। सन् १६६० का अकाल दक्षिण में सर्वव्यापी अवश्य था, परन्तु इसका प्रभाव उत्तरी भारत में यही देखा गया कि अगली शताब्दी के एक ऐतिहासिक लेख में यह लिखा गया कि "चारों ओर से भूखे मनुष्यों की भीड़ की भीड़ राजधानी में आ गयी।" यदि इस वाक्य में राजधानी का तात्पर्य दिल्ली से है, जब हम यह परिणाम निकाल सकते हैं कि उत्तरी भारत पर भी इस अकाल का प्रभाव पड़ा था। सम्भावना ऐसी है कि हम 'राजधानी' शब्द से दिल्ली का ही अर्थ ग्रहण करें, परन्तु निश्चयपूर्वक हम ऐसा नहीं कह सकते। हम इसका यह भी अर्थ लगा सकते हैं कि दक्षिण प्रदेशों के भूखे लोग ही दिल्ली में आ गये थे, क्योंकि वह समूचा क्षेत्र भयंकर दुर्भिक्ष से पीड़ित था। वे लोग अन्न की तलाश में दिल्ली की ओर आये होंगे। सन् १६६० तथा १६७० के बीच दक्षिण तथा गुजरात में फिर से अकाल पड़ने की सूचनायें मिलती हैं, परन्तु इस बार भी उत्तरी भारत अछूता ही बँचा रह गया, मेरी राय से यह निश्चित है कि दक्षिणी प्रदेशों में इन दुर्भिक्षों ने अवश्य ही भयंकर जन-हानि की थी, परन्तु उत्तर भारत पर भी इसका कोई गम्भीर प्रभाव परिलक्षित हुआ था, इसका कोई भी वर्णन किसी भी सरकारी कागज या किसी भी गैर सरकारी ग्रन्थ में नहीं मिलता।

इस काल में किसी प्रकार की भयंकर महामारी के प्रकोप की भी बात सुनने में नहीं आती और यदि ऐसी महामारियों के वर्णन मिलते भी हैं तो अकालों से भी कम, निस्सन्देह सत्रहवीं शताब्दी के प्रथम पचास वर्षों में उत्तर भारत में गिल्टियों वाले प्लेग * के होने को सूचनायें मिलती हैं। जहाँगीर ने स्वयम् ही लिखा है कि पंजाब से लेकर दिल्ली तक के समूचे भूभाग में एक भयंकर रंग की मारात्मक महामारी फैल गयी थी तथा उसके कारण भयानक रूप से जन-हानि हुई थी, परन्तु सन् १६१६ ई० तक आते-आते इसका प्रकोप पूर्णतया दब गया था। इस बीमारी के लक्षणों का

* प्लेग के लिये देखिये तुजक पृष्ठ १६२, २२५ तथा बादशाहनामा भाग १ पृ० ४८६ तथा भाग २ पृ० ३५३। इन वर्णनों में या तो गिल्टियों का वर्णन है या चूहों पर उसके प्रभाव का। इसी से इस बीमारी को प्लेग ही माना जा सकता है।

वर्णन उसने नहीं किया है, परन्तु भाषा का प्रयोग ही ऐसा है जो प्लेग * की ओर ही संकेत करता है। जहाँगीर ने जो यह लिख दिया कि 'महामारी का प्रकोप पूर्ण रूप से दब गया।' इससे मालूम होता है कि उसने बीमारी के दब जाने का निर्णय खूब सोच विचार कर नहीं लिखा था, क्योंकि १६१८, १६३२ तथा १६६४ ई० में आगरा शहर में फिर भयंकर प्लेग के वर्णन मिलते हैं। १६५६ ई० में दिल्ली भी प्लेग की भयंकरताओं से संत्रस्त था और १६८९ के पूर्व के वर्षों में भी इस महामारी ने गुजरात तथा दक्षिण में अत्यधिक जनबलि लिया था। सम्भव है कि जब औरङ्गजेब के फरमान निकाले गये, उस समय उत्तर भारत प्लेग की भयंकर दाढ़ों में रहा हो और इस प्रकार की स्थिति लम्बे समय तक बनी रह गयी हो; परन्तु इस बात की कोई भी निश्चित साक्षी नहीं है। दूसरी ओर इस बात के सबल एवम् विश्वासनीय प्रमाण मिलते हैं कि उत्तर भारत में किसानों का अभाव उनके खेत छोड़ कर भाग जाने के कारण होता था न कि अकालों या महामारियों में हुई जन-हानि के कारण। ऐसी दशा में हम यह मान सकते हैं कि अधिकांश व्यक्ति खेती की ओर आकर्षित ही नहीं होते थे।

सन् १६७० ई० के आसपास कोलवर्ट नामक एक फ्रांसीसी के कहने पर बर्नियर ने मुगल साम्राज्य का सम्पूर्ण निरीक्षणात्मक रूप लेखबद्ध किया था। बर्नियर को जो काम सौंपा गया था, उसके लिये वह पूर्ण योग्यता भी रखता था। वह स्वयम् भी किसान ही था अतः कृषि एवम् ग्रामीण-व्यवस्था में उसकी अत्यधिक रुचि स्वाभाविक ही थी। उसने तत्कालीन भारतीय समस्या का गम्भीर अध्ययन किया। वह पूर्ण शिक्षित व्यक्ति भी था। उसने मान्टपेलियर के विश्व विद्यालय से डाक्टर की उपाधि भी प्राप्त की थी तथा वह एक महान् पर्यटक था। वह भारत में उस समय पहुँचा जो औरङ्गजेब का राज्य-रोहण-काल था। यहाँ आने के पूर्व वह एशिया तथा यूरोप के विभिन्न देशों में घूम-घूम कर उनके विषय में पूर्ण जानकारी प्राप्त कर चुका था। वह बादशाह औरङ्गजेब के दर्बार में एक वैद्य की हैसियत से आठ वर्ष तक रहा था, अनेक ऊँचे कर्मचारियों से उसका घनिष्ठ परिचय था। इन परिस्थितियों में बर्नियर को हर प्रकार के ज्ञान संग्रह की अत्यधिक सुविधायें प्राप्त थीं। एक साधारण पर्यटक

---

* सर विलियम फॉस्टर ने कुछ कारखानों के प्रलेखों को प्रकाशित किया है, जो इंडिया आफिस में देखे जा सकते हैं, परन्तु इनकी सूचनायें अति विश्वसनीय नहीं हैं। एक रिपोर्ट के अनुसार तो यह प्लेग था ही नहीं। इन रिपोर्टों को एकदम से सही मान लेना ठीक नहीं होगा।

को इतनी अधिक सुविधायें कहाँ से मिलती। बर्नियर ने तत्कालीन विभिन्न विषयों पर जो कुछ लिखा है वह अधिकार पूर्वक लिखा है। उसने सोने चाँदी की पूर्ति विषयक जो बातें लिखी हैं उनकी पुष्टि हालैंडवासियों के लेखों से अंग्रेज लेखकों की कृतियों से हो जाती है। अतएव खेतिहरों के अभाव तथा उसके कारणों की जो जानकारी हमें बर्नियर के लेखों से मिलती है, उसे हम अविश्वासनीय कहकर उड़ा भी नहीं सकते। बर्नियर की कृतियों से यह बात स्पष्ट रूप से प्रगट हो जाती है कि किसानों का अभाव केवल इसलिये बना रहता था कि वे लोग किसी न किसी कारण से अपने खेत छोड़ कर भाग जाया करते थे।

बर्नियर के मस्तिष्क में यह बात भली भाँति जम गयी थी कि किसानों का जो अभाव इस देश में था, उसने इसके कारणों को परिश्रम पूर्वक जानने का प्रयत्न भी किया था और पूरी छानबीन के पश्चात् उसने भी यही मतस्थिर किया था कि किसानों के अभाव का मूल कारण है, उनके खेतों को छोड़ कर भाग जाने की प्रवृत्ति न कि जनसंख्या की कमी। यदि प्लेग की भयंकरता के कारण से होने वाली जन-हानि के कारण यह अभाव उपस्थित हुआ होता तो यों भी और वैद्य होने के नाते भी उसने इस तथ्य पर अवश्य विचार किया होता। परन्तु उसने निश्चय पूर्वक इस अभाव का कारण यही बताया कि किसान लोग खेत छोड़ कर भाग जाते थे। उसने तो यह भी कहा कि किसान लोग भागते नहीं थे, उनमें न अपने खेतों के प्रति और न अपनी उपज के प्रति कम प्रेम व आकर्षण न था; परन्तु शासन इतना कठोर था कि वे विवश हो जाते थे कि अपनी जान एवम् अपने कुटुम्बियों की जान बचाने के लिये भाग जायँ। इस प्रकार वे भागते नहीं थे, बल्कि भगाये जाते थे। उसके शब्दों को ही यदि दुहराया जाय तो समूचे साम्राज्य की सारी की सारी भूमि "बड़े ही खराब ढंग से जोती बोई जाती थी और उन पर बहुत ही कम आबादी थी तथा मनुष्यों के अभाव में बहुत अधिक उपजाऊ जमीन परती पड़ी हुई थी, जो थोड़े बहुत किसान व उनके मजदूर थे भी, उसके भी प्रति प्रान्तीय सूबेदारों का व्यवहार असह्य था। ये गरीब लोग यदि कभी सरकारी माँग को पूरा करने में असमर्थ हो जाते थे तो न केवल उनका जीवन-साधन ही उनसे छिन जाता था वरन् उनके बीबी बच्चे भी उनसे छिन जाते थे तथा गुलाम बना कर सुदूरस्थ प्रान्तों में या कभी-कभी विदेशों को भेज दिये जाते थे। इस प्रकार के अत्याचार जब असह्य हो जाते थे तो किसान अपने खेतों को छोड़ कर शहरों की ओर चले जाते थे, जहाँ वे बोझा ढोने का काम या पानी भरने का काम या घुड़-सवारों की साईसी का काम करने लगते थे। कभी-कभी वे भाग कर किसी हिन्दू राजा

के देश में जा बसते थे, जहाँ पर उनसे अपेक्षाकृत अच्छा व्यवहार किया जाता था तथा जहाँ उनका जीवन यापन अधिक सुख व सुविधापूर्ण होता था।'

बर्नियर के उपरोक्त वर्णन को पढ़ने पर मालूम हो जायगा कि शाही कर्मचारियों के जुल्मों से तंग आकर प्रायः खेतिहर लोग खेती का पेशा छोड़ कर कोई अन्य पेशा अपना लेते थे या दूसरे राज्यों में जाकर बस जाते थे, जहाँ पर मुगल शासन का प्रभाव नहीं होता था। बर्नियर द्वारा दिये गये इन वर्णनों को यदि औरङ्गजेब द्वारा जारी किये गये फरमानों की पृष्ठ भूमि में रख कर देखा जाय तो दोनों की संगति भी बैठ जाती हैं। दोनों से एक ही बात ध्वनित होती है कि तत्कालीन खेतिहरों के ऊपर लगान का भार अत्यधिक था तथा लगान वसूली में अत्यधिक सख्ती की जाती थी उन्हें बड़े ही कठिन नियंत्रण में रहना पड़ता था। इसीलिये खेती करने वालों की संख्या निरन्तर कम होती जा रही थी और अब कृषकों का संख्या ह्रास इस सीमा पर पहुँच चुका था कि सल्तनत को इस कारण परेशानी महसूस होने लग गयी थी। शासन का जालिमाना दबाव अकबर के भी समय में था, खेती योग्य जमीन अकबर के भी समय में परती पड़ी हुई थी और इस समय भी किसानों के भाग जाने वाले मामले समय सामने आते थे, परन्तु इन मामलों की संख्या इतनी अधिक नहीं हुई थी कि शासन को ही परेशानी मालूम पड़ने लगे, ऐसा प्रतीत होता है कि या तो जहाँगीर के समय में या शाहजहाँ के समय में यह दबाव इतना बढ़ गया कि खेतिहरों के लिये असह्य हो उठा, यह भी हो सकता है कि दोनों बादशाहों के जमाने में इस प्रकार का दबाव बढ़ा हो। यदि हमने पिछले अध्याय के सारांश विभाग को ध्यान पूर्वक पढ़ा है और वह हमें याद भी है तो हम यही कह सकने की स्थिति में हैं कि इन दबावों की वृद्धि का अधिकांश शाहजहाँ के ही समय में हुआ होगा, क्योंकि उसी के जमाने में सुरक्षित प्रदेशों की आय १५० लाख प्रति वर्ष से बढ़ कर ४०० लाख प्रति वर्ष हो गयी थी, परन्तु ऐसा कहने के लिये भी हमारे पास कोई निश्चित प्रमाण * नहीं है। हम इतना

---

* 'अकबर से औरंगजेब' नामक पुस्तक के आठवें अध्याय के ५ वें विभाग में मैंने कहा था कि कुछ अवशिष्ट आंकड़ों से यह सिद्ध होता है कि शाहजहाँ के शासन में लगान की दर अत्यधिक ऊँची हो गयी थीं परन्तु अब मैं देखता हूँ कि मेरा वह तर्क ठीक नहीं था। उस समय तक मैं 'हासिल' तथा 'जमा' शब्दों को समानार्थी समझता था परन्तु अब मैंने इनके अन्तर को समझ लिया है। अन्तर की जानकारी के इच्छुक कृपया परिशिष्ट 'अ' देख लें। अब यदि मैं फिर से तर्क देना चाहूँ तो मुझे शाहजहाँ के राज्यारोहण के समय के आंकड़ों को इकट्ठा करना पड़ेगा। साथ ही शाहजहाँ

ही कह सकने की स्थिति में हैं कि औरङ्गजेब के समय तक आते-आते खेतिहरों पर प्रशासन का दमनपूर्ण दबाव इस सीमा तक जा पहुँचा था कि प्रशासन का सारा लक्ष्य ही नष्ट भ्रष्ट होता दिखाई देने लगा था। सुरक्षित प्रदेशों की भी यही दशा थी। ऐसी दशा में हम यह परिणाम निकाल सकते हैं कि जागीरदारियों में तथा समस्त जागीरदारी व्यवस्था में अत्यधिक दोष आ गये थे और यह भी कि इन दोषों का सारा उत्तरदायित्व था जागीरदारियों पर स्वामित्व की अवधि वे अस्थिरता पर। स्वामित्व की विचित्रतायें भी अनेक दोषों को जता देती थी।

औरङ्गजेब द्वारा जारी किये गये फरमानों को ही यदि देखा जाय तो पता चल जाता है कि यदि कोई दीवान समर्थ, सशक्त, कुशल एवम् सच्चा हो तो वह अपने क्षेत्र का समुचित प्रवन्ध करके राज्य का भी भला कर सकता था और किसानों का भी, परन्तु कैसा भी समर्थ एवम् कुशल जागीरदार क्यों न हो, वह चाह कर भी न तो अपनी भलाई कर पाता था, न राज्य की ओर न किसान की ही। वह जानता था कि यदि इन सब की भलाई के लिये वह कुछ करे भी तो उसकी योजना की पूर्ति के पहले ही उसके हाथ से वह क्षेत्र निकल जा सकता है। मजे की बात तो यह है कि बर्नियर के अनुसार समूचे साम्राज्य में शायद एक भी दीवान ऐसा न था, जिसमें प्रशासन के अन्य गुणों के साथ ईमानदारी का भी सम्मिश्रण हो। वह आगे चल कर कहता है कि सुरक्षित प्रदेश की कितनी ही भूमि सीरदारी पर उठी हुई थी। दमनपूर्ण कारनामों के लिये उसकी दृष्टि में सीरदार, कर्मचारी तथा जागीरदार ये सब के सब समान रूप से उत्तरदायी थे। यदि इनमें से एक कोई कुशल एवम् ईमानदार भी होता था तो भी दूसरों के मारे उसे विवश हो जाना पड़ता था और उसकी सभी कुशलता व ईमानदारी धरी की धरी रह जाती थी।

अब तक मैं जिस कहानी को कहने का प्रयत्न कर रहा था, उसका अन्तिम भाग आ पहुँचा है। जहाँ तक उत्तरी भारत के किसानों के ऊपर लगाई जाने वाली लगान के निर्धारण का प्रश्न है, उसमें औरंगजेब के बाद से लेकर बृटिश शासन के प्रारम्भिक काल तक किसी महत्वपूर्ण परिवर्तन की सूचना नहीं मिलती। बृटिश शासन के प्रारम्भ के वर्षों में उत्तरी भारत में जो व्यवस्था प्रचलित पायी गयी थी, उसक अधिकांश सन् १६६५ ई० में औरंगजेब द्वारा जारी किये गये फरमानों के ही अनुरूप

कालीन जमा और हासिल का अंकीय अन्तर भी मालूम करना पड़ेगा। पूरा प्रयत्न करने के बाद भी मैं न इन आंकड़ों को प्राप्त कर सका और न इनके अंकीय अन्तर को।

ही थी। मि० हाल्ट मेकेन्जी ने सन् १८१९ ई० में लिखते हुये दिल्ली प्रान्त की उस समय की लगान निर्धारण की कार्यवाहियों का उद्धरण दिया है, जब कि स्थानीय व्यवस्था में कोई परिवर्तन नहीं किया गया था। इस उद्धरण में कहा है कि सम्बन्धित लगान-अधिकारी 'गाँव के जमीन्दार से इतनी ही रकम सालाना पर बन्दोबस्त करता था, जितनी रकम देना जमीन्दार स्वीकार कर लेता था या वह गाँव की वास्तविक उपज में से राज्यांश गल्ले के ही रूप में ले लिया करते थे, या वह नाप प्रणाली द्वारा जोते बोये गये खेत के क्षेत्रफल पर लगान निर्धारित कर देता था किन्तु नाप प्रणाली का उपयोग करते समय बोई गयी फसल की किस्म का भी विचार कर लेता था'। उक्त उद्धरण का संकेत स्पष्टतया सामूहिक निर्धारण की ओर है, साथ ही वह यह भी निर्देशित करता है कि उस समय देश में लगाननिर्धारण की बँटाई प्रथा भी चालू थी तथा नाप प्रणाली भी। दूसरे शब्दों में उस समय की व्यवस्था ठीक औरंगजेब के समय के अनुरूप ही थी। चूंकि इस समय तक साम्राज्य की करीब आधी भूमि तक जोती जा चुकी थी, अतः लगान का स्तर भी प्रायः उसी समय के समान था, परन्तु क्रियात्मक रूप में किसानों से ज्यादा से ज्यादा लिया जाता था। इसी प्रकार लार्ड मोइरा ने सन् १८१५ ई० का वर्णन देते हुये बृटिश कालीन के प्रबन्ध के बारे में लिखा है कि 'कलेक्टर (मुगल कालीन चकलादार) पिछले वर्ष के निर्धारण पर पहले विचार कर लेता है। इस विचार में वह समूचे गाँव को इकाई मानकर चलता है, फिर उस आंकड़े की तुलना वह नये वर्ष के सम्बन्ध में प्राप्त सूचनाओं से करता है। गांव की सामर्थ्य का इस प्रकार अनुमान लगा लेने पर जितना भी लगान वह उचित समझता है, उसकी सूचना गाँव के अधिकारी को दे देता है। स्वभावतया ही वह अधिकारी उस माँग को अनुचित तथा अत्यधिक बताता है। फलस्वरूप कलेक्टर यह धमकी देता है कि यदि तुम्हें यह माँग मंजूर नहीं है तो गाँव भर के जमीन की पैमाइश करा ली जायगी। इससे डर कर मुखिया उसकी माँग को ही मंजूर कर लेता है'। इक उद्धरण में भी सामूहिक निर्धारण की ही बात कही गयी है। यह सामूहिक निर्धारण भी सामान्य विचारों एवम् सूचनाओं के ही आधार पर होता था। पैमाइश (नापप्रणाली) का नाम तो केवल धमकी देने के लिये था। इस प्रकार विचार करने पर ही हमें उसी प्रकार की व्यवस्था के दर्शन होते हैं, जिस प्रकार की व्यवस्था औरङ्गजेब के समय में प्रचलित थी।

ऐसी दशा में हम यह कह सकते हैं कि शेरशाह एवम् बाद में अकबर द्वारा प्रचलित की गयी लगान-निर्धारण प्रथा आगे चल कर न जाने कब और किसके द्वारा खत्म कर दी गयी और फिर से सामूहिक निर्धारण की प्रथा चालू कर दी गयी और

वह प्रायः मुस्लिम शासन के अन्त तक चलती रही। इस व्यवस्था के अन्तर्गत जो कुछ भी ध्यान देने योग्य है, वह यही है कि कब और किस प्रकार तथा किन परिस्थितियों में मध्यस्थों की शक्ति का उत्तरोत्तर विकास होता गया। यह विकास एक दिन इस स्तर पर जा पहुँचा कि पिछले जमाने के जागीरदार, वक्फदार, सरदार, मुखिया तथा सीरदार सभी इसी में समा गये, और इन्हीं को क्षेत्रधर या जमीन्दार (लैंडहोल्डर्स) कहा जाने लगा। बृटिश विधान ने भी उनको उसी अर्थ में स्वीकार कर लिया। अगले विभाग में इन मध्यस्थों के शक्ति विकास पर ही विचार करेंगे।

औरङ्गजेब, उसके उत्तराधिकारी तथा मध्यस्थ

पिछले विभाग में हम देख चुके हैं कि साम्राज्य की कुल लगान बाईस करोड़ थी तथा उसमें से १९ करोड़ की लगान जागीरों के रूप में थी। उसका परिणाम यह हुआ कि उस समय में किसानों एवम् बादशाह के बीच की प्रमुखतम कड़ी जागीदार ही होते थे। इन्हीं लोगों को मुख्ययता मध्यस्थ माना जाता था। अगली अर्द्ध शताब्दी में इन जागीरदारों की हैसियत में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुये। औरङ्गजेब के शासनकाल के कुछ वर्षों बाद ही इन जागीरदारों की हैसियत गिरने लगी थी। उनकी आमदनी गिरने लगी थी तथा उनकी ख्याति भी घटने लगी थी। जागीरें अब भी दी जाती थीं, जागीरदार अब भी होते थे, मगर उनका अस्तित्व अधिकांश कागज की वस्तु थी। आठरहवीं शताब्दी तक आते-आते जागीरदारों का स्थान तालुकेदारों ने और जागीरों का स्थान तालुकों ने ले लिया। वही यही तालुकेदारी की प्रथा अठारहवीं शताब्दी को ग्रामीण-व्यवस्था की मुख्य संस्था बन गयी। औरङ्गजेब की मृत्यु के कुछ ही पश्चात् खाफी खाँ नामक इतिहासकार ने तत्कालीन शासन का इतिहास लिखा, जिसमें इन जागीरदारों की दुर्दशा का अच्छा वर्णन किया गया है। इसमें सर्वाधिक महात्वपूर्ण अंश वह है जिसमें शाहजहाँ द्वारा अपने कर्मचारियों को दिये गये अनेकानेक उपहारों एवम् पुरस्कारों का विवरण देने के बाद, उसके शासन की तुलना औरङ्गजेब के शासनकाल से की गयी है। उसने लिखा है कि औरङ्गजेब के शासनकाल में जागीरदारों को अपनी जागीरों से रोटी भर भी मयस्सर नहीं होती थी। एक दो जागीदार ही भरपेट भोजन का प्रबन्ध कर पात थे। शेष साधुओं का सा जीवन व्यतीत करने को बाध्य थे। दूसरी ओर नकद वेतन पाने वालों को जीवन भर में शायद ही दो एक साल का वेतन मिल पाता था। निस्सन्देह इस प्रकार का वर्णन अलंकारात्मक है। लेखक भी निराशावादी है। इसी लिये उसकी लिखी बातों को ज्यों की त्यों स्वीकार कर लेने की भूल नहीं होनी चाहिये। साथ ही यह भी सोच लेना भूल ही होगी कि

खाफी खाँ का वर्णन एकदम से कपोल कल्पित ही है तथा वह तत्कालीन परिस्थितियों का सारांश भी नहीं दे पाया है। कम से कम वह यह तो बता ही देता है कि १८ वीं शताब्दी के प्रथम पचीस वर्षों में लोगों का रुख शासन के प्रति कैसा था। इस काल के इतिहास का शायद सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंग है कि इस समय तक सोचा जाने लगा था कि कर्मचारियों को जागीर न देकर नकद वेतन दिया जाना चाहिये। खाफी खाँ के पूर्ववर्ती सभी लेखकों की कृतियों ने सदैव ही जागीरदारी प्रथा के पक्ष में ही तर्क दिया है। यही प्रथा प्रचलित भी थी।

जागीरदारी प्रथा में एक परिवर्तन और किया गया था, जिसके अनुसार जागीर-रदारों को कुछ रकम इसलिये सरकारी खजाने में देनी पड़ती थी, कि यह रकम शाही अस्तबल में रक्खे जाने वाले जानवरों पर खर्च की जाती थी। औरंगजेब के शासन काल में यह प्रथा एक बोझ की तरह जागीरदारों के सिर पर आ पड़ी थी, क्योंकि जागीरदारों की आय निरन्तर ही घटती जा रही थी। ऐसी दशा में ऐसी भी सम्भावना थी कि केवल अस्तबल की मांग ही जागीरदारों की समूची आय से अधिक हो जाय। शाह आलम के समय में इस बोझ को अवश्य ही इस प्रकार हल्का कर दिया गया कि जागीरदारों को शिकायत का अवसर नहीं रह गया। एक दूसरा प्रयोगात्मक परिवर्तन इन दिनों यह दिखाई पड़ा कि लेखा-निरीक्षण की प्रथा बन्द हो गई थी। सत्रहवीं शताब्दी में दीवानों को यह आदेश था कि वे इस बात की सतर्कता रक्खें कि जागीरदार लोगों को जितनी रकम मिलनी चाहिये, कहीं वह इससे अधिक अपने पास न रख लें और यदि वे लोग खेतिहरों से कुछ अधिक वसूल कर लें तो दीवान को चाहिये कि वह उस अतिरिक्त वसूली को सरकारी खजाने में जमा कर लें। इसके विपरीत एक अन्य प्रकार की परम्परा भी चल गयी थी कि यदि किसी दैवी आपत्ति के कारण जागीरदार की आय निर्धारित रकम से कम हो जाय तो जितनी कमी होती थी वह जागीरदार को सरकारी खजाने से मिल जाया करती थी। नियम इस प्रकार का अवश्य रक्खा गया था कि जागीरदार लोग यदाकदा इस प्रकार के दावे भी पेश करते थे, मगर लेखा निरीक्षकों की शक्ति के सामने ऐसे दावों का स्वीकार होना प्रायः असम्भव सा ही होता था। इस प्रकार सत्रहवीं शताब्दी की जागीरदारी नाना प्रकार की उलझनों का अखाड़ा बनी हुई थी। इस प्रकार की उलझनों को सुलझाने के लिये जागीरदारों के लिये यह आवश्यक था कि या तो वे अतिकुशल प्रतिनिधि नियुक्त करे या घूस देने का सहारा लें। बिना इस प्रकार काम किये उसे अपनी सम्पूर्ण वसूली का लाभ नहीं मिल सकता था। औरंगजेब के शासन काल तक आते-आते इस प्रकार की लेखा निरीक्षण कार्यवाही

का खात्मा हो चुका था और इसलिये खाफी खाँ * की पुस्तक में इस सम्बन्ध की बातें नहीं लिखी गयीं।

जागीरदारी व्यवस्था के पतन का कारण खोजने के लिये हमें प्रशासकीय परिवर्तनों पर नहीं विचार करना चाहिये। इन कारणों की खोज के लिये तत्कालीन परिस्थितियों पर विचार करना होगा जिनके कारण खेती की उपज कम हो रही थी तथा शासन की केन्द्रीय शक्ति दिनों दिन घटती जा रही थी। किसानों की यह स्थिति कि वह सदैव इसी ताक में रहते थे कि कब किसी दूसरे अधिक सुविधापूर्ण पेशे में जाने का अवसर मिले और कब वे खेती को छोड़छाड़ कर उस पेशे को अपना लें। इनकी इस प्रवृत्ति का वर्णन हम पिछले विभाग में कर चुके हैं। यह प्रवृत्ति दिनों दिन बढ़ती ही जा रही थी। ज्यों ज्यों किसानों की संख्या घटती जाती थी, त्यों त्यों कृषि की उपज तथा जोत का क्षेत्रफल घटता जा रहा था। जागीरदारों की आय भूमि की उपज या नाप की समानुपाती होती थी, अतः उनकी आय भी निरन्तर घटती ही जा रही थी। अब अपनी इस घटी हुई आय की पूर्ति बेचारा जागीरदार कैसे करे। यदि वह बादशाह की खिदमत में अपनी हानिपूर्ति की प्रार्थना करता तो उसे या तो एक अच्छे प्रतिनिधि की आवश्यकता पड़ती थी या फिर अपनी मांग की स्वीकृति पाने के लिये लेखानिरीक्षक को करारी रिश्वत देनी पड़ती थी। ये दोनों ही रास्ते व्यय-साध्य थे और धन की कमी ने ही तो उसे दावा पेश करने पर विवश किया था। ऐसी दशा में वह कोई ऐसा रास्ता खोजता था जिसके द्वारा सांप भी मर जाय और लाठी भी न टूटे अर्थात् धन भी मिल जाय और धन भी खर्च न करना पड़े। ऐसा रास्ता उनके सौभाग्य (परन्तु वास्तव में दुर्भाग्य) से तथा खेतिहरों के दुर्भाग्य से एक ही था कि गरीब किसानों को जितना भी हो सके चूसा जाय। कहने की आवश्यकता नहीं कि जागीरदार बिना किसी हिचक के इसी रास्ते पर आँख मूँद कर चलते थे। परिणाम-स्वरूप किसानों के भाग जाने, खेतों की उपज और भी कम होने तथा जगीर-दार की आय और भी कम होने का दूसरा दौर शुरू होता था। जागीरों के स्वामित्व को कोई निश्चित अवधि न होने से भी खेतिहरों पर होने वाले शोषण की वृद्धि ही

* इस विषय को समझने के लिये देखिये तुजक २९, १८६, १६० तथा ३६६, सालिह ३१६ साकी २३४ खाफी खाँ भाग १ पृ० ७५२ भाग २ पृ० ८७, ३६७। साकी ने पृष्ठ १७० पर लिखा है कि शायस्ता खाँ जब बंगाल में शाही प्रतिनिधि था, तो उसने एक करोड़ बत्तीस लाख रुपया अधिक वसूल कर लिया था। बाद में उससे यह रुपया वसूल कर लिया गया।

होती थी। ऐसी स्थिति में इस व्यवस्था का पतन होना ही स्वाभाविक था। इसके अतिरिक्त अब जागीरदारों को यह भी भय बना रहने लगा था कि वे अपने लिये निश्चित की गयी जागीर का बँचा खुँचा भाग भी सँभाल पावेंगे या नहीं। इस प्रकार की परिस्थितियां तो उत्तरी भारत में थीं।

यही स्थिति दक्षिण की भी थी, परन्तु उसका कारण भिन्न था। उत्तरी भारत की कृषि अत्यधिक प्रशासकीय दबाव से बर्बाद हो रही थी, परन्तु दक्षिणी भारत में मरहठों के उपद्रव ने कृषि व्यवस्था को नष्ट भ्रष्ट कर दिया था और कर रहा था। दक्षिण में अपनी सत्ता बनाये रखने के लिये औरङ्गजेब ने जो प्रयत्न किये, उनका विस्तृत वर्णन पाठक और कहीं पढ़ लें, परन्तु यहाँ भी इतना कहे बिना काम नहीं चलेगा कि मरहठा जाति अपने राज्य को तो बढ़ाने में तत्पर थी ही, साथ ही वह अन्य प्रदेशों से भी चौथ व सरदेश मुखी वसूल करने का दावा तथा प्रयत्न करती थी। खाफी खाँ के वर्णन के अनुसार मरहठे सिद्धान्ततः उपज की चौथाई का ही दावा करते थे परन्तु वसूली में आधा तक वसूल कर ले जाते थे। लाठी उनके हाथ में होती थी, फिर भैंस। वास्तविक मालिक कहे भी क्या और करे भी क्या। यदि उन लोगों ने बड़ी कृपा की तो उपज के तीन भाग कर दिये। एक भाग स्वयम् ले लिया, एक भाग खेतिहर को दे दिया तथा एक भाग बेचारे जागीरदार को दे दिया। ऐसी स्थिति में जागीरदार बेचारे की न तो आय ही सुरक्षित होती थी और न प्रतिष्ठा ही। स्मरणीय है कि तिहाई की बाँट वहीं स्वीकार की जाती थी, जहाँ कोई गाँव उजड़ जाने के बाद फिर से बसता जाता था। मरहठों के भी चकलादार लोग गांव गांव में लगान वसूल करते फिरते थे। वे सबलों के कर्मचारी थे और यदि वे जागीरदार का अंश भी वसूल कर ले जाते तो बेचारा जागीरदार क्या कर लेता। अशान्ति एवम् अव्यवस्था के उस युग में सम्पूर्ण वसूली कर लेना मरहठों के लिये असम्भव नहीं था, क्योंकि वे सशक्त तथा निरंकुश थे। ऐसी दशा में कर्मचारियों की तो यही इच्छा रहती होगी कि उन्हें जागीरदारी से छुट्टी मिल जाय तथा वे नकद वेतन पाया करें, यद्यपि वे जानते थे कि खजाना खाली है। मरहठों की सत्ता जहाँ स्थापित हो चुकी थी वहाँ जागीर पाने का कोई अर्थ भी तो नहीं होता था। वे जानते थे कि वेतन भी पूरा का पूरा नहीं मिल सकता था, फिर भी वे जागीरों को इसलिये नापसन्द करते थे कि जागीर की आमदनी से उनके वेतन का चौथाई भी नहीं वसूल होता था।

यदि हम इसी समय के उत्तरी भारत की दशा का ज्ञान प्राप्त करना चाहें त अपूर्ण सूचनायें ही हमारे पल्ले पड़ेगी, क्योंकि सन् १६८२ के बाद उत्तरी भारत में क्या हो रहा था, इस विषय पर प्रायः सारे इतिहासकार मौन हैं। इसी साल में औरंग-

जेब ने दक्षिण की ओर पयान किया था। इस समय के विषय में इतना ही कहा जा सकता है कि शासन का नियंत्रण उत्तरोत्तर ढीला पड़ता जा रहा था। कर्मचारियों की अनुशासन हीनता बढ़ती जा रही थी। सशक्त व्यक्ति स्वतंत्रता का रुख अपनाते जा रहे थे। उस समय उत्तरी भारत में क्या हो रहा था, इसके विषय में खाफी खाँ ने एक कहानी अपनी पुस्तक में दी है। सन् १७१९ के पहले के कुछ वर्षों से ही हुसेन खाँ नामक सरदार बागी हो गया था तथा लाहौर के समीपस्थ कुछ परगनों पर अधिकार जमा लिया था। सल्तनत के कर्मचारियों तथा जागीरदारों को उसने निकाल बाहर कर दिया था। प्रान्तीय सूबेदार की सेना को वह एकाधिक बार परास्त कर चुका था। इस प्रकार कुछ दिनों से वह एकदम स्वतंत्र बन बैठा था। स्थान स्थान पर शाही कर्मचारियों के बदले उसके निजी कर्मचारी काम कर रहे थे। लाहौर के सूबेदार ने उसे मार कर विद्रोह का दमन किया। थोड़ा और दक्षिण चलने पर आगरा के निकटस्थ प्रदेश में जाट जाति के लोगों ने भी सर उठाया था और इसका अन्तिम परिणाम यह हुआ कि जाटों की एक नयी रियासत ही भरतपुर * रियासत के नाम से कायम हो गयी। अवध में चालू रहने वाली परम्पराओं के अध्ययन करने से उस समय के शासन के बारे में यही अनुमान लगाया जा सकता है कि उस समय राजा, अमीर, सरदार, जागीरदार सब के सब उत्तेजित थे, उनके ऊपर से शाही नियंत्रण ढीला पड़ गया था तथा उनमें से प्रत्येक की यही इच्छा थी कि वह कुछ ऐसा प्रबन्ध कर ले कि शासन के पतन हो जाने पर भी उसकी जीविका तथा प्रतिष्ठा सुरक्षित रहे। इन दोनों की सुरक्षा के लिये उसके पास स्वयम् की शक्ति इतनी होनी चाहिये थी कि वह अवसर पड़ने पर दूसरों से अपनी रक्षा कर सके। सभी की इस आन्तरिक इच्छा के कारण आपसी संघर्ष अनिवार्य था। इसलिये लाहौर तथा भरतपुर में घटित होने वाली घटनायें सामान्य ही प्रतीत होती है न कि अपवाद स्वरूप। किसी भी जागीरदार को अब शाही शक्ति पर न तो विश्वास रह गया था और न भरोसा। शाही नियंत्रण और भी द्रुतगति से ढीला पड़ने लगा था। सत्रहवीं शताब्दी के अन्त के वर्षों में सभी सरदार व जागीरदार यह समझने लग गये थे कि अपने भूभाग की लगान वे भले ही

---

* खाफी खाँ के अनुसार जाटों की दमन करने के लिये दक्षिण से खान जहाँ को भेजा गया परन्तु जाटों का पूर्ण दमन नहीं हो सका। इम्पीरियल गजेटियर से पता चलता है कि १६६० ई० में इस राज्य में और भी परेशानियाँ बढ़ी और तभी इसकी स्थापना हुई।

वसूल कर लें परन्तु किसी भी समय इस लगान का कोई भी ऐसा दावेदार खड़ा हो जा सकता है या बाहर से आ सकता है, जिसके सामने या तो युद्ध की तैयारी करके या देश की सारी लगान दे देने की तैयारी करके ही जाया जा सकता था। यदि वह युद्ध की ही तैयारी की तो बादशाह से कोई सहायता मिलने की आशा आकाश कुसुम ही थी, फलस्वरूप उसे युद्ध का भी सारा खर्च अपने पास से ही देना पड़ता था। दशा ऐसी थी कि वे शौकिया शक्ति संग्रह नहीं करते थे बल्कि विवश होकर।

ऐसी परिस्थिति में अठारहवीं शताब्दी का प्रारम्भ हुआ था। उस समय न्याय पर आधारित अधिकार की कोई गणना ही नहीं थी। चारों ओर शक्ति द्वारा प्राप्त अधिकार ही वास्तविक अधिकार समझा जाने लगा था। अठारहवीं शताब्दी में एक और बात यह देखने में आती है कि किसान तथा बादशाह के बीच की कड़ी को जोड़ने वाले जितने भी मध्यस्थ (राजा, राव, सरदार, सीरदार, जागीरदार) थे वे सब अब धीरे-धीरे ताल्लुकेदारों की श्रेणी में बदलते जा रहे थे। तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाय तो इस समय समूचे मुगल साम्राज्य में वही स्थिति व्याप्त थी, जो फीरोज तुगलक की मृत्यु के पश्चात् दिल्ली साम्राज्य की हो गयी थी। मध्यस्थों की सभी श्रेणियाँ मिल-जुल गयीं थीं, तथा वे एक नई श्रेणी का निर्माण कर रहे थे जिसे आगे चल कर ताल्लुकेदार कहने लगे। जिन दिनों बादशाहनामा लिखा जा रहा था, उन दिनों इस नये शब्द का वजूद भी नहीं था। यह न तो कोई पद ही था और न कोई राजकीय विभाजन ही। आज भी विभिन्न सूबों में 'ताल्लुका' तथा 'ताल्लुकेदार' शब्द विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त होते हैं। मआसिरे आलमगीरी नामक इतिहास ग्रंथ सन् १७१० ई० में समाप्त हुआ। उससे प्रतीत होता है कि उस समय तक यह शब्द (ताल्लुका) राजकीय विभाजन के उस रूप के लिये व्यवहृत होने लगा था, जिन्हें पिछले पृष्ठों में 'चकला' कहा गया है, और ये नये ताल्लुकेदार नये चकलादार ही थे, परन्तु ये शाही कर्मचारी न होकर ठेकेदार की तरह ही अधिक होते थे। खाफी खाँ ने इस शब्द को उसी अर्थ में प्रयुक्त किया है जिस अर्थ के लिये हम उसे ब्रिटिश शासन में प्रारम्भिक वर्षों में प्रयोग में पाते हैं। उत्तरी भारत में कम से कम यह शब्द इसी अर्थ में प्रयोग में आता था। ताल्लुका शब्द से एक सुनिश्चित भूभाग का अर्थ लिया जाता है, जिसकी लगान की वसूली किसी ऐसे व्यक्ति के हाथ में हो जो बादशाह का नौकर न होकर ठेकेदार की तरह हो। इसी व्यक्ति को ताल्लुकेदार कहते थे। वह व्यक्ति

कोई कर्मचारी सरदार जागीरदार या कोई विदेशी शक्ति या व्यक्ति भी हो सकता था।* इस पद के लिये अधिकार (कब्जा) ही पर्याप्त समझा जाता था। अगले अध्याय में हम देखेंगे कि जब ब्रिटिश कर्मचारियों के हाथ में उत्तरी भारत का शासन प्रबन्ध आया तो इस ताल्लुकेदारी व्यवस्था के क्या परिणाम निकले, तथा किस प्रकार सभी प्रकार के ताल्लुकों के मालिकों को एक विशेष प्रकार के स्वामित्व की मान्यता दी गयी तथा उनमें कोई भेदभाव नहीं बरता गया। यहाँ तो इतना ही कह देना पर्याप्त है कि औरङ्गजेब के बाद शासन में जो ढीलापन एवम् अनुशासन हीनता व्याप्त हुई, उसी के परिणाम स्वरूप तालुकेदारी की व्यवस्था भी स्वयमेव प्रचलित हो गयी, स्वयमेव का यहाँ यही अर्थ समझना चाहिये कि यह व्यवस्था किसी के चलाने से नहीं प्रचलित हुई, बल्कि यह व्यवस्था उस समय की देन है जिसमें भैंस सदा लाठी वाले की ही हो जाया करती थी।

जहाँ तक इन ताल्लुकों के मालिकों का प्रश्न है, हम देख चुके हैं कि सत्रहवीं शताब्दी के मध्यकाल में जागीरदारों की स्थिति एकदम निर्बल हो चुकी थी, उनकी प्रधानता समाप्त हो चुकी थी। दूसरे प्रकार के मध्यस्थ प्रधानता प्राप्त कर रहे थे। सल्तनत की केन्द्रीय शक्ति जिस मात्रा में कम हो रही थी, सरदारों एवम् सामन्तों की शक्ति उसी मात्रा में बढ़ती जा रही थी। इस समय तक आते-आते कितने ही मुसलमान लोग भी उसी प्रकार की स्थिति में आ गये थे जिस स्थिति में यहाँ के प्राचीन हिन्दू राजे या रईस थे। सशक्त सूबेदार लोग अपने भूभाग में स्वतन्त्र बादशाह बन बैठे थे। अवध रुहेलखंड तथा फरुक्खाबाद में वहाँ के शाही कर्मचारियों ने उसी प्रकार की स्थिति ग्रहण कर ली थी, जैसी स्थिति राजपूताने के राजाओं की थी। छोटे-छोटे कर्मचारियों ने भी स्थान-स्थान पर छोटी-छोटी स्वतन्त्र रियासतें कायम कर ली थीं, जिनके लिये न तो वे किसी को लगान ही देते थे और न खिराज ही। शासन की अव्यवस्था से ग्रामीण-व्यवस्था पर भी पर्याप्त प्रभाव पड़ा। छोटे किसान तो ज्यों के त्यों ही खाते-कमाते रहे, परन्तु बड़े किसानों, मुकद्दमों एवम् चौधरियों की शक्ति भी पहले से कई गुना बढ़ गयी। भूमि पर उनके स्वामित्व की अवधि बढ़ती जा रही थी। कोई टोंकने वाला था नहीं। इन दिनों एक नई प्रणाली भी सामने आयी।

---

* अपनी पुस्तक के प्रथम भाग में खाफी खाँ ने ताल्लुका का अर्थ जागीर के रूप में माना है। जोधपुर का ताल्लुका सरदार के जिम्मे था, झाझा का ताल्लुका कर्मचारी के हाथ में था। पुर्तगाल जाति के हाथ में भी एक ताल्लुका था।

समय दुर्व्यवस्था एवम् अनुशासन हीनता का था। किसी को भी यह पक्का विश्वास तो रहता नहीं था कि कोई भूभाग उसके अधिकार में कब तक रहेगा। इस अस्थिरता के कारण लगान वसूली करने वालों की यह इच्छा स्वाभाविक ही थी कि जितनी कम अवधि में सम्भव हो सके, उन्हें लगान मिल जाय। अतः बड़े लोगों ने एक तरीका यह निकाला कि वे अपने अधीनस्थ भूभाग को लम्बे समय के लिये पट्टे पर उठाकर उसकी लगान अग्रिम * रूप से वसूल कर लिया करते थे। खेत चाहे जैसे बोये जायँ या नहीं, उपज चाहे कम हो या अधिक इससे उनको कोई मतलब नहीं रहता था। वे सारी की सारी लगान अगला रूप में ही ले लेते थे। ये पट्टे अवश्य ही उसी व्यक्ति को दिये जाते होंगे जो अधिकतम लगान देने के लिये प्रस्तुत होते होंगे। संक्षेप में औरङ्गजेब की मृत्यु के बाद की स्थिति का यदि वर्णन करना चाहें तो हमें कहना पड़ेगा कि इस समय में छोटे बड़े सभी लोगों में भूमि या भूमि खंडों पर अधिकार जमा लेने की प्रबल प्रतिद्वन्दिता चल पड़ी थी। यह सही है कि लगान वसूल करने का हक अब भी बादशाह द्वारा ही दिया जाता था, परन्तु बादशाह जिसे चाहता थः, उसे ही लगान वसूली का अधिकार नहीं दे पाता था। उसके पास जो भी व्यक्ति पहुँच कर यह विश्वास दिला देता था कि अमुक भूभाग निश्चित रूप से उसके अधिकार में है और वह इस भूभाग की लगान सफलता पूर्वक वसूल कर सकता है, उसी को वह उस भूभाग की लगान वसूल करने का अधिकार दे देता था। ऐसी दशा में कृषि की उन्नति सम्भव ही कैसे हो सकती थी। जहाँ लगान वसूल करने का अधिकार न्याय पर आधारित न होकर शक्ति पर आधारित था, वहाँ किसानों के प्रति न्याय की आशा ही कैसे की जा सकती थी। ये लगान वसूल करने वाले भी लम्बे समय तक का पट्टा उच्चतम लगान पर देकर अगला वसूली करते थे। अतएव यह सोचना भारी भ्रम होगा कि कम उपज होने पर या न होने पर किसानों को कोई छूट मिलनी सम्भव थी। इस प्रकार की व्यवस्था का जो दुष्परिणाम सम्भव था वही हो रहा था। जिस

---

* खाफी खाँ के अनुसार, फर्रुखसियर के शासन काल में "सुरक्षित प्रदेशों की भूमि को पट्टे पर उठा कर तथा उनसे अग्रिम लगान वसूल करके लाखों रुपये की आमदनी होती थी।" आगे चल कर यह अवश्य सोचा जाने लगा था कि यह व्यवस्था साम्राज्य के लिये हितकर नहीं है, परन्तु इस व्यवस्था को किसी भी प्रकार खत्म नहीं किया जा सका।

समय उत्तरी भारत में ब्रिटिश-शासन प्रारम्भ हुआ, उस समय तक यह सारा प्रदेश इसी असह्य व्यवस्था के भार से दबा जा रहा था।

जागीरदारी व्यवस्था का वर्णन समाप्त करने के पहले सत्रहवीं शताब्दी में प्रचलित मूल्यांकन प्रणाली पर भी कुछ शब्द कहना आवश्यक प्रतीत होता है। उस समय के इतिहास में इस सम्बन्ध में इतना ही पता चलता है कि जहाँगीर ने बंगाल के मूल्यांकन की जाँच करने तथा उसमें आवश्यक परिवर्तन करने का सुझाव देने के लिये एक दीवान की नियुक्ति की थी। इसके परिणाम का कोई पता नहीं लगता, कि जाँच में क्या पता चला तथा कुछ परिवर्तन किये भी गये या नहीं। आगे के अध्याय संख्या सात को पढ़ने से यह बात पाठकों की भी समझ में भी आ जायगी कि अवश्य ही बंगाल के मूल्यांकन में कुछ न कुछ परिवर्तन किये गये थे। कितने ही वर्णन ऐसे मिलते हैं, जिनसे यह सिद्ध हो जाता है कि सत्रहवीं शताब्दी के मध्यकाल तक देश में मूल्यांकन की एक सामान्य प्रणाली प्रचलित हो गयी थी। इन वर्णनों को मैंने परिशिष्ट अ में दे दिया है, तथा इनमें एक प्रदेश की वास्तविक आय की तुलना मूल्यांकन से निकाली गयी आय से की गयी है। अगली शताब्दी की सांख्यिकी * के कुछ आंकड़ों से ऐसा प्रतीत होता है कि औरङ्गजेब के शासन काल में प्रचलित मूल्यांकन प्रणाली के प्रयोग में अवश्य कुछ परिवर्तन किये गये थे; क्योंकि औरङ्गजेब कालीन सांख्यिकी स्तम्भों में दी गयी है, जब कि इसके पूर्व की सांख्यिकी केवल दो स्तम्भों में ही दी गयी है। प्रथम स्तम्भ का शीर्षक है जमयेदारी, और इसका अर्थ होता है औपचारिक मूल्यांकन, तीसरा स्तम्भ है, हासिले सम्बत, जिसका अर्थ हुआ चालू वर्ष की आय, परन्तु परन्तु दूसरे स्तम्भ का शीर्षक है हासिले-कामिल, जिसका तात्पर्य किसी भी सरकारी प्रलेख में समझाया नहीं गया है। इसका तात्पर्य समझ पाना मेरे लिये भी कठिन है। इसका शाब्दिक अर्थ तो होता है सम्पूर्ण आमदनी, परन्तु इसका हिसाब जिस प्रकार लगाया गया है, उससे यह अर्थ ठीक नहीं बैठता। अतः इस शब्द को पूर्णतः समझाना कठिन है।

मेरा स्वयम् का ऐसा अनुमान है कि सम्पूर्ण आय (हासिले कामिल) से शायद उस आय से मतलब है जो किसी भी प्रान्त से साल भर में होती हो। इस

---

* देखिये अकबरनामा भाग ३ पृ० ४५७ तथा बादशाह नामा भाग १, विभाग २, पृ० २८७।

शताब्दी में जब कभी भी ऐसा होता था कि मूल्यांकन के हिसाब से लगायी गयी आमदनी तथा वास्तविक आमदनी में अत्यधिक अन्तर पड़ने लगता था, तो महकमा लगान बजाय इसके कि कष्टपूर्ण गणना करने के नया मूल्यांकन स्तर प्राप्त करने का प्रयत्न करे, पिछले किसी साल की आमदनी कोमूल्यांकन का स्तर मान कर काम चला लेते थे। इस प्रकार की प्रणाली अकबर के समय में भी प्रचलित थी। किसी कारण से शायद पहले मूल्यांकन को भी स्थान देना पड़ता था। इस प्रकार औरङ्गजेब के समय में तीन स्तम्भ होने लगे थे, एक स्तम्भ में प्राचीन मूल्यांकन, एक में नवीन मूल्यांकन तथा एक में वास्तविक आय रहती थी। अकबर के समय में किसी एक वर्ष को (सालेकामिल) स्तर मानकर मूल्यांकन का काम चलाया जाता था। अतः यही सोचना सही मालूम होता है कि जागीरदारी प्रथा के समाप्त होने तक इसी प्रकार के मूल्यांकन से काम चलता रहा।

छठा अध्याय

उत्तरी भारत की अन्तिम स्थिति

परिचय

भारत की मुस्लिम कालीन ग्रामीण-व्यवस्था का अध्ययन प्रारम्भ करने के लिये हमें यह आवश्यकता समझ में आ गयी थी कि हिन्दू कालीन ग्रामीण-व्यवस्था के अध्ययन से प्रारम्भ करें। हमने इसी लिये अपना यह निबन्ध हिन्दू-धर्म-शास्त्रों से प्रारम्भ किया था। अब हम अपने निबन्ध के उस भाग में पहुँच चुके हैं, जहाँ हमें उसके अन्तिम भाग को लेखबद्ध करना है। जिस प्रकार हमें हिन्दू-धर्म-शास्त्रों के अध्ययन से प्रारम्भ करना पड़ा था, उसी प्रकार मुस्लिम कालीन ग्रामीण-व्यवस्था की अन्तिम स्थिति को स्पष्टतया हृदयंगम करने के लिये यही उचित जान पड़ता है कि हम उस शासन के प्रारम्भिक वर्षों को सम्यक् अध्ययन कर लें, जो मुस्लिम शासन के ठीक बाद चालू हुआ। इस विषय के अध्ययन के लिये सर्वाधिक उचित प्रदेश वही होगा, जिसे उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में 'मिलाया गया राज्य' या 'जीता गया राज्य' कहा जाता था और जिसमें बनारस का भूभाग भी शामिल था। उन्नीसवीं शताब्दी के विप्लवोत्तर (१८५७ के बाद का समय) काल के नाम करण के अनुसार उसे संयुक्त प्रदेश कहते थे, परन्तु तब इसमें न तो अवध और कुमाऊँ शामिल थे और न रुहेलखंड*

---

* बनारस प्रान्त की लगान का इतिहास उस समय से प्रारम्भ होता हैं, जब सन् १७८७ ई० में मिस्टर डंकन इस प्रदेश का रेजिडेंट नियुक्त किया गया। उसे लगान के बन्दोबस्त का काम दिया गया था। उसके द्वारा किये गये कामों को वही कानूनी शक्ति प्रदान की गयी थी जो 'बंगाल रेगुलेशन द्वितीय सन् १७९५' से विदित था। 'मिलाये गये प्रदेश' सन् १८०१ में बने। इसके तीन ओर अवध प्रदेश की सीमायें थीं। इसका पूर्वी भाग गोरखपुर था, पश्चिमी भाग रुहेलखंड था, तथा दक्षिणी भाग दोआब दक्षिणी था। एक साल बाद इसमें रुहेलखड मिला दिया गया। 'जीते गये प्रदेश' में शेष दोआब तथा जमुना के पश्चिम का थोड़ा-सा भाग था। बुन्देलखंड के कुछ भाग भी इसी साल में मिलाये गये थे।

के भाग ही। उस समय के तथा उस प्रदेश के जो भी रिकार्ड्स आज प्राप्त है, उन्हीं से हम जो कुछ भी ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, उसी को यथेष्ठ मान कर सन्तोष करना पड़ेगा। कठिनाई यह है कि वे प्रलेख भी न तो पूर्ण हैं और न क्रमबद्ध ही। अतएव उन प्रलेखों का मन्तव्य स्पष्ट करने लिये बीच-बीच में कुछ कहते रहना भी आवश्यक होगा।

प्रारम्भ में जो भी अंगरेज शासक यहाँ आये, वे इस प्रदेश की स्थानीय स्थितियों से परिचित न थे। उपरोक्त प्रदेश में आने के पहले ब्रिटिश शासकों ने भारतीय परिस्थितियों का जो भी ज्ञान अर्जित किया था, वह बंगाल तथा बिहार के विषय में था। इसी ज्ञान व अनुभव को लेकर वे बनारस के आसपास के प्रदेशों पर शासन करने आये थे। उनको बंगाल तथा बिहार में जो कुछ भी अनुभव प्राप्त हुआ था, उनको आधार मान कर चलना ठीक नहीं था। बंगाल का शासन उन लोगों ने लगान वसूली मात्र से प्रारम्भ किया था, अतः यह धारणा बना लेना उनके लिये स्वाभाविक ही था कि 'शासन का सर्वप्रथम लक्ष्य है, लगान वसूल कर लेना।' बंगाल की दीवानी (मालगुजारी वसूल करने का अधिकार) प्राप्त करने के बाद ईस्ट इंडिया कम्पनी के कर्मचारियों को सर्वप्रथम यह जरूरत महसूस हुई कि उन लोगों से सम्पर्क स्थापित किया जाय, जो भूमि के स्वामी हों। कम्पनी ने अपने कर्मचारियों को यही आदेश दिया था, कि भूमि के स्वामियों से सम्पर्क स्थापित करने के बाद वे लगान निर्धारण तथा वसूली उसी व्यवस्था के अनुसार करें, जो उस समय बंगाल में प्रचलित हो। कठिनाई यह थी कि उस समय इस प्रश्न का सटीक उत्तर देना असम्भव मालूम पड़ रहा था, कि भूमि का स्वामी कौन है। जिस अर्थ में आजकल 'भूस्वामित्व' शब्द प्रयोग में आता है, उस अर्थ में तो उस समय का कोई भी व्यक्ति किसी भी भूमि का स्वामी नहीं हो सकता था। उस समय भूमि से सम्बन्धित कितने ही दल थे और उन सब के अधिकारों को यदि मिला कर देखा जाय तभी हम वर्तमान अर्थ के कुछ निकट पहुँच पाते हैं। दूसरी बात यह थी कि मुगल-साम्राज्य के छिन्न-भिन्न हो जाने पर देश में घोर दुर्व्यवस्था व्याप्त हो गयी थी जिसमें 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाली कहावत चरितार्थ हो रही थी। कम्पनी के कर्मचारियों को जब परिस्थिति का ज्ञान हुआ तो उन्होंने भूमिपतियों को खोजने का कष्ट किया, बल्कि उन सभी लोगों के अधिकारों, स्वार्थों एवम् सुविधाओं पर ध्यान केन्द्रित करने का विचार किया, जो किसी न किसी प्रकार भूमि की उपज से जीवन-यापन करते थे। परन्तु जब तक इस विचार को कार्यान्वित किया जाता, तब तक कितने ही गलत दावों को मान्यता मिल गयी थी तथा कितने ही सही दावे खत्म कर दिये गये थे। ऐसी दशा में जब लोगों के

अधिकारों का प्रथम रिकार्ड बनाया गया तो देश एकदम से उसी स्थिति में नहीं रह गया था, जिसमें वह मुगल साम्राज्य के अन्तिम समय में था।

पिछले अध्याय में हम देख चुके हैं कि जागीरदारों की स्थिति वैसी प्रधानता पूर्ण नहीं रह गयी थी, जैसी सत्रहवीं शताब्दी के मध्यकाल में थी। मध्यस्थों की स्थिति का वर्णन भी उसी अध्याय में किया जा चुका है। उसी प्रसंग में यह दिखलाया जा चुका है कि मध्यस्थों के विभिन्न वर्ग अन्ततोगत्वा एक ही वर्ग में समाहित हो गए थे। भूमि के पट्टे लम्बी अवधि के लिए दिये जाने लगे एवम् इस प्रकार पैत्रिक उत्तराधिकार को मान्यता मिलने लग गयी थी। वाह्य रूप से देखने में सरदारों एवम् पट्टेदार किसानों की स्थिति एक सी मालूम होती है, यदि पट्टेदार किसान का पट्टा इतनी लम्बी अवधि के लिये हो कि उतने में ही पैत्रिकता का भी समावेश हो सके। ये दोनों ही वर्ग अपना प्रभाव व प्रभाव क्षेत्र बढ़ाने में हमेशा तत्पर रहते थे। इस तत्परता में वे अच्छे बुरे साधनों का विवेक किये बिना ही कार्य करते थे। वे ऐसे गाँव के लोगों पर भी अपनी सत्ता स्थापित कर लेने की चेष्टा करते थे, जिनकी एक मात्र इच्छा यही थी कि वे लगान का अंश किसी भी ऐसे व्यक्ति को दें, जो वाह्य एवम् आन्तरिक आपत्तियों से उन्हें सुरक्षा प्रदान करता रहे। जब बृटिश कर्मचारियों ने भूमि के स्वामियों की तलाश प्रारम्भ किता तो इन मध्यस्थों ने ही अपने को स्वामियों के रूप में उपस्थित किया। इन लोगों में दो प्रकार के विचार रखने वाले लोग थे। पहले प्रकार के लोगों ने सोचा कि बृटिश शासन उनको कुछ अधिक स्थायी स्वामित्व प्रदान करेगा। दूसरे प्रकार के विचार रखने वालों में वे लोग थे जो महाराज बनने का स्वप्न देख रहे थे, किन्तु जब उन्होंने देखा कि उनकी महत्वाकांक्षा की सिद्धि असम्भव है तो उन्होंने ने भी भूमि के स्वामी के रूप में बृटिश शासकों के समक्ष अपने को उपस्थित कर दिया। इस प्रकार वही लोग फिर आगे आये जो शाही समय में या उसके बाद भी खेतिहरों का शोषण करने के लिए कुख्यात थे। जो असल में खेत को जोतने बोने वाले थे, जिनको वास्तव में भू-स्वामित्व का अधिकार था, न तो वे सामने ही आये और न कम्पनी के कर्मचारियों ने उनको खोजने का प्रयत्न ही किया। बात यह थी कि कम्पनी ने भी देश का शोषण करके धनी होने के लिये राज्य का काम हाथ में लिया था कि देश के लोगों में न्याय वितरित करने के लिये उन्हें अधिक से अधिक लगान से मतलब था, न कि इस बात से कि लगान देने वाला व्यक्ति कौन है, तथा वह किस प्रकार यह रुपया अदा कर रहा है।

वास्तविक खेतिहर बेचारे एक तो सामने आये ही नहीं और जब देर सबेर उन्होंने अपना दावा भी पेश किया तो उनके सामने दो कठिनाइयाँ आयीं। प्रथम तो

वे बेचारे हर प्रकार के नियम इत्यादि से अनभिज्ञ थे, और दूसरे लम्बी अवधि के पट्टे लेने से वे दो कारणों से भयभीत थे। एक तो उनसे लगान सिक्कों के रूप में मांगी जा रही थी जो उस समय के ऊँचे स्तर पर निर्धारित की गयी थी, दूसरे उस पट्टे में दैवी आपत्तियों के कारण समय समय पर खेतिहरों को जो छूट मिल जाया करती थी, उसकी भी गुंजाइश नहीं रक्खी गयी थी। मध्यस्थों ने तो पट्टों को इसलिए स्वीकार कर लिया था कि उन्हें अपने घर से तो लगान देना नहीं था, वे तो खेतिहरों को चूस चूस कर लगान दे देते थे, परन्तु खेतिहर बेचारा कैसे पट्टा ले, उसे तो अपना खून पसीना एक करने के बाद लगान देना था तथा यदि कभी कोई दैवी आपत्ति आ गई तो खून पसीना बना देने के बाद भी लगान नहीं दी जा सकती थी। जब यह नवीन ढंग प्रयोग में आया तो कितने ही गलत दावे स्वीकार कर लिये गये। बाद में इन नये भू-स्वामियों में से कितने ही निर्धारित लगान देने में असमर्थ हो गये। फलतः उन्हें बेदखल करके उनकी भूमि का नये सिरे से प्रबन्ध किया गया। इस बार बार की बेदखली तथा दुबारा बन्दोबस्त के चक्कर में जिस स्थायित्व की बात को सोचकर कितने ही लोग आगे आये थे, वह हवा हो गया। इन सब बातों का विस्तार से वर्णन करते हुये यदि हम स्थायित्व की स्थिति तक जाना चाहें तो यह समूचा वृत्तान्त हमारे वर्णन क्षेत्र के बाहर हो जायगा। इनका संक्षिप्त वर्णन तो इस लिये आवश्यक था कि पाठकों को स्थिति का पता लग जाय और पाठक यह समझ लें कि मुस्लिम युग के अन्तिम काल की सुस्पष्ट झाँकी दे सकना कितना दुष्कर कार्य है। यदि हम यह समझना चाहें कि किस जिले अथवा परगने में किस प्रकार के स्वामित्व को मान्यता दी गयी थी अथवा किस प्रदेश की कृषि भूमि पर कितना कर भार था तो यह कार्य असम्भव ही होगा।

इसी प्रकार की कठिनाई तब भी सामने आती है, जब हम बृटिश शासन के प्रारम्भिक काल की ग्रामीण-व्यवस्था का वर्णन करना चाहते हैं। इस काल के विषय में पता देने वाले प्रलेख पर्याप्त भ्रमपूर्ण हैं, इसीलिये उनका अनुगमन करके किसी परिणाम पर पहुँचने का प्रयत्न करने वाले छात्रों का गलत परिणाम पर पहुँच जाना सम्भव है। जैसा कि हमेशा होता आया है इस समय के प्रलेखों में भी पारिभाषिक शब्दों का अर्थ निकालना कठिन जान पड़ता है। बृटिश शासन के अति प्रारम्भ काल में ईस्ट इंडिया कम्पनी के जो भी कर्मचारी बनारस प्रान्त की ओर प्रशासन के सिलसिले में आये, वे अपने साथ बंगाल के पारिभाविक शब्द भी ले आये। कठिनाई यह थी कि बंगाल की भी पूरी शब्दावली उन्हें ज्ञात नहीं थी। बनारस में पाई जाने वाली जो वस्तु, व्यवस्था व प्रणाली उन्हें बंगाल की सी दिखाई पड़ी

उसे वे उसी नाम से पुकारने लगे, जिस नाम से वे वहाँ पुकारी जाती थी, परन्तु वाह्य समानता के ही आधार पर नामकरण कर लेने के कारण उनकी कठिनाई और भी बढ़ने लगी। यह कठिनाई अपनी अन्तिम सीमा पर तब पहुँच गयी जब बनारस में उन्हें नई बातें नई चीजें तथा नई प्रणालियाँ सामने दिखाई पड़ने लगी। उन्होंने यह भी देखा कि जिस शब्द को बंगाल वाले एक अर्थ के लिये प्रयोग करते हैं, उसी शब्द को बनारस वाले सर्वथा नये अर्थ में प्रयुक्त करते हैं। प्रायः ऐसा भी होता था कि एक ही भारतीय शब्द को एक अंग्रेज एक प्रकार से बोलता था तो दूसरा अंग्रेज उसका उच्चारण दूसरे ढंग से करता था। इस प्रकार मुंह और कान का सम्बन्ध बढ़ते बढ़ते कितने ही शब्द एकदम बदल जाते थे। यह गड़बड़ी बढ़ते बढ़ते इस सीमा तक जा पहुँची कि सन् १८१९ ई० में भारतीय सरकार के तत्कालीन मंत्री मि० हॉल्ट मेकेन्जी ने लिखा * कि यदि भारत के लिये कभी नियम बनाये जाँय तो सर्वाधिक उचित यही होगा कि प्रचलित पारिभाषिक शब्दों को एक दम से अलग कर के नये शब्द रक्खे जायँ। उसकी राय थी कि पुराने शब्दों को उसी हालत में काम में लाया जब उनका रूप व अर्थ सार्वदेशिक हो। मेकेन्जी की यह बात नहीं मानी गयी, परन्तु यदि उसकी बात मान भी ली गयी होती तो भी पुरानें रिकार्ड्स पर तो उनका कोई प्रभाव पड़ता न। ऐसी दशा में हमारी कठिनाइयां तब भी ऐसी ही होतीं। यदि कोई छात्र इन प्रलेखों में डुबकी लगाकर सत्य को खोजना चाहे तो उसके भ्रमित हो जाने का डर लगा रहेगा। उसे चाहिये कि वह प्रत्येक प्रलेख को आद्योपान्त इस प्रकार पढ़े कि उसकी एक आँख सदैव ही भूत काल पर तथा दूसरी आँख भविष्य पर रहे। उसे लेखक के व्यक्तित्व का भी ध्यान रखना होगा तथा यह भी सर्वदा स्मरण रखना होगा कि लेखक ने अपना अनुभव किस प्रदेश के मध्यम से प्राप्त किया है। पारिभाषिक शब्दों को वह आज जिस अर्थ में प्रयुक्त होने पाता है, उस अर्थ को भुलाये बिना भी वह सही रास्ते पर नहीं चल सकेगा, सही निश्चय तक पहुँचने के लिये उसे

---

* इन शब्दों के अर्थान्तर के कुछ उदाहरण पर्याप्त होंगे। खुद काश्त का अर्थ वास्तव में यह है कि खेतों का स्वामी जिन खेतों को खुद जोते वही खुद काश्त है परन्तु कहीं-कहीं यह शब्द उस अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है जिसमें जिन खेतों पर रह कर किसान खेती करे उसे भी खुद काश्त कहते हैं भले ही वे खेत उसके हों या न हों। इसी प्रकार जमीन्दार शब्द तीन अर्थों में तथा आसामी शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त होता है।

पर्याप्त धीरज रख कर चलना होगा क्योंकि स्वल्प अध्ययन के पश्चात् ही निकाला गया परिणाम अवश्य ही त्रुटिपूर्ण होगा। जैसा हमने पिछले वर्णनों में किया है, ठीक उसी प्रकार आगे के पृष्ठों में भी अर्थ का अनर्थ न हो जाय, इसके लिए यथासाध्य प्रयत्न किया है। मैंने प्रायः वही शब्द प्रयोग के लिये चुना है जिनका सांकेतिक अर्थ कुछ और न होता हो, साथ ही मैंने जिन शब्दों का प्रयोग किया है, उन्हें या तो वहीं या टिप्पणियों में समझा भी दिया है।

ग्राम्य संगठन

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में बनारस प्रदेश के गाँवों में खेती करने वाले खेतिहरों के अतिरिक्त तीन और वर्ग के लोगों के गाँवों में रहने की आशा की जाती थी। प्रथम वर्ग तो उन मजदूरों का था, जिनके पास अपनी की कोई भूमि नहीं होती थी तथा जो मात्र दूसरों के खेतों में काम करके अपनी जीविका कमाते थे। दूसरा वर्ग था गाँव के खितमतगारों का, जो इन्हीं खेतिहरों का अन्य प्रकार के काम (खेती के कार्यों को छोड़कर) करके अपना जीवन बसर करते थे। तीसरा वर्ग उन लोगों का था जो इन तीनों प्रकार के लोगों की उदारता एवम् दान के सहारे जिन्दगी बसर करते थे। आजकल की तरह उस समय भूमिहीन मजदूरों की संख्या अत्यधिक थी और उनका आर्थिक महत्व भी कम न था। चूँकि इन मजदूरों की गणना खेतिहरों में नहीं की जाती, अतः इन लोगों का वर्णन हमारे विषय के अन्तर्गत नहीं आता। इनके बारे में इतना ही कहा जा सकता है कि ये लोग न तो स्वतन्त्र ही थे और न गुलाम ही। उनको कहीं भी आने जाने, बसने की स्वतन्त्रता थी, परन्तु जिनके यहाँ वे बँधी मजदूरी करते थे, उनका बन्धन भी उनके ऊपर रहता था। उस समय के खिदमतगारों का जीवन भी गाँव की उपज से चलता था। नाई, धोबी, कहार, लोहार इत्यादि इसी श्रेणी में आते थे। वे लोग साल भर इन खेतिहरों का काम मुफ्त किया करते थे और फसल के समय बँधा हुआ अनाज हर खेतिहर उनको दे दिया करता था। यह व्यवस्था ही भारत की आदिकालीन व्यवस्था है। खितमतगारों को मिलने वाला यह अनाज निर्धारित होता था या तो परिवार के प्रति सदस्य पर, या खेतिहर के प्रति हल पर या ऐसी ही किसी और बात पर। स्मरण रहे कि भारत की औद्योगिक इकाई अति प्राचीन काल से हल ही रहता आया है। कभी कभी किसान लोग इन खिदमतगारों को नकद रुपये ही उनको खिदमत के बदले में दे देते थे या प्रायः बड़े किसान या जमीन्दार लोग अपने प्रत्येक खितमतगार को कुछ कृषि भूमि ही जागीर रूप में देते थे, जिन्हें वह आपही जोत बो कर उनकी सारी उपज

का स्वयमेव उपभोग करता था। ठीक इसी प्रकार से कुछ खेत तीसरे वर्ग के लोगों को दे दिये जाते थे, जिन्हें उन खेतों की सारी उपज उपभोग करने का अधिकार रहता था। द्वितीय तथा तृतीय वर्ग के लोगों का अपने द्वारा जोते बोये जाने वाले खेतों की लगान भी नहीं देनी पड़ती थी। ब्रिटिश शासन के आरम्भ में प्रत्येक गाँव में इन्हीं तीन वर्ग के लोगों के साथ कृषक वर्ग भी हिल मिल कर अपना जीवन निर्वाह किया करता था।

इस काल में खिदमतगारी के बल पर प्राप्त किया हुआ स्वामित्व तथा दान में प्राप्त की गयी भूमि का स्वामित्व सामान्य रूप से सभी स्थानों पर था। यह सत्य है कि छोटे छोटे गाँवों में इस प्रकार की स्वामित्व भूमि थोड़ी ही होती थी। अधिकांश भूमि तो किसानों के ही पास रहती थी। इन किसानों की भी तीन श्रेणियाँ थीं। प्रथम श्रेणी संगठित किसानों की थी, जिन्हें हम 'पट्टीदार' * कहेंगे। उसी गाँव में एक दूसरी श्रेणी के भी किसान रहते थे जो इन पट्टीदारों की जमात से बाहर के थे। कुछ तीसरी श्रेणी के किसान 'पाही-काश्तकार' होते थे, अर्थात् वे रहते थे कहीं अन्य स्थान पर परन्तु खेती करने के लिये दूसरे गाँव में पाही (अस्थायी निवास स्थान) बना लेते थे। पाही काश्त वाले किसान ग्राम के ठेके पर भूमि जोतते थे। गाँव के प्रबन्धक के पास प्रायः उसकी जोत से अधिक जमीन रहा करती थी, इसीलिये यदि उसी गाँव वाले किसान उसकी समूची भूमि नहीं जोत पाते थे, तो वह दूसरे गाँवों से खेतिहरों को बुला कर उनसे अपने खेतों को जोतवाता था। इस प्रकार की खेती के लिये पहले से कोई दर निश्चित नहीं होती थी। प्रबन्धक एवम् किसान के बीच जो भी शर्त तै हो जाती थी; उसी पर निर्भर रहा जाता था।

उन किसानों की स्थिति का ठीक पता नहीं चलता जो पट्टीदारी से बाहर के होते थे। कुछ प्राप्त सूचनाओं के अनुसार वे तब तक के लिये खेतों पर काबिज रहते थे जब तक वे पहले से निर्धारित लगान देते रहते थे, परन्तु इसी प्रकार की दूसरी सूचनाओं से पता चलता ह कि उनसे मनमानी लगान ली जाती थी और वे तभी तक खेतों पर दखल रह सकते थे, जब तक उनसे जितनी भी लगान मांगी जाय, वे देते रहे। यदि वे कभी लगान देने में असमर्थ हो जाते तो खेत से बेदखल कर दिये जाते

---

* लेखक ने इस शब्द के लिये 'ब्रदरहुड' शब्द लिखा है। उसके अनुसार रिकार्डस् में इस शब्द के जमीन्दार, पट्टीदार तथा साझीदार शब्द अर्थ के अंग्रेजी शब्द आये हैं। हमें पट्टीदार शब्द ही अधिक उपयुक्त लगा।

—अनुवादक

थे। इन्हीं लोगों को 'दखलकार' कहते थे। इन विरोधी सूचनाओं के प्रकाश में ही स्थानीय जानकारी प्राप्त की जा सकती है। वास्तविवता तो यह है कि जब जमीन की अधिकता हो और जोतने वालों की संख्या अपेक्षाकृत कम हो, तो इस प्रकार की सख्त नियमावली की आवश्यकता ही क्या है। सिद्धान्ततः चाहे जो भी नियम बना दिये जायँ, परन्तु उन विषयों को दृढ़ता से पालन करने से कुछ नहीं होता होगा। यह मान लेते हैं कि प्रबन्धक को अधिकार था कि वह लगान न दे सकने वाले खेतिहारों को अलग कर के किसी दूसरे से उस भूमि का बन्दोबस्त कर दे, परन्तु यह दूसरा किसान था कहाँ? और जब दूसरा किसान था ही नहीं तो बेदखली से फायदा ही क्या हो सकता था। अपने खेतों को परती पड़े रहने देना उसे मंजूर तो रहता न होगा। ऐसी दशा में बेदखली से क्या लाभ था। जैसा पहले कहा जा चुका है, कि उसी प्रकार इस समय तक भूमि प्राप्ति के लिये किसी प्रकार की प्रतिद्वन्दिता का जन्म नहीं हुआ था। वास्तविकता यह थी कि खेतिहर लोग प्रति फसल या प्रतिवर्ष प्रबन्धक के पास जाते थे, उससे यथा आवश्यक भूमि की माँग करते थे, जो आसानी से स्वीकृत हो जाया करती थी, दोनों व्यक्ति अर्थात् प्रबन्धक तथा माँग करने वाला खेतिहर मिलकर लगान की शर्तें तै कर लेते थे और उन्हीं शर्तों की लिखा पढ़ी कर लेते थे। जिन खेतिहरों के पास पहले से ही ठेके की भूमि होती, उन्हें तो कोई आवश्यकता ही नहीं नहीं थी कि वे प्रति फसल या प्रति वर्ष प्रबन्धक के पास जाकर भूमि की माँग करें। इन ठेकेदार किसानों को छोड़कर अन्य खेतिहर कभी भी पसन्द नहीं करते थे कि वे लम्बी अवधि के लिये पट्टा ले ले, क्योंकि एक तो देश की परिस्थिति डांवाडोल थी, दूसरे प्रकृति भी किसानों का साथ प्रायः नहीं देती थी। ऐसी दशा में लम्बी अवधि के पट्टों को स्वीकार न करने में ही बुद्धिमानी थी। बात असल यह थी कि इन प्रति वर्ष नया पट्टा लेने वाले किसानों का स्वामित्व का अधिकार यदि नियम द्वारा न भी मान्य होता तो परम्परा द्वारा अवश्य ही मान्य होता, परन्तु देश की बिगड़ी परिस्थिति में स्थायित्व तो कही था ही नहीं। इस अस्थिरता ने खेतिहरों के अधिकारों के स्थापित होने में बड़ी बाधा पहुँचाई।

तत्कालीन रिकार्ड्स में प्राप्त सूचनाओं के अनुसार गाँवों में पट्टीदार खेतिहरों का जोर था। ये पट्टीदार प्रायः एक ही पूर्वज की सन्तान होते थे और वे इकट्ठे रह कर ही अपनी अपनी खेती बारी का प्रबन्ध करते थे। अपने अपने खेतों पर सब का अलग अलग अधिकार रहता था। ये सब लोग आपसी पंचायत से ही गाँव का प्रबन्ध करते थे और जो कोई भी लगान वसूल करने का अधिकारी होता उसी को लगान दे देते थे। उनमें आपस में समय समय पर बँटवारे भी होते थे जो हिन्दू धर्म के

नियमों पर आधारित होते थे। गाँवों का प्रबन्ध अधिकांश हिन्दू-धर्म शास्त्र के नियमों से परिचालित होता था। उत्तराधिकार के सम्बन्ध में भी हिन्दू धर्म ही एक मात्र आधार था। घर का एक व्यक्ति यदि अपनी भूमि नहीं जोतता था या यदि वह निस्सन्तान मर जाता था, तो जसकी भूमि का बँटवारा पट्टीदारों में हो जाया करता था।

उस समय के रिकार्ड्स को देखने से प्रतीत होता है कि एक ही पट्टी के समान भाग पाने वाले खेतिहारों में भी किसी के पास अधिक भूमि होती थी और किसी के पास कम। जैसे किसी व्यक्ति के पास हिन्दू-उत्तराधिकार के अनुसार गाँव के चौथाई जमीन सिद्धान्ततः होनी चाहिये, परन्तु वास्तव में या तो उसके पास चौथाई से अधिक होता था या कम। इस प्रकार की गड़बड़ियों के दो कारण दिये जाते हैं, और ऐसा जान पड़ता है कि समय एवम् परिस्थितियों के अनुसार अलग अलग गाँवों में ये दोनों ही कारण ठीक मालूम होते हैं। पहला कारण तो यह बताया जाता है कि खेतों का बँटवारा केवल क्षेत्रफल पर ही निर्भर न रह कर उनके उपजाऊपन पर भी निर्भर होता था। इस प्रकार यदि किसी को कम उपजाऊ भूमि मिली तो उसी हिसाब से क्षेत्रफल अधिक मिल जाता था और यदि अधिक उपजाऊ किस्म की जमीन मिली तो उसका लेखा क्षेत्रफल कम करके पूरा कर दिया जाता था। दूसरा कारण आगरा के तत्कालीन कमिश्नर के शब्दों में यह था कि 'सशक्त और चालक लोग प्रायः निर्बलों तथा अज्ञानों के ऊपर सदैव ही हावी हो जाया करते थे। यदि कोई हिस्सेदार कुछ दिनों के लिये अनुपस्थित हो गया या नाबालिगी अथवा किसी अन्य कारण से अपने खेतों को जोतने में अयोग्य हो गया तो ये चालाक लोग किसी भी भले बुरे साधन का प्रयोग करके उसकी भूमि भी अपने कब्जे में कर लेते थे।' जिस प्रकार आजकल के गाँवों में शक्तिमान् एवम् बेईमान लोग दूसरों की भूमि हड़प लेते हैं, उसी प्रकार की कार्यवाहियाँ उस समय में भी होती थीं। निर्बलों की भूमि सशक्त लोग प्रायः दाब लिया करते थे। सिद्धान्त और आदर्श तो यह था कि प्रत्येक गाँव एक छोटे से गणतंत्र राज्य की भाँति काम करे प्रत्येक व्यक्ति के मौलिक अधिकारों को सुरक्षित रक्खे, परन्तु इस सिद्धान्त एवम् आदर्श का शायद ही कभी पालन होता था। मानव प्रकृति सदैव ही सिद्धान्तों एवम् आदर्शों पर हावी हो जाती थी। ऐसी दशा में भी गाँवों में ईमानदार लोग भी होते ही थे और उनके द्वारा आदर्शों तथा सिद्धान्तों का पालन भी होता था। इस प्रकार हमें यह मान लेना चाहिये कि उस समय के गाँव भी वर्तमान गाँवों के ही समान होते थे।

गाँवों में जो पट्टीदार रहते थे, उनके सारे कारबार उनके प्रबन्धक या मुखिया

द्वारा सम्पादित होते थे। यह समझ लेने की भूल न करना चाहिये कि प्रबन्धक या मुखिया कहीं बाहर से आता था। ऐसा होता था कि परिवार का ही ज्येष्ठतम् या ज्येष्ठम् व्यक्ति प्रबन्धक हो जाया करता था। गाँव में प्रति पट्टीदारों के समूह का प्रतिनिधित्व करने के लिये एक मुखिया होता था। यह पद सरकार द्वारा मान्य होता था इसकी नियुक्ति कैसे होती थी, यह पता तो नहीं चलता परन्तु इतना विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि यह पद पैत्रिक उत्तराधिकार के अनुसार चलता था, अर्थात मुखिया का लड़का ही स्वतः मुखिया हो जाता था। निस्सन्देह यदि मुखिया अयोग्य होता तो उसे हटाया जा सकता था। गाँव में रहने वाले दूसरे वर्ग के किसानों के साथ सभी प्रकार के बन्दोबस्त इसी मुखिया के द्वारा ही होते थे, गाँव भर की भलाई के लिये जितने भी काम होते थे, उन सब की देख भाल तथा उनके लिये, यदि आवश्यकता हुई तो रुपयों का प्रबन्ध भी वही करता था। गाँव की लगान देना उसी का कर्तव्य था, जिसे वह प्रत्येक खेतिहर से वसूल कर लेता था। उस वसूली के लिये वह सुविधानुसार विभिन्न तरीके अपनाता था। किसी से नकद लगान लेनी पड़ती थी, कोई अनाज की शकल में ही लगान देना पसन्द करता था, कोई बँटाई प्रथा को पसन्द करता था, तो कोई नाप प्रणाली को। प्रत्येक पट्टी के प्रत्येक सदस्य का सालाना हिसाब बँधा हुआ था। परिस्थितियाँ कुछ इस प्रकार की थी कि मुखिया का पद स्वीकार करने के लिये कोई शौक से तैयार नहीं होता था। लगान अत्यधिक ऊँची दर पर निर्धारित की गयी थी। कहीं-कहीं तो उपज के अर्द्धांश तक पहुँच गयी थी। इसलिये मुखिया को आवश्यक लगान वसूल करने में बड़ी कठिनाई पड़ती थी। इधर लगान वसूल करने वाले मुखिया को ही पकड़ते थे। मालगुजारी की रकम कम होने पर या न अदा होने पर मुखिया ही उसका जवाबदेह होता था, लगान वसूली के तरीके में सख्ती अब भी बरती ही जाती थी। ऐसी दशा में कोन व्यक्ति मुखिया होना चाहेगा। इतनी परेशानियों के बदले उसे मिलता क्या था, बस थोड़ा-सा पारम्परिक पारिश्रमिक या थोड़ी सी नजर भेंट। मुस्लिम युग के अन्तिम वर्षों में तो स्थिति यहाँ तक बिगड़ गयी थी, कि मुखिया वही व्यक्ति हुआ करता था, जो या तो गाँव का नगण्य व्यक्ति हो अथवा सर्वाधिक सशक्त। कोई भी व्यक्ति जिसे गाँव वाले बिल्कुल ही तुच्छ समझते थे, मुखिया पद के लिये नामजद कर दिया जाता था। ऐसा इसलिये किया जाता था, कि यदि कभी किसी खतरे का भय हो, तो वह आसानी से अपनी जान लेकर भाग सके। सशक्त व्यक्तियों को इसलिये मुखिया नामजद किया जाता था, कि वह परिस्थितियों को वह अपने अनुकूल बना सके।

मुखिया पद की विचित्रता ही इस पद की विशेषता थी, परन्तु यह न समझ

लेना चाहिये कि मुखिया का पद इसी काल में बनाया गया। अग्रलिखित अनुच्छेद में मुखिया पद का पूर्ण वर्णन किया गया है। मि० जोनाथन डंकन ने एक प्रलेख सन् १७९४ ई० में भारत सरकार को भेजा था, इसी का अंश पाठकों की जानकारी के लिये नीचे दिया गया है।

"ऐसी भी स्थितियाँ हैं जहाँ एक जमीन्दार होता है, सारे पट्टे इन्हीं लोगों के नाम सदा से चले आ रहे हैं। यह जमीन्दार पूर्ण सशक्त व्यक्ति होता है, जिससे प्रायः सभी लोग भयभीत रहते हैं। वह अपने बन्धुओं से तथा दूसरे वर्ग के किसानों से मालगुजारी वसूल करता है। मालगुजारी का निर्धारण यह इस भाँति करता है कि सरकारी मालगुजारी से यदि अधिक न हो तो कम भी न हो। इस लगान को वह सरकार को चुका देता है (सरकार से तात्पर्य खजाने से भी है)। ऐसा माना जाता है कि लगान वसूली की रकम तथा खजाने में जमा की जाने वाली रकम का अन्तर उसी का भाग समझा जाता था। यदि वसूली कम हुई तो अपने पास से दे, और यदि अधिक हो गयी है तो अतिरिक्त रकम वह रख ले। यदि उसके सारे बन्धु यह चाहें कि सरकारी कागजों में जमीन्दार के नाम के साथ उनका भी नाम आ जाय तो वे इस बात का विरोध करते हैं और उन्हें कभी इस बात की आज्ञा नहीं देते। यदि कभी ऐसा होता भी था तो जमीन्दार उनके सामान्य लाभ की दर कुछ घटा देते थे। मजा तो यह है कि पिछली आठ दस पीढ़ियों से ये बन्धु लोग इसी प्रकार से लगान देते रहे हैं, परन्तु जो दर रैयत * के लिये तै थी, उस दर से नीची दर पर माल-गुजारी सदा ही वसूल की जाती रही है। उदाहरण के लिये यदि एक रैयत एक बीघे की मालगुजारी तीन रुपया देता है, तो बान्धवों को एक बीघे की लगान दो ही रुपये देना पड़ता था। इस स्पष्ट विवादपूर्ण विषय पर भी आज तक किसी ने विवाद नहीं किया और इसे परम्परा से चली आती रहने की बात कह कर वे सर माथे पर ले लेते हैं।"

सन् १८२० ई० में दिल्ली के सिविल कमिश्नर ने जमुना नदी के पश्चिम में अवस्थित भूभाग की लगान प्रणाली के विषय में एक रिपोर्ट लिखा था। उसको भी देखने से पता लगता है कि बनारस प्रान्त में भी मुखिया का पद वैसा ही विचित्र था। उन्होंने लिखा है कि ब्रिटिश शासन प्रारम्भ होने के पूर्व "इस देश में मुकद्दम (मुखिया,

---

* इसका लेखक 'जमीन्दार' शब्द का 'पट्टीदारों' में से एक के अर्थ का प्रयोग करता है। दूसरी श्रेणी के किसानों को उसने रैयत कहा है, तथा पट्टा से उसका तात्पर्य उस सनद से है जो निर्धारित लगान देने वाले हर किसान को दी जाती थी।

या प्रबन्धक; या जमीन्दार) लोगों की स्थिति बड़ी ही भयावह तथा शारीरिक-यंत्रणाओं के भय से भरी हुई थी। यदि मुकद्दम किसी ऐसी रकम पर समझौता कर लेता था, जो खेतिहरों को मान्य नहीं होती थी, तो वे लोग इनको गालियों से भर देते थे। भले ही वे मुकद्दम बेचारे गाँव की भलाई के लिये डाँट फटकार सुनें, जेलखाने चले जायँ या भूखें रक्खे जाकर कोड़ों की मार ही क्यों न सहन कर लें, फिर भी उसके बन्धुओं को संतोष नहीं होता था।' उपरोक्त वर्णन से पता चल जायगा कि तत्कालीन मुखिया ही सारे पट्टीदारों का कर्ताधर्ता होता था और वही उनका सही प्रतिनिधि था, जिसे अपनी कर्तव्यपूर्ति बड़े कष्टपूर्वक करनी पड़ती थी। वही लेखक आगे चलकर लिखता है कि "दूसरी ओर इन मुकद्दमों की स्थिति अत्यधिक सुविधापूर्ण थी। वे अपने पदैश्वर्य से सभी बान्धवों को निरन्तर निरुत्तर तथा संत्रस्त रखते थे तथा इस प्रकार अपनी उन्नति का पत्र प्रशस्त करते थे। अपनी इसी प्रवृत्ति से प्रेरित होकर वे निर्धारित लगान से कहीं अधिक वसूल करते थे। निर्धारित लगान सरकार को देकर शेष रकम वह अपने उपयोग में लाते थे। कभी-कभी वह यह भी करते थे कि प्रत्येक बन्धु से वह उपज का कुछ अंश बँटाई की प्रणाली द्वारा लगान तै कर लेते थे। उनसे उतना ही लेकर वे चाहे जैसे सरकारी कर्मचारी को सन्तुष्ट करते थे यह उन्हीं का उत्तरदायित्व था। इस प्रकार की कार्यवाही से भी उनको बहुत लाभ होता था।' उसी लेखक का आगे चल कर कहना है कि परिणाम स्वरूप "ये लोग कुछ राजस वृत्ति के हो जाते थे, परन्तु सामान्यतया अपने गाँव की भलाई का खयाल हमेशा रखते थे।"

एक तरफ तो ये मुखिया लोग वफादारी से अपने कर्त्तव्य का निर्वाह करते रहते थे, दूसरी तरफ बान्धवों में विभाजक शक्तियाँ भी काम करती रहती थीं और जिसका परिणाम यही हो सकता था कि इन्हीं में से कोई उनका सरदार बन जाता होगा और अब गाँव के सारे किसान उसी से भूमि प्राप्त करने लगे होंगे तथा उसी को लगान देने लगे होंगे और इसलिए मुखिया स्वतः अपदस्थ हो गया होगा। विभाजक-शक्तियाँ आन्तरिक भी हो सकती थीं और वाह्य भी। सूखा पड़ जाने की दशा में जब खेतिहर लगान देने में असमर्थ हो जाता था तब ऐसी शक्तियाँ अधिक सफलता से कार्य करती थीं। मुखिया द्वारा अपनाया गया दमन भी इन शक्तियों को उत्तेजना देता था। दमन की दशा में या सूखे की दशा में तो पूरा का पूरा गाँव ही पलायन कर जाया करता था। उस समय में यह एक प्रकार का आम समझौता था कि भागने वालों के वंशज अगर फिर कभी लौट कर आवें तो अपने पूर्वजों की भूमि पर उनका फिर से अधिकार मान लिया जाता था। सूखे की दशा में तो 'शायद ही कोई उत्तराधिकारी जीवित बँचता था और एक बार का परित्यक्त ग्राम तब तक वीरान पड़ा

रहता था, जब तक कि कोई ऐसा व्यक्ति वहाँ नये किसान ला कर न बसावे, जिसे उस भूमि से लगान वसूल करने की इच्छा व शक्ति हो। दूसरी ओर ऐसे भी संकेत मिलते हैं जिनसे पता चलता है कि जब कभी कोई गाँव फिर से बसाया जाता था तो वहाँ नई पट्टीदारी बन जाती थी, जो पहली पट्टीदारी से बिल्कुल अलग होती थी। इसीलिए ऐसी धारणा बनाने की भूल न होनी चाहिये कि सारी पट्टीदारियों का उत्पत्ति काल एक ही है। पट्टीदारियाँ प्रायः बनती बिगड़ती रहती थी।

इस विषय में जो कुछ कहा जा चुका है, उससे, यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि उस समय के गाँव विभिन्नताओं से पूर्ण थे। उनकी स्थितियाँ भी भिन्न थीं और प्रणालियाँ भी। गाँवों की मुख्य किस्मों को गिनाया जा सकता है। इनमें पहला नम्बर आता है वीरान का। वीरान गाँव से तात्पर्य उस गाँव से है, जो कभी गाँव रह चुका हो, उसकी सीमा अब भी उसी नाम से पुकारी जाती हो परन्तु उसमें रहने वाला कोई न हो तथा उसकी भूमि में खेती न होती हो, ऐसा शायद इसलिये होता था कि किसानों को किसी न किसी वजह से अपना घर द्वार छोड़कर अन्यत्र चला जाना पड़ा था और अब वह गाँव वीरान हो गया है। दूसरे प्रकार के गावों को हम पाही गांव कहेंगे। ये गांव ऐसे थे, जिनमें कोई रहता नहीं था तथा इसके गांव की भूमि दूसरे गांवों के किसानों द्वारा जोती बोई जाती थी। जहाँ तक अपनी राय का सम्बन्ध है, ये दोनों ही प्रकार के गांव कोई महत्वपूर्ण न थे। इस प्रान्त के अधिकांश गाँवों में दो प्रकार के गाँव पाये जाते थे। एक तो वे जो पट्टीदारों के गाँव थे तथा दूसरे वे जो दूसरी श्रेणी के किसानों के गांव थे।

पट्टीदारों के गाँवों को भी 'शुद्ध एवम मिश्रित' इन दो वर्गों में बाँटा जा सकता है और यह वर्गीकरण पाही काश्त वाले किसानों की गांव में उपस्थिति से सम्भव होती थी। शुद्ध पट्टीदारों के गाँव बुन्देलखण्ड के उस इलाके में पाये जाते हैं थे जो तब बृटिश राज्य में मिल गया था। इन गांवों में पाही काश्त वालों को भी पट्टीदारी में मिला लिया जाता था। कोई खेतिहर जो चाहे गाँव की जमीन जोतता हो या दूसरे गाँव की पट्टीदारी में ही मान लिया जाता था, प्रारम्भिक बृटिश शासकों ने इसी बात को आधार बना कर जमुना के उत्तर में स्थित भूभाग को बुन्देलखन्ड से अलग किया था। बुदेलखन्ड में पट्टीदारों के शुद्ध गाँव थे तथा इस भूभाग में मिश्रित गाँव थे। तत्कालीन सरकारी कागजों की जाँच पड़ताल में मुझे शायद ही ऐसा कोई गाँव मिला हो जिसमें शुद्ध रूप से केवल पट्टीदारों तथा उनके मजदूरों द्वारा ही सारी भूमि जोतीबोई जाती रही हो। यह बात सत्य है कि दूसरे प्रकार के किसानों के खेतों का क्षेत्रफल अत्यन्त छोटा ही होता था, फिर भी खेती में तथा खाद्यान्न उपजाने में

इनके महत्व को कम नहीं आँकना चाहिये। यह बात दूसरी है कि गांवों में वे पट्टीदारों के अधीन रह कर कार्य करते हों।

कुछ ऐसे भी गाँव थे जिनमें पट्टीदार वर्ग था ही नहीं। इन गाँवों की भी दो किस्में थीं। इनमें से पहले किस्म के गाँव वे थे जो किसी सशक्त लगान लोभी अधिकारी व्यक्ति द्वारा फिर से बसाये गये थे। इनको बसाने वाले लोग खेतिहरों को अनेक आश्वासन देकर यहाँ बसने पर राजी किये होंगे। उन आश्वासनों में शायद सबसे अधिक आकर्षण उस आश्वासन में रहा होगा, जिसके अनुसार खेतिहरों को नई बस्ती की भूमि पर स्थायी अधिकार देने को कहा गया होगा। शायद इसीलिए प्रारम्भिक सरकारी कागजों में उन्हें दाखिल कर काश्तकार का अधिकारी करके दिखलाया गया है। यह कहा जा सकता है कि जहाँ के सभी नये बसने वाले किसान एक ही बिरादरी के रहे होंगे, वहाँ भी वे लोग पट्टीदारी कायम करने के फिराक में पड़े होंगे और यदि बृटिश अधिकारियों ने रुकावट न पैदा की होती तो शायद नई पट्टीदारियाँ बन भी जातीं। हाँ ऐसी धारणा बनाने के लिये कोई आधार अब तक मुझे नहीं मिला। दूसरे प्रकार के गांव वे थे जो पैत्रिक उत्तराधिकार-युक्त किसी सरदार को लगान देते थे, अथवा उस नये सरदार को देते थे, जो देश की कुव्यवस्था का लाभ उठाकर सरदारी कायम करने में सफल हो गये थे। सरदारों के कुछ गांवों में भी पट्टीदारियाँ थीं, शेष में ऐसा किसान वर्ग रहता था, जिसमें किसी प्रकार का आपसी संगठन नहीं था। वे अपनी लगान सरदार द्वारा नियुक्त किसी मैनेजर * को देते थे। वह मैनेजर उन किसानों में से भी हो सकता था और बाहरी भी।

पिछली पंक्तियों में जो विश्लेषण † दिया गया है; उससे यही पता चलेगा कि

---

* इन मैनेजरों को सरकारी कागजों में मुकद्दम कहा गया है। पट्टीदारों द्वारा चुने गये मुखिया को भी मुकद्दम ही कहते थे। इन दोनों पदों में बाह्य एकता है बशर्ते कि गाँव की ऊपरी स्थिति को देखा जाय, क्योंकि उनके कर्तव्य क्षेत्र समान हैं। आन्तरिक दृष्टि से पट्टीदारों द्वारा चुने गये मुकद्दमों और सरदारों द्वारा नियुक्त मुकद्दमों की स्थिति के अन्तर का पता लग जाता है।

† इस स्थल पर मैंने ग्रामीण व्यवस्था की मुख्य बातों पर ही ध्यान दिया है तथा अपवादों एवम् गड़बड़ियों को छोड़ दिया है। अपने ऐतिहासिक महत्व के कारण इनमें से दो का वर्णन कर देना आवश्यक प्रतीत होता है। (अ) कुछ गाँवों में अलग जातियों के एकाधिक पट्टीदार रहते थे, परन्तु ऐसा प्रबन्ध स्थायी नहीं होता था। या तो एक पट्टीदार निकल ही जाते थे या गाँव को आबादी के हिसाब से दो भागों में

तत्कालीन ग्रामीण-व्यवस्था सभी स्थानों में एक रूप नहीं थी। स्थान भेद से कई ढंग की व्यवस्थायें प्रचलित थीं। पिछले विभाग में मैंने कहा है कि यह नहीं बताया जा सकता कि अमुक भाग अथवा अमुक क्षेत्र में अमुक ढंग की व्यवस्था प्रचलन में थी। हाँ जिस प्रान्त का वर्णन हम इन पंक्तियों में कर रहे हैं, उस बनारस प्रान्त में अधिकांश गांवों की भूमि विभिन्न वर्गीय खेतिहरों द्वारा जोती बोई जाती थी। इन खेतिहरों में अधिकांश उसी गाँव के होते थे, पर दूसरे स्थान के खेतिहर भी आकर खेती कर लिया करते थे। अगले विभाग में हम उन तरीकों का वर्णन करेंगे, जिनके अनुसार उपज का राज्यांश (लगान) वसूल किया जाता था।

किसानों की अदायगी

इस युग में यदि हम यह पता लगाना चाहें कि वेतन प्राप्त कर्मचारियों से व्यक्तिगत किसानों का क्या सम्बन्ध था, तो हम इस परिणाम पर पहुँचेंगे कि इस समय में व्यक्तिगत खेतिहरों को किसी भी वेतन प्राप्त राजकीय कर्मचारी से कोई सम्बन्ध रखने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती थी। राज्य की ओर से लगान वसूली का अधिकार जिस किसी सरदार, जागीरदार या सीरदार को दिया जाता था, वह सीधे मुखिया से ही सम्पर्क स्थापित करता था। उसी के समक्ष वह लगान की सरकारी माँग रखता था, जो समस्त गाँव की सामूहिक उपज के योग पर निर्धारित की जाती थी, न कि प्रति किसान या खेत पर। औरंगजेब के जमाने में यह कार्य मुखिया के ही जिम्मे था कि वह एक किसान से लगान वसूल करे। सरकारी दर प्रायः अपरिवर्तित ही रहती थी अर्थात् उपज का आधा। निस्सन्देह किन्हीं मामलों में वह नीचे उतर कर तिहाई तक चली जाती थी। राजकीय कर्मचारियों का लक्ष्य रहता था कि वे यदि कुछ अधिक न वसूल कर लें तो कम से कम पूरी लगान तो वसूल ही कर लें। इधर मुखिया यह चाहता था कि उपज का जितना भी भाग राजकीय कर्मचारियों की दृष्टि से छिपाया जा सके, उतना ही अच्छा। इन दिनों भी वार्षिक निर्धारण की परम्परा थी, परन्तु कुछ स्थानों में वर्ष में ही एकाधिक वार निर्धारण तब तक किया जाता रहता था, जब तक कि दोनों दल अर्थात् कर्मचारी और मुखिया को वार्षिक निर्धारण मान्य नहीं हो जाता था।

बाँट दिया जाता था, ऐसे गाँवों को खेत बाँट गाँव कहते थे और एक ही नकशे में दोनों गाँव की भूमि दिखाई जाती थी, (च) कभी-कभी एक ही पट्टीदारी कई गाँवों में फैली रहती थी, सभी ऐसे मौजे एक ही गाँव के पुरवे के रूप में माने जाते थे।

लगान की माँग की प्रचलित दर के अनुसार प्रत्येक किसान द्वारा देय धन का एक स्तर सा कायम हो गया था अतएव पट्टीदारों की ऐसी इच्छा सर्वदा ही रहती थी, कि खेत भले ही बिना जोते पड़े रह जायँ परन्तु निर्धारण इस प्रकार का नहीं हो कि मुखिया वसूल कम कर पाये और उसे देना अधिक पड़े, अर्थात् वे हमेशा यह चाहते थे कि वास्तविक वसूली यदि सरकारी माँग से अधिक न हो तो कम भी न होने पावे। पट्टीदारी के बाहर के जो किसान थे, उनसे सरकारी लगान तो ली ही जाती थी, साथ ही पट्टीदारों का लाभांश भी उनसे लिया जाता था। सरकारी कागजों में सर्वत्र तो नहीं पर कहीं कहीं इस लाभांश को भी सरकारी लगान में शामिल करके दिखाया गया है। इस लाभांश के फलस्वरूप इन किसानों को कहीं कहीं उपज के आधे से भी अधिक दे देना पड़ता था, जब कि कितने ही स्थानों में अनेक प्रकार की रियायतें या कटौतियाँ भी किसानों को मिल जाया करती थी। इन्हीं विभिन्नताओं के कारण आँकड़ों में यत्रतत्र बड़ी गड़बड़ी सी दिखाई पड़ती है। जिन स्थानों की भूमि नियमित रूप से जोती जाती थी और जहाँ किसी प्रकार की रियायत या कटौती की गुंजायश नहीं थी, वहाँ के किसान की प्रति ४० सेर के मन पर यदि अधिक नहीं तो कम से कम बीस सेर तो देना ही पड़ता था। यही बीस सेर पट्टीदारी से बाहर के किसानों के लिये साढ़े बाईस सेर हो जाया करता था, जिनमें से बीस सेर तो सरकार को दे दिया जाता था और शेष ढाई सेर पट्टीदारों का लाभांश होता था। लगान की अदायगी का यह सामान्य स्तर प्रायः सभी सामान्य गाँवों में था, परन्तु जहाँ असामान्य स्थिति होती, अर्थात् जमीन कम उपजाऊ होती, या सिंचाई की सुविधा न होती या अन्य कोई असामान्यता होती वहाँ की लगान उपज का तृतीयांश या चतुर्थांश ही होती थी और कभी कभी अष्टमाँश तक जा पहुँचती थी। कुछ दिनों तक परती पड़े रहने के बाद जोते जाने वाले खेतों की लगान की दर स्थान भेद से भिन्न भिन्न होती थी।

यह निर्धारण के प्रश्न पर विचार करना चाहें तो हम पावेंगे कि विभिन्नता को यहाँ भी स्थान मिला हुआ था। दोआब में जितनी भूमि बोई जाती थी, उसी पर प्रति बीघा लगान निर्धारित की जाती थी, परन्तु गंगा पार के भूभाग में उपज के परिमाण के हिसाब से लगान की माँग निश्चित की जाती थी। गोरखपुर तथा रुहेलखंड के प्रदेशों में जो फसलें खलिहान में इकट्ठी की जाती थीं, उनकी उपज का अनुमान लगाकर काम चलाया जाता था, तथा उस अनुमानित अनाज का दाम किसी समीपस्थ बाजार में प्रचलित भाव से लगाया जाता था। इस प्रकार की अदायगी में खेतिहर लोग सिक्के के ही रूप में लगान देते थे न कि गल्ले के रूप में। उपज का वास्तविक विभाजन तो शायद हो कहीं होता था, परन्तु यदि अनुमानित उपज पर उभय पक्ष

में किसी को कोई आपत्ति या शङ्का हुई, तो उसका समाधान वास्तविक विभाजन द्वारा ही किये जाने का रिवाज था। ऐसी दशा ने जब गल्ला ओसाई के बाद तैयार हो जाता था, तब वसूली करने वाले वहाँ जाकर पूरा अनाज तौल कर राज्य का निर्धारित अंश ले लेते थे, जिन फसलों को खलिहान में ले जाने की आवश्यकता नहीं होती थी, उनकी लगान की दर सिक्कों के ही रूप में प्रति बीघा निर्धारित कर दी जाती थी। प्रति बीघे की यह दर कहीं कहीं तो एक सी ही थी परन्तु कहीं कहीं भूमि के उपजाऊपन * की दृष्टि से कम या अधिक हुआ करती थी। इस प्रकार किसानों के हाथ से मुखिया के हाथ में सिक्के हो आते थे, यह दूसरी बात है कि कभी किसी खेतिहर को अनुगृहीत करने के लिये मुखिया अनाज ही लगान में ले ले और बाद में उसे बाजार में बेंच कर सिक्कों में परिवर्तित कर ले।

दोआब में लगान निर्धारण आपसी समझौते पर होता था, अर्थात् राजकीय कर्मचारी तथा मुखिया के बीच समझौता होता था, जिसमें लगान की रकम निश्चित कर ली जाती थी परन्तु निश्चित करने के पूर्व यह विचार कर लिया जाता था कि फसल की उपज पर लगान की माँग निर्धारित की जाय, या मिट्टी के उपजाऊपन पर विचार करके या वैसे ही ठेका देकर काम चला लिया जाय। अकबर के समय में तथा उसी के द्वारा प्रचलित की गई प्रणाली का ही व्यवहार फसल की उपज के अनुसार लगान निर्धारित करने में इस समय भी होता था, अर्थात् प्रत्येक अन्न के लिये प्रति बीघा अलग अलग लगान निश्चित रहती थी, परन्तु विभिन्न दर सूचियाँ असम्पूर्ण थीं। एक ही स्तर तथा मूल्य के अनाजों को एक ही वर्ग में रख दिया गया था। इस प्रकार एक गाँव की दर सूची में हो सकता था कि केवल चावल, गन्ना, कपास एवम् बगीचों की उपज की ही दर सूची हो। जिन स्थानों में मिट्टी के उपजाऊपन पर विचार करके निर्धारण किया जाता था, वहाँ अन्नों की विभिन्नता के कारण लगान में कोई अन्तर नहीं पड़ा करता था। इस ढंग में खेतिहरों का इस प्रकार का ज्ञान व अनुभव ही काम देते थे कि किस प्रकार की भूमि में कौन अन्न किस परिमाण में होगा। इसी अनुमान को आधार मान कर लगान निर्धारित कर दी जाती थी। ठेकेदारों के साथ लगान निर्धारित करने में वाह्य दृष्टि से समझौता ही सब कुछ होता था। यद्यपि समझौता करने वाले दोनों दल समझौता करते समय भूमि के सामर्थ्य

---

* रुहेलखंड में इस प्रकार की दरों को जाब्ती दर कहते थे। इन फसलों में गन्ना, नील, पपीता तरकारियाँ तथा बागों की अन्य वस्तुयें आती थीं। गन्ना और नील की लगान का हिसाब कटाई होते समय लगाया जाता था।

का ध्यान अवश्य रखते थे, पर समझौते में यही तै होता था कि अमुक खेतिहर अमुक क्षेत्रफल की भूमि के लिये अमुक रकम सरकार को लगान स्वरूप देगा, चाहे वह खेतों को जोते बोये या परती रक्खे। इतना ध्यान रखना चाहिये कि उपरोक्त तीनों प्रणालियों में फसल खराब होने पर छूट देने व पाने की गुंजाइश रहती थी, क्योंकि इतनी अधिक ऊँची लगान की दर होने पर यदि फसल की खराबी की छूट न मिलती तो काम चलना असम्भव ही था।

इन सभी प्रान्तों में सिक्कों में ही लगान देने का नियम था। ऐसी दशा में मुखिया का यह काम होता होगा कि वह अपनी पट्टीदारी के प्रत्येक सदस्य के सामने हर फसल पर आय व्यय का सारा हिसाब रख दे कि उसे प्रति सदस्य से कितना पाना है। इसी में वह लगान के अतिरिक्त अन्य आवश्यकताओं पर खर्च होने वाली रकम को भी जोड़ लेता था। पट्टीदारी से बाहर के किसानों द्वारा उसे कितना मिलेगा या अन्य साधनों से उसकी आमदनी क्या होगी। यह सब ब्यौरा समझ कर तब वह सामूहिक रूप से की गयी लगान की माँग को एक एक किसान के ऊपर यथा भाग लगा देता होगा। इस प्रकार के लगान के बँटवारे की भी विभिन्न प्रणालियाँ प्रचलित थीं। सदस्यों में लगान का बँटवारा कहीं फसल की उपज के आधार पर होता था, कहीं बोई गयी भूमि के अनुपात में होता था तथा कहीं किसान के प्रति हल के हिसाब से होता था। सर्वाधिक प्रचलित प्रणाली बोई हुई भूमि के अनुपात वाली प्रणाली ही थी। इतना सब कर चुकने के बाद मुखिया उस रकम की वसूली प्रारम्भ करता था।

इस समय के सरकारी कागजों को देखने से पता चलता है कि लगान वसूल करने वाले कर्मचारियों का लक्ष्य यह होता था कि वे अधिक से अधिक जितना वसूल कर सकें कर लें, और उसी को उस गाँव की लगान का स्तर मान लें, परन्तु उन्हें इस कार्य में सफलता नहीं मिलती थी। यदि किसी गाँव का मुखिया उस गाँव की लगान का कुछ अंश बचा लेता था, तो उस रकम को अपनी पट्टीदारी के सदस्यों में ऊपर कहे हुये ढंग से बाँट देता था अर्थात् बँची हुई रकम के अनुपात से उनकी लगान कम कर देता था। यदि कभी ऐसा सम्भव भी हो जाता था तो उसे छुपाने की बहुत बड़ी आवश्यकता पड़ती थी, क्योंकि यदि राजकीय कर्मचारियों को पता चल जाता कि पट्टीदार लोग इस प्रकार से लाभ उठा रहे हैं तो वे तुरन्त उस गाँव पर लगान की माँग ऊँची कर देते। मुखिया लोग इस प्रकार की बचत ऐसे करते थे कि पट्टीदारों द्वारा जोते जाने वाले कुछ खेतों का पता ही कर्मचारी को नहीं देते थे। जिसे आज

गाजीपुर का जिला कहते हैं, उसी स्थान की रिपोर्ट में एक ऐसे मामले * का पता चलता है, जिसमें पट्टीदार लोग केवल एक सौ पचास रुपया लगान देकर तीन सौ बीघा भूमि में खेती करते थे। इस प्रकार उन्हें केवल आठ आना प्रति बीघा लगान देनी पड़ रही थी। वे जानते कि यदि उनकी इस चालाकी का पता कर्मचारियों को चल गया, तो वे तुरन्त ही मालगुजारी की रकम को बढ़ा देंगे। अतः उन लोगों ने अपने खेतों को नापने के लिये ऐसी रस्सी रक्खा था, जो चार बीघे का एक बीघा कर देती थी। इस प्रकार उनके तीन सौ बीघा खेत नाप में केवल पचहत्तर बीघे ही उतरते थे और वे इसकी लगान दो रुपये प्रति बीघे की दर से एक सौ बचास रुपया देकर प्रतिवर्ष चार सौ पचास रुपया बचा लेते थे। वे लोग इस कार्य को इतनी कुशलता से करते थे कि किसी भी कर्मचारी ने उनकी सच्चाई पर कभी सन्देह नहीं किया।

ऐसी दशा में जिन गांवों के पट्टीदार लोग संगठित होकर काम करते थे, उन गांवों के मुखिया लोगों को यह अवसर मिल जाता था कि वे कुछ बचाकर अपने पट्टीदारों को भी लाभ पहुँचाते रहें, साथ ही आप भी कुछ कमाते रहें, परन्तु जिन गाँवों में संगठन नहीं था या जहाँ के मुखिया अपने बान्धवों का खयाल छोड़ कर अपना ही खयाल करते थे, वहाँ तो सारी बचत अकेले मुखिया ही खा जाया करता था। पिछले विभाग में दिये गये उद्धरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मुखिया लोग ऐसा करते रहते थे। फिर भी वे अपने पट्टीदारों से अन्य किसानों की अपेक्षा

---

* मेंहदी अली खाँ नामक कर्मचारी ने यह रिपोर्ट मि० डकन के पास भेजा था। मि० बेडेन ने उस रिपार्ट में लिखी गयी नकली रस्सी से पैमाइश करने वाली बात को गलत करार दे दिया। उसका तर्क यह था कि कर्मचारी लोग खेतों के क्षेत्रफल का उतना खयाल नहीं करते, बल्कि वे तो गाँव की परम्परा से चली आने वाली लगान की रकम का ही विचार अधिक करते हैं। यदि गाँव की समूची लगान उस परम्परा के अनुसार उनको मिल जाय तो वे यह देखने का कष्ट नहीं उठाते कि गाँव में कितने बीघे में खेती हो रही है। औरंगजेब के फरमानो से पता चलता है कि लगान निर्धारण के पूर्व प्रति वर्ष पैमाइश होती थी, अतः मि० बेडेन द्वारा दिया गया तर्क मान्य नहीं हो सकता। कर्मचारियों को यह भी आदेश था कि वे पिछले वर्ष का भी हिसाब देख लिया करें। मेंहदी अली जानता रहा होगा कि वह क्या लिख रहा है, जब उसने लिखा कि "ये लोग नकली रस्सी का प्रयोग करके पटवारी के कागजात में भी गलत क्षेत्रफल लिखा देते हैं।"

अवश्य ही कम लगान लेते थे, और इस प्रकार जो भी बच पाता था, उसका वे स्वयम् उपभोग करते थे। रिकार्ड्स को देखने से पता चलता है कि कहीं कहीं पट्टीदारों को भी उतना ही देना पड़ता था जितना अन्य किसान दिया करते थे। सम्भव है कि कहीं कहीं के पट्टीदारों को अन्य किसानों से अधिक भी देना पड़ता रहा हो, परन्तु ऐसे किसी मामले का पता नहीं चलता। परिस्थितियों से ऐसा लगता है कि उस समय के शासकों की आर्थिक नीति यही थी कि चाहे जिस प्रकार हो गाँव वालों की अतिरिक्त आय उनसे ले ली जाया करे। इसके बाद भी जो बच रहे, उसका उपभोग या तो अकेले मुखिया कर ले या पट्टीदारी के सभी सदस्य मिल जुलकर उसका उपभोग करें। जिन गाँवों में ये पट्टीदार लोग थे ही नहीं, वहां इस प्रकार के बँटवारे का कोई प्रश्न ही नहीं उठता था। इस प्रकार गाँव की यदि कुछ रकम बच गयी तो वह सीधे किसानों के हाथ में ही रह जाती थी।

मध्यस्थ जन

जैसा कि पिछले पृष्ठों में कहा गया है कि बनारस प्रान्त में सभी प्रकार के मध्यस्थ जन एक ही वर्ग में समाहित हो गये थे। १८ वीं शताब्दी की परिस्थितियों ने इस प्रकार के परिवर्तन को जन्म दिया। जब बृटिश शासन के कर्मचारियों ने लगान लेने के लिये भूमि के स्वामियों को खोजना शुरू किया तो यही मध्यस्थ लोग नाना प्रकार के प्रलोभनों में फँस कर आगे आये, परन्तु उनमें ताल्लुकेदारों की संख्या अत्यल्प थी। वास्तव में जो भी मध्यस्थ जन सामने आये, वे या तो सरदार थे या सीरदार।

ऐसी स्थिति में, जब कि केन्द्रीय शक्ति एकदम क्षीण हो गयी थी, ये सीरदार लोग किसी भी ऐसे व्यक्ति से सीरदारी प्राप्त कर लेते थे, जो वास्तव में शासक हो। निर्बल केन्द्र भी इसी बात को पसन्द करता था कि भूमि शक्तिमानों के हाथ में ही रहे ताकि उन्हें लगान तो मिलती रहे। तत्कालीन परिस्थितियों में उसी व्यक्ति की भौतिक उन्नति एवम् महत्वाकांक्षा का पथ प्रशस्त था, जो भले बुरे का विवेक त्याग कर स्वार्थ साधन में जुटे थे। जिस बात की आवश्यकता होती है, वह सामने आ भी जाती है, अतः प्रभाव विस्तार के लिये विभिन्न स्वार्थों का जो अंधड़ चला उसमें सचमुच भले बुरे का विवेक नष्ट हो गया। उस समय के रिकार्ड्स को यदि देखा जाय तो पता चलेगा कि बृटिश शासन में आने के पहले बनारस प्रान्त के इन भागों में इसी प्रकार के कार्यों का प्राबल्य था। शक्ति प्राप्ति के इच्छुकों में जो भयानक प्रतिद्वान्दिता

चली, उसने देश की सुख शान्ति को पूर्णरूपेण ढँक लिया। देश के कोने कोने में लुटेरों के झुंड के झुंड कायम हो गये। इनको दबाना मुगल शक्ति के बाहर की बात थी। इन खेतिहरों के प्रति साम्राज्य के अधिकारों की तो गणना नहीं थी परन्तु कर्तव्य केवल एक ही था। खेतिहर लोग आशा करते थे कि साम्राज्य उन्हें सुरक्षा प्रदान करेगा, परन्तु जब मुगल साम्राज्य से सुरक्षा की भी आशा जाती रही तो खेतिहर लोग उसी को लगान देने को प्रस्तुत हो जाते थे, जो उन्हें सुरक्षा देने का वादा करता था। इस प्रकार यह देश फिर से प्राचीन-हिन्दू नीति की ओर लौटा जा रहा था। कहीं कहीं तो किसान लोग स्वयमेव संगठित होकर अपनी सुरक्षा करने की सोचते थे। सुरक्षा की गारन्टी देने वाले को ही लगान दी जाय, इस आदर्श तथा प्रबन्ध में कोई त्रुटि तो नहीं थी, परन्तु जब एक व्यक्ति सामने आकर कहता है कि "या तो समूची लगान हमें दो, या हम इस समूचे गाँव को ही उजाड़" देंगे या इसी प्रकार का कोई अन्य कार्य करता है, तो बेचारे निहत्थे किसान क्या करें। इन विवश किसनों के प्रति वे सभी विचारवान लोग सहानुभूति दिखायेंगे, जो यह देखेंगे कि किस प्रकार इन किसानों को जबर्स्ती ताल्लुकों में शामिल किया गया। एक बार यदि इन ताल्लुकों का केन्द्र स्थापित हो गया तो उसका क्षेत्रविस्तार सरल काम था। विभिन्न गाँवों को विभिन्न साधनों द्वारा आकर्षित करके या आवश्यकता पड़ने पर धमकियों द्वारा विवश करके ये लोग अपने प्रभाव क्षेत्र का विस्तार करते रहते थे। इस समय तक अल्पावधि के पट्टों का लेना देना बन्द हो गया था। जिस किसी को भी भूमि का पट्टा दिया जाता था वह उस व्यक्ति के जीवन काल भर के लिये दिया जाता था, और यदि परिस्थितियाँ विपरीत न हुई तो उसके उत्तराधिकारी के साथ भी उसी पुराने पट्टे का नवीनी करण हो जाता था। इसीलिये बृटिश शासकों ने इन पट्टों को पैत्रिक-उत्तराधिकार-सम्पन्न समझा था। ऐसी दशा में यह कहना तर्कसंगत ही होगा कि इस प्रकार से प्रभाव विस्तार की चेष्टा करने वाले सरदारी तथा राजत्व के पद की ओर बढ़ जाते, यदि उसी प्रकार की अराजकता कुछ दिन और रह गयी होती।

दूसरी ओर शताब्दियों से चलते रहने वाले सरदारों की आर्थिक स्थिति अब बिल्कुल सीरदारों की सी ही रह गयी थी। यद्यपि इन सरदारों के पीछे शताब्दियों का इतिहास था और अराजकता ने उनके नये प्रतिद्वन्दी खड़े कर दिये थे, फिर भी वे अपने प्रभाव व प्रभाव-क्षेत्र बढ़ाने की सतत चेष्टा करते रहते थे। इस विषय में उनमें तथा नये सरदारों में कोई अन्तर नहीं था। ऐसे भी मामले सरकारी कागजों में देखने को मिलते हैं, जिनमें पदवी प्राप्त राजाओं ने भी बड़े बड़े क्षेत्र पट्टे पर ले

लिये थे। उनका पारस्परिक क्षेत्र तो पहले से उनके पास था ही, उसे इस प्रकार वे और भी बढ़ा रहे थे। ऐसी परिस्थिति में ब्रिटिश प्रशासकों को उन लोगों के सम्पर्क में आना पड़ा, जो सरदार भी थे और खेतिहर भी। साथ ही ऐसे खेतिहर भी उनके सम्पर्क में आये जो सरदार बनने के पथ पर बहुत कुछ चल चुके थे। इस दशा में यह आश्चर्यजनक नहीं है कि ब्रिटिश प्रशासकों ने इन दोनों प्रकार के लोगों से समान व्यवहार किया। यदि तथ्यान्वेषण की दृष्टि से विचार किया जाय तो उस समय के सरकारी कागजों में बहुत कम ऐसी सामग्री प्राप्त होती है, जिससे हम इन दोनों वर्गों का अन्तर स्पष्ट रूप से जान सकें। इन दोनों वर्गों के अन्तर का ठीक ठीक वर्णन जो मुझे प्राप्त हो सका है, वह आगरा के ठीक उत्तर में अवस्थित दोआब के उस भूभाग से सम्बन्धित है, जिसे उस समय में सईदाबाद जिला कहते थे। इस जिले का जो भाग जमुना के किनारे स्थित था, उनमें अधिकांश गांव पट्टीदारों से युक्त थे, परन्तु और पूरब की ओर चलने पर जो गांव मिलते थे, उनमें शायद ही कहीं पट्टीदारों का समावेश था। यहां के ठाकुरों अर्थात् सरदारों के विषय में यह माना जाता था, कि उनका उस स्थान से ऐतिहासिक सम्बन्ध जितना प्राचीन है, उतना गांव के किसी किसान का नहीं। इन लोगों का अपने क्षेत्र के किसानों से वैसा ही सम्बन्ध था, जैसा यूरोपीय देशों में लैन्डलार्ड (जमीन्दार) लोगों का अपने असामियों (टिनैन्ट्स) के साथ होता था। यहां के किसान पट्टीदारों के रूप में संगठित नहीं होते थे। उनमें विभिन्न वर्ग; वर्ण एवम् जाति के लोग इकट्ठे हिलमिल कर रहते थे, तथा सरदार उनमें से एक या दो के साथ लगान सम्बन्धी ठेका करता था या कभी कभी वह मैनेजर से ही समझौता करता था, जो उस गांव से सम्बन्धित नहीं होता था। इस रिपोर्ट के लेखक की राय है कि पहले इन गांवों में भी पट्टीदारों का संगठन रहा होगा। बहुत दिन पहले अपने स्वार्थ साधन के लिये सरदारों ने उनकी उस व्यवस्था को भंग कर दिया। परन्तु यह कोरा अनुमान ही है और इसको सिद्ध करने वाली सामग्री का पूर्ण अभाव है। यदि इस व्यवस्था को भंग करने की कोई तारीख निश्चित भी करने की चेष्टा करें, तो अवश्य ही यह तारीख मुस्लिम विजय के बहुत पूर्व की होगी। इन सरदारों के स्वामित्व की एक विचित्र विशेषता यह रही है कि इनकी मृत्यु होने पर उनकी जायदाद उसके सभी पुत्रों में हिन्दू धर्म शास्त्र के अनुसार बंट नहीं जाती थी। प्रायः ज्येष्ठ पुत्र ही उसको सरदारी का उत्तराधिकारी होता था या किसी पारिवारिक परम्परा के अनुसार परिवार के ही किसी श्रेष्ठ व्यक्ति को सरदार चुन लिया जाता था तथा वही शेष उत्ताराधिकारियों के भरणपोषण का प्रबन्ध करता था। इन शेष उत्तराधिकारियों को स्वयम् भी कुछ न कुछ करते रहना पड़ता था।

अवध राज्य के सरदारों में भी इसी प्रकार का उत्तराधिकार नियम प्रचलित था। उनमें ज्येष्ठ या श्रेष्ठ व्यक्ति ही सरदार के सभी अधिकारों का उपभोग करता था और अन्य उत्तराधिकारी केवल गुजारे का अधिकार रखते थे। इसी सम्बन्ध में एक बात और भी स्मरणीय है कि सरदार के 'अधिकार' तथा उसकी 'जायदाद' में स्पष्ट भेद होता था। जायदाद तो हिन्दू धर्म शास्त्रों के नियमानुसार सभी उत्तराधिकारियों में बँट जानी चाहिये, परन्तु उसके अधिकारों का उत्तराधिकारी केवल एक ही हो सकता था, अर्थात् उसकी सत्ता सदैव ही अभंग रहती थी। यदि कभी ये सरदार किसी अन्य राजा या बादशाह की अधीनता भी स्वीकार कर लेते थे, तो भी उनकी आन्तरिक स्थिति या व्यवस्था में कोई अन्तर नहीं पड़ता था। उसकी स्थिति में अन्तर तभी सम्भव था जब वह किसी बड़े सरदार, राजा या बादशाह द्वारा अपदस्थ कर दिया जाय। जब तक इस देश में सरदारों का अस्तित्व रहा, तब तक उनके अधीनस्थ प्रदेश में उनका वाक्य ही कानून की सी शक्ति रखता था। उनके अधीनस्थ प्रदेश को सूबा या प्रान्त न कह कर राज्य ही कहते थे। बृटिश शासन के प्रारम्भ में ही सरदारों की शक्ति क्षीण हो चुकी थी और सम्भव है आगे चलकर उनका नाम निशान भी न रह जाय, परन्तु इतिहास में सदैव ही सत्ताधारी राजाओं की भाँति ही स्मरण किये जाते रहेंगे। साथ ही यह भी इतिहास कारों द्वारा माना जाता रहेगा कि इन सरदारों का अस्तित्व किसी अति प्राचीन युग की घटना है।

हम पहले कह चुके हैं कि ब्रिटिश युग के प्रारम्भ होने के पूर्व यहाँ के बहुत से सरदार तथा कितने ही किसान भी अपने-अपने प्रभाव को बढ़ाने में लगे हुये थे। इस इस युग में दो प्रकार के सरदार हो गये थे। एक तो वे जो पहले से चले आ रहे थे और दूसरे वे, जो मुस्लिम युग के अन्तकाल में व्याप्त अराजकता की स्थिति का लाभ उठाकर सरदार बन बैठे थे। अब यह तै करना कठिन है कि इनमें से कितने सरदार पुराने समय से चले आ रहे हैं तथा कितने नये बने हैं। इस कठिनाई को दूर करने के लिये हमें एक-एक सरदार पर अलग-अलग विचार करना पड़ेगा। अवध के कितने ही जमीन्दार ऐसे हैं, जो उन्नीसवीं शताब्दी में जमीन्दार बने। कितने ही ऐसे हैं, जिनका इतिहास मुस्लिम युग से शुरू होता है। कुछ ऐसे भी होंगे, जिनका प्रारम्भ हिन्दू काल से भी हो सकता है। जिस प्रकार पट्टीदारियाँ बनती-बिगड़ती गयीं; उसी प्रकार सरदारगीरी भी बनती-बिगड़ती रही, अर्थात् वे सभी एक साथ ही नहीं बन गयी। यह भी समझने की भूल न होनी चाहिये कि इन सरदारों का प्रभाव क्षेत्र भी सदैव अपरिवर्तित रहा। उनके राज्यों की सीमा समय-समय पर घटती-बढ़ती रहती थी।

अन्तिम मूल्यांकन

अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में उत्तर भारतीय गाँवों में प्रचलित व्यवस्था का वर्णन समाप्त करने के लिये शायद यह आवश्यक है कि जिन तथ्यों का वर्णन तथा विश्लेषण पिछली अध्यायों में किया गया है, उनकी संगति ग्रामीण व्यवस्था के विस्तृत नियमों तथा उपनियमों से कैसे बैठती है यह भी देख लिया जाय। इस समय में भी औरङ्गजेब के शासन काल के ही समान गाँवों की इकाई बनी हुई थी। गाँव की लगान का निर्धारण पहले की ही तरह होता था। यह निर्धारण सिक्कों के ही रूप में होता था, तथा गाँवों की सामर्थ्य ही इसका आधार होती थी, अर्थात् जो गाँव जितना लगान देने के योग्य समझा जाता था, उस गाँव से उतनी ही लगान की माँग की जाती थी। यह निर्धारण प्रायः साल भर के लिये एक साथ ही हो जाता था। सामर्थ्य का अनुमान गाँव की उपज के आधार पर किया जाता था। निर्धारण करते समय इस बात पर गम्भीर रूप से विचार किया जाता था कि निर्धारित लगान गाँव की सम्पूर्ण उपज के मूल्य के बराबर जरूर हो जैसा संकेत हम पहले ही दे चुके हैं कि राजकीय कर्मचारीगण सामूहिक रूप से समूचे गाँव की लगान इकट्ठा निर्धारित कर देते थे। उनके कर्तव्य क्षेत्र में यह नहीं था कि वे प्रत्येक किसान पर अलग अलग लगान का बँटवारा करें। यह तो हुई वाह्य व्यवस्था। गाँव के भीतर प्रत्येक किसान अपने हिस्से की लगान प्रचलित प्रणाली के अनुसार दे देता था। इन प्रणालियों की जानकारी पहले हो दी जा चुकी है। इस समय में एक नवीनता यह देखने में आती है कि दर निर्धारण के अलग तरीके अपनाये जा रहे थे। कितनी ही स्थितियों में फसलों की लगान-दरें बिल्कुल वैसी ही थी, जैसी शेरशाह व अकबर द्वारा चालू की गयी थीं। निस्सन्देह इस समय की दर सूचियां उस जमाने की सूचियों से अधिक सुलझी हुई थीं। अन्य मामलों में फसल की लगान दर भूमि के उपजाऊपन पर निर्भर रहती थी, न कि बोई गयी फसल पर।

समूचे मुस्लिम काल में इस बात की ओर संकेत करने वाली कोई भी सामग्री नहीं मिलती जो यह प्रमाणित करे कि कभी भूमि के उपजाऊपन का प्रभाव भी दर सूचियों पर पड़ा हो। मुसलमान शासकों ने दर निर्धारित करते समय बोई गयी फसल को ही आधार बनाकर सूचियां बनायी थी। केवल एक ही मामला ऐसा मिलता है, जिसमें इस शब्द की गुञ्जाइश है कि शायद इस मामले में भूमि के उपजाऊपन पर विचार कर दर-निर्धारण किया गया हो। यह मामला भी कहीं लिखा हुआ नहीं मिलता। चतुर्थ अध्याय में हमने देखा था कि अकबर के शासन काल में उसके आदेश

पर कर्मचारियों ने स्थानीय विभिन्नताओं को ध्यान में रख कर दर सूचियाँ बनाई थीं। ऐसी निर्धारण दर सूचियां सूमूचे साम्राज्य की सभी सर्किलों के लिये बनायी गयी थीं और इस विषय में मेरा अनुमान है कि इन सूचियों को बनाते समय जहाँ और सभी प्रकार की सूचनाओं पर विचार किया गया होगा वहाँ मिट्टी के उपजाऊपन का भी विचार यदि प्रत्यक्ष रूप से नहीं तो अप्रत्यक्ष रूप से अवश्य किया गया होगा। कम से कम गांव के भीतर चलने वाले कार्य व्यवहार (बंधक रखना, बेंचना इत्यादि) में जमीन के अधिक या कम उपजाऊ होने पर अवश्य ही विचार होता रहा होगा। इसी आधार पर अकबर काल का ऐतिहासिक सम्बन्ध उन्नीसवीं शताब्दी के समय से लगाया जा सकता है। जब कि लगान निर्धारण करने में भूमि के उपजाऊपन पर पर भी विचार होता था, परन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि उपाजऊपन से तात्पर्य भूमि से उतना ही है जितना उस भूमि की उपज से।

गाँवों की वाह्य व्यवस्था में भी एवम् आन्तरिक व्यवस्था में मी कहीं क्रम नहीं टूटता। जागीरदारियां अब भी थीं, हां उनकी प्रधानता अवश्य खतम हो गयी थी। गाँव वाले अपनी लगान अब भी सब दिन की तरह किसी सरदार या सीरदार को दिया करते थे।

मुगल साम्राज्य के पतन के दिनों की अराजक्ता से उत्पन्न परिस्थितिथों में भूमि के पट्टे लम्बी अवधि के लिये किये जाने लगे थे। इन लम्बी अवधि के पट्टों में जो कुछ भी बाधा पड़ती थी, उसका उत्तरदायित्व किसानों पर ही था, अर्थात वे ही उस काल में व्याप्त व्यवस्था एवम् अनुशासन हीनता के कारण लम्बी अवधि के पट्टे लेने में भयभीत होते थे। इस काल की जिन संस्थाओं का पता इतिहास देता है, उनके बारे में भी यह प्रश्न उठाना उचित ही होगा कि क्या इन संस्थाओं (पट्टीदार आदि) का प्रारम्भ मुस्लिम काल में हुआ।

जहाँ तक अल्पावधि के स्वामित्व प्राप्ति का सम्बन्ध है, प्रायः सभी इतिहासकार मौन हैं और उनके मौन से कोई परिणाम नहीं निकाला जा सकता, क्योंकि इस प्रकार की छोटी मोटी संस्थाओं को महत्वहीन समझ कर इतिहासकार भी इन्हें भुला देते हैं। गांव के भूमिहीन मजदूरों का इतिहास अवश्य ही अत्यधिक प्राचीन होगा। आज भी जिस ढंग से उनकी मजदूरी दी जाती है, उसमें प्राचीनता की झलक स्पष्ट है। पिछले पृष्ठों में हमने कहा है कि किसान लोग खिदमतगारों को भी कभी कभी थोड़ी भूमि जागीर में दे देते थे, जिन्हें वे खिदमतगार स्वयमेव जोतते बोते थे और बिना लगान दिये ही उस भूमि की सारी उपज का उपभोग करते थे। यही दशा इन

भूमिहीन मजदूरों की भी थी। जिन किसानों के यहाँ वे बंध कर मजदूरी करते थे, उनकी ओर से उनको भी बहुत भूमि जागीर में मिल जाती थी और उस किसान के ही हल बैल से वे उस भूमि को जोतते थे तथा उसकी सभी उपज का उपभोग स्वयम् करते थे। इस भूमि की लगान लगती भी थी और यदा-कदा नहीं भी लगती थी। इन भूमि हीन मजदूरों * को इस प्रकार से भूमि देने की व्यवस्था भी बहुत प्राचीन है। बहुत कुछ इसी प्रकार के स्वामित्व की बात उन खेतों पर भी लागू होती है जो किसी व्यक्ति या संस्था को दान स्वरूप दे दिये जाते थे। इस प्रकार की व्यवस्था भी हिन्दू धर्म शास्त्रों के युग से चली आ रही है, परन्तु समय समय पर इनके पात्र भी बदलते रहे हैं और ढंग भी। वैसे भी इस प्रकार के भूमि खंड गांवों में इतने कम होते थे कि इनके विस्तृत वर्णन की आवश्यकता ही नहीं प्रतीत होती। ग्रामीण व्यवस्था के विषय में सर्वाधिक कठिनाई इस बात की समझ पड़ती है कि इस विषय की कोई भी जानकारी किसी भी समय के इतिसाकारों ने नहीं दी है कि इन गाँवों का आन्तरिक प्रबन्ध किस ढंग का होता था। उनका संगठन किस भांति का था, अथवा वे किस प्रकार अपना जीवन व्यतीत करते थे।

उत्तरी भारत के गांवों की आन्तरिक व्यवस्था पर प्रकाश डालने वाले ऐतिहासिक विवरण एक तो अत्यल्प हैं, दूसरे क्रमहीन। उनके सहारे किसी अन्तिम परिणाम पर पहुँचना भ्रमपूर्ण होगा। बिखरे हुये विवरणों से कुछ परिणाम निकालने के लिये पुष्ट कारणों की आवश्यकता होती है और कारणों का अभाव इस विषय में सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। समय समय पर अनेक सुयोग्य मुस्लिम शासकों ने खेतिहरों से सीधा सम्पर्क स्थापित करने का प्रयास अवश्य किया, पर उन प्रयासों की संख्या मुस्लिम शासन की इतनी लम्बी अवधि को देखते हुये दाल में नमक के ही बराबर है। इन विवरणों की क्रमहीनता हमारी कठिनाइयों को और भी बढ़ा देती है। ऐसा भी हुआ है कि एक शासक के इस प्रकार के प्रयास के सैकड़ों वर्षों बाद फिर किसी शासक ने इस विषय में फिर प्रयत्न किया। इन दोनों प्रयत्नों के बीच केवल इतनी ही श्रृङ्खला समझ में आती है कि इस प्रकार के प्रयास करने वाले सभी शासकों ने किसानों से प्रत्यक्ष सम्पर्क को लाभजनक अवश्य ही समझा रहा होगा। इन प्रयासों

* बृटिश शासन के प्रारम्भिक सरकारी कागजों में अपर दोआब का वर्णन देते समय इन मजदूरों को बालाहर या बलहर कहा गया है। यह स्मरणीय है कि अलाउद्दीन खिलजी द्वारा किये गये परिवर्तनों में भी कहा गया है कि ग्रामीण आबादी में ये बलहर ही सबसे छोटी हैसियत के लोग थे।

के बीच में शायद कोई ऐसा प्रयास नहीं किया गया, जिसे इतिहासकारों ने उल्लेखनीय समझा हो। एक कठिनाई और भी सामने आती है कि जिस किसी शासक ने इस प्रकार का प्रयास किया उन्होंने किसानों से ही सम्पर्क स्थापित करना चाहा, न कि उनके संगठनों से। इस प्रकार भी ग्रामीण संगठनों का विवरण सामने नहीं आ पाया।

ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रामीण संगठन के जो कुछ भी निर्देशक तत्व रहे होंगे उन सब के केन्द्र में दो व्यक्ति अवश्य ही रहे होंगे, एक तो गाँव का मुखिया या मुकद्दम और दूसरे गांव का पटवारी। पिछले पृष्ठों में हम यह दिखला चुके हैं कि हर राजकीय कर्मचारी जो कुछ भी सम्पर्क रखता था, वह मुकद्दम से ही। बृटिश शासन के प्रारम्भिक वर्षों के सरकारी कागजों में भी सर्वत्र ही मुकद्दमों ने गांव के अन्य किसानों को ढँक लिया है। इसीलिए लगान वसूल करने की इच्छा से कम्पनी के कर्मचारियों ने जब भूमि के स्वामियों की खोज प्रारम्भ की तो इन्हीं मुकद्दमों को ही वास्तविक स्वामी समझा। औरंगजेब द्वारा रसिक लाल वाले फरमान में जिन मुकद्दमों द्वारा किसानों के शोषण व दमन की बात कही गयी है, वे भी इन्हीं मुकद्दमों की तरह ही समझे जा सकते हैं। इन मुकद्दमों को हम अकबर कालीन मुकद्दमों की पृष्ठभूमि में भी देख सकते हैं, जो लगान निर्धारण तथा वसूली में राजकीय कर्मचारियों को आवश्यक मदद देते थे, तथा इनकी संगति अकबर कालीन उन लोगों से भी बैठायी जा सकती है, जो सशक्त रईसे-देह के रूप में गांव वालों का भयानक दमन करते रहते थे। वाह्य दृष्टि से मुगल कालीन मुकद्दम तथा इस समय (जिस पर विचार किया जा रहा है) के मुकद्दम एक से ही प्रतीत होते हैं। इन दोनों में इतना अधिकार समाहित था कि वे यदि चाहते तो किसानों का दमन व शोषण भी कर सकते थे, और चाहने पर मनमानी हानि व लाभ भी खेतिहरों को पहुँचा सकते थे।

इन मुकद्दमों की खोज करते हुये जब हम और भी पीछे, अर्थात् चौदहवीं शताब्दी में पहुँचते हैं, तो जिया बरनी के लेखों में मुकद्दम का एक नया ही रूप देखते हैं। जिया बरनी द्वारा दिये गये मुकद्दम सम्बन्धी कुछ विवरणों से ऐसा प्रतीत होता है, जैसे वह एक काफी बड़े भूभाग का सरदार हो परन्तु अधिकांश में उसी के विवरण मुकद्दम को उसी स्थिति में बतलाते हैं, जिसमें हम उसे अठारहवीं शताब्दी में देखते हैं। एक बात का ध्यान पाठकों को हमेशा रखना पड़ेगा कि जहां कहीं भी भारतीय व्यवस्थाओं, पदों या संगठनों के नाम अरबी भाषा में दिये गये हैं, वे अवश्य ही १२ वीं शताब्दी के बाद ही दिये गये होंगे। इससे अधिक पुराने वे नाम हो ही नहीं सकते, चाहे वे व्यवस्थायें, पद या संगठन कितने ही पुराने क्यों न हों। साथ ही यह भी समझ रखना चाहिये कि ये अरबी भाषा के पारिभाषिक शब्द जो भारतीय व्यवस्था

में प्रयोग किये जाने लगे थे वे सभी एक ही दिन में न बन गये होंगे। इनके नाम करण एवम् प्रचलन में भी समय लगा होगा। हम देख चुके हैं कि जिया बरनी के विवरणों में तथा उसके समय के किसी भी विवरण में जमीन्दार शब्द सरदार के अर्थ में नहीं प्रयुक्त हुआ है, यद्यपि इस अर्थ में इसका प्रयोग प्रारम्भ हो चुका था। इसी प्रकार मुकद्दम शब्द उसी के समय में आरम्भ हुआ, परन्तु इसका पूर्ण प्रचलन बहुत बाद में हुआ। वैसे इसका प्रयोग मुखिया के पद के अर्थ में उसी समय से होने लगा था, परन्तु तब इसका प्रयोग किसी भी मुख्य व्यक्ति के अर्थ में भी हुआ करता था। ऐसी दशा में सम्भव है कि मुखिया का पद पूरे मुसलमान युग से होता हुआ हिन्दू काल में भी जा पहुँचा।

इसी प्रकार गांव के लोग रक्षक अर्थात् पटवारी पद का भी इतिहास इतना ही प्राचीन हो सकता है। अलाउद्दीन के समय में भी और औरंगजेब के समय में भी हम इस व्यक्ति को गांव के सरकारी कागजों को इस प्रकार तैयार करके रखते हुये देख चुके हैं, कि वे प्रशासकों के लिए लगान निर्धारण तथा वसूली में सहायक हो सकें। अकबर के समय में हम उसे गांव के सम्बन्ध में ऐसे कागजों को तैयार करते देखते हैं, जो निर्धारण तथा वसूली में तो सहायक सिद्ध ही हों, साथ ही साथ मुहस्सिलों तथा इस सम्बन्ध के अन्य कर्मचारियों के कार्यों की जांच करने में भी काम दें।

यदि हम मुखिया तथा गाँव के पट्टीदारों तथा अन्य वर्गीय किसानों का तर्क-सम्मत विवरण देना चाहें तो कठिनाई पड़ेगी। हम देखते हैं कि गाँव चाहे जिस वर्ग का हो, उसका मुख्य प्रबन्धक मुखिया ही होता था। यदि इतनी ही जानकारी से कोई छात्र किसी भी परिणाम पर पहुँचना चाहे, तो वह यही परिणाम निकालेगा कि मुस्लिम युग में जिन मुखियों के विषय में वह पढ़ता आया है वे उसी गांव के मुखिया लोग होते होंगे, जिनमें पट्टीदार संगठित नहीं होते थे। परन्तु चूंकि मुखिया हर गांव में होता था इसलिये उस समय शायद पट्टीदारों की व्यवस्था ही होती नहीं थी। हमारी मान्यता के अनुसार पट्टीदारी व्यवस्था अति प्राचीन कालीन व्यवस्था है और इसका प्रारम्भ अति प्राचीन हिन्दूकाल में हुआ होगा। केवल ऊपर ही उपर देखने से भी यह ज्ञात हो जाता है कि यह हिन्दू व्यवस्था है, तथा इस बात की प्रबल सम्भावना है कि मुसलमान इतिहासकारों ने जिन मुकद्दमों का विवरण दिया है, वे इन पट्टीदारों के ही प्रमुख रहे हों तथा जो समूचे मुस्लिम काल में बने रहने के बाद बृटिश शासन तक चले आये हों और इस प्रकार मुस्लिम विजय के बहुत पूर्वकाल से ही इनका वजूद रहा हो। वास्तव में मुस्लिम विजय के पूर्ववर्ती समय में उत्तरी भारत

के कुछ भागों में पट्टीदार व्यवस्था के वजूद के प्रमाण मिलते भी हैं। निस्संदेह इस बात का प्रमाण नहीं मिलता कि जिन गाँवों में पट्टीदार व्यवस्था नहीं थी, क्या उनमें भी मुखिया होते थे। सम्भव है कि किसी समय में पट्टीदारी व्यवस्था सार्वदेशिक रही हो, तथा जिन गाँवों में इस व्यवस्था का निशान तक नहीं है, वहां के लिये यह तर्क दिया जा सकता है कि वहां भी पहले पट्टीदार व्यवस्था थी, परन्तु बाद में छिन्न भिन्न होकर समूल नष्ट हो गयी। ऐसी भी सम्भावना है कि जो गाँव बाद में आबाद हुए, उनमें पट्टीदारी व्यवस्था का विकास न हो सका। ऐसी कितनी ही अन्य सम्भावनायें भी आगे लाई जा सकती हैं, किन्तु निश्चित साक्ष्य के अभाव में उनका महत्व कुछ भी नहीं है। इस प्रकार की अटकल बाजियों से कोई लाभ भी नहीं है।

अब केवल पाही काश्त वाले किसानों के सम्बन्ध में कुछ कहना शेष रह गया है। इस सम्बन्ध में भी यह पता नहीं चलता कि मुस्लिम युग में ऐसे किसानों का अस्तित्व था भी या नहीं। इस विषय में सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथ्य है कि इस वर्ग में उन जातियों का ही समावेश हुआ था जो समस्त उत्तरी भारत के कोने कोने में अपनी कृषि-वृत्ति के लिये प्रसिद्ध थीं। कच्छी, कुरमी, कोइरी, माली इत्यादि जातियां कृषि कार्य में अपने निरन्तर श्रम के लिए प्रख्यात थीं। यह सोचा जा सकता है कि इस प्रकार का बँटवारा सत्रहवीं शताब्दी के अन्तिम शताब्दियों में हुआ हो, यद्यपि सम्भावना यही है कि इनका वर्ग और भी प्राचीन है। यदि इन जातियों की परम्पराओं एवम् इनके जातीय विकास का अध्ययन करने की चेष्टा की जाय तो इनकी श्रोत का भी पता चल सकता है और इनके वर्गबद्ध होने के समय का भी। ऐसी दशा में इस विषय को अनिर्णीतावस्था में ही छोड़ देना उचित होगा। समूची वर्ग व्यवस्था को विहंगम दृष्टि से देखने पर इतना ही कहा जा सकता है कि वर्तमान विचारधारा के अनुसार पट्टीदारी व्यवस्था समूचे मुस्लिम युग में चालू रही, परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि यह व्यवस्था सार्वदेशिक भी थी या नहीं।

सातवाँ अध्याय

बाहरी भूभाग

दक्षिण प्रदेश

इस पुस्तक को प्रारम्भ करते समय ऐसा विचार था कि दिल्ली साम्राज्य के भंग होने के बाद जिन नये राज्यों का उदय हुआ, उन सबकी ग्रामीण व्यवस्था का ऐतिहासिक विवरण देने के पश्चात् ही उसे समाप्त करूँगा, परन्तु जब प्राप्त सामग्री का विश्लेषण किया तो पता चला कि यह सामग्रो इतनीं अपूर्ण है कि इनके भरोसे पर दिया गया विवरण किसी काम का न होगा। मालवा के विषय में केवल एक ही वर्णन मिल सका, जिससे इतना ही पता चलता है कि सोलहवीं शताब्दी के शुरू की दशाब्दियों में जागीरदारी व्यवस्था सामान्य रूप से प्रचलित थी। इसी प्रकार गुजरात के विषय में जो भी विवरण प्राप्त है, उसके बल पर इतना ही जाना जा सकता है कि जिस समय से यह प्रान्त स्वतन्त्र हुआ, तभी से लेकर अपने पूरे स्वातन्त्र्य काल में यह प्रदेश जागीरदारों तथा करद सरदारों में बँटा हुआ था। इन दोनों के विषय में इस बात को स्पष्ट करने के लिये कोई तत्कालीन विवरण नहीं प्राप्त है कि इन स्थानीय राजवंशों में किसानों की क्या स्थिति थी। आईन अकबरी के कुछ पृष्ठों में इन दोनों प्रदेशों का यत्किंचित विवरण अवश्य मिलता है, परन्तु वह इतना अस्पष्ट है कि इसके आधार पर इन प्रदेशों में किसानों की उस समय की स्थिति पर अधिकार पूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता, जिस समय ये प्रदेश मुगल साम्राज्य में मिलाये गये थे। ऐसी स्थिति में दक्षिण और बंगाल के विवरण से ही संतोष करके शेष भागों का विवरण छोड़ ही देना पड़ रहा है।

दक्षिण भारत एक भौगोलिक बिभाजन है न कि ऐतिहासिक। यह भाग कभी भी प्रशासकीय इकाई के रूप में नहीं रहा और न तो किसी भी ऐतिहासिक काल के वर्णनों से इसकी संगति ही बैठती है। मुसलमान इतिहासकारों ने जिस भूभाग को दक्षिण नाम दिया है वह है नर्मदा नदी के दक्षिण में अवस्थित वह प्रदेश जो मुस्लिम साम्राज्यों के आधीन कभी न कभी था। इस प्रदेश की दक्षिणी सीमा सदैव ही अस्थिर

रही । दूसरे अध्याय में हम देख चुके हैं कि मुसलमान बादशाहों में अलाउद्दीन खिलजी ही सर्वप्रथम बादशाह था, जिसने अपनी हुकूमत को दक्षिण के प्रदेशों तक बढ़ाया। फलस्वरूप चौदहवीं शताब्दी के कुछ भाग में दिल्ली सल्तनत में 'दक्षिण के सूबों' की भी गणना होने लगी। अलाउद्दीन ने इस प्रदेश पर अपना अधिकार मात्र स्थापित करके संतोष कर लिया था। उत्तरी भारत में लगान सम्बन्धी तथा अर्थ सम्बन्धी जितने परिवर्तन उसके समय में तथा उसके द्वारा किये गये, दक्षिण प्रदेश उनसे सर्वथा अछूता ही बना रह गया। ऐसी दशा में प्राप्त जानकारी के बल पर हम इतना ही कह सकने की स्थिति में हैं कि उस प्रदेश में सीरदारी व्यवस्था ही एक मात्र प्रचलित व्यवस्था थी। जो थोड़े बहुत तत्कालीन विवरण अब लिखित रूप में प्राप्त हैं, उनसे यह पता चलता है कि इस प्रदेश में बहुत बड़े-बड़े क्षेत्र सीरदारी पर उठाये जाते थे। समूचा सूबा ही एक सीरदार को दे देना तो सामान्य प्रचलन था, परन्तु कभी-कभी कई सूबों का समूह भी एक साथ सीरदारी पर उठा दिया जाता था। खिलजियों के बाद तुगलक वंश दिल्ली सल्तनत का मालिक बना। गयासुद्दीन तुगलक ने भी उत्तरी भारत की कृषि एवम् ग्रामीण व्यवस्था में महत्वपूर्ण सुधार व परिवर्तन किया, परन्तु उसके समय में भी दक्षिण के सूबे इन सुधारों तथा परिवर्तनों से अछूते ही बने रहे। मुहम्मद तुगलक के समय में यह सारा भूभाग सट्टेबाज सीरदारों के हाथों में जा पड़ा।

दिल्ली साम्राज्य के भंग होने पर दक्षिण में दो नये राज्यों का उद्भव हुआ, दक्षिण भारत में खानदेश तथा उसके दक्षिण में बहमनी राज्य स्थापित हुआ। दोनों राज्य साथ-साथ चलते रहे, परन्तु पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त में बहमनी साम्राज्य का पतन हो गया तथा उसकी कब्र पर फिर से पाँच नये राज्य कायम हुये। इनके नाम थे बरार, अहमदनगर, गोलकुंडा, बीदर तथा बीजापुर। इस प्रकार सोलहवीं शताब्दी में दक्षिण में छः शक्तियाँ थी। जब अकबर ने बरार तथा खानदेश को मुगल साम्राज्य में मिला लिया, तथा बीदर राज्य को पड़ोसी राज्यों ने आपस में बाँट लिया, तो इस भूभाग में अहमदनगर, बीजापुर तथा गोलकुंडा की तीन ही शक्तियाँ शेष रह गयीं। इन दो शताब्दियों के इतिहास में रुचि रखने वालों का पथप्रदर्शन करने वाला एक ही इतिहासकार है मुहम्मद कासिम फरिश्ता, जिसे हम मात्र फरिश्ता नाम से जानते हैं। इस इतिहासकार द्वारा लिखित विवरण को देखने से पता चलता है कि इस व्यक्ति को ग्रामीण व्यवस्था में तनिक भी रुचि नहीं थी, क्योंकि कहीं भी उसने तत्कालीन ग्रामीण व्यवस्था पर प्रत्यक्ष रूप से एक शब्द भी नहीं लिखा है, आकस्मिक रूप से उसने इतना ही लिख दिया है कि बहमनी साम्राज्य में भी सुरक्षित प्रदेशों का विधान था

तथा इस साम्राज्य में जागीरदारी व्यवस्था सामान्य रूप से प्रचलित थी। उसने यह कुछ नहीं लिखा है कि उपज का कौनसा भाग लगान में लिया जाता था एवं उस साम्राज्य में लगान निर्धारण तथा लगान वसूली कैसे होती थी। उसने इसकी भी जानकारी नहीं दी कि उस समय गाँवों का संगठन कैसा था और उसमें कितना स्थायित्व था। जब अकबर ने बरार को मुगल साम्राज्य में सम्मिलित किया तो उस समय उस राज्य में 'नसक' व्यवस्था प्रचलित थी। शायद उस खानदेश में भी वही व्यवस्था प्रचलित रही हो, परन्तु और भी दक्षिण के राज्यों में इस सम्बन्ध की कोई सूचना नहीं मिलती। जैसा कि पहले भी समझाया जा चुका है, 'नसक' शब्द का अर्थ अस्पष्ट है; फिर भी इतना कहा जा सकता है कि इस व्यवस्था में सामूहिक लगान निर्धारण का चलन था तथा यह सामूहिक निर्धारण केवल गाँव भर का ही नहीं बल्कि कभी-कभी समूचे परगने का भी होता था। निर्धारण के लिये किसान को इकाई मानने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता था। यह निर्धारण गाँव के मुखिया पर होता था या परगने के चौधरी पर या सीरदार पर इसका भी निर्णय नहीं हो पाता। सीरदार व्यक्ति गाँव या परगने का निवासी तो शायद ही होता था। ऐसी दशा में सम्भव है कि उपरोक्त दोनों प्रकार के लगान-निर्धारण 'नसक' व्यवस्था के अन्तर्गत प्रचलित रहे हों।

जिस समय दिल्ली के सिंहासन पर बैठे हुये जहाँगीर ने दक्षिण के अहमदनगर राज्य पर अपनी गृद्ध दृष्टि जमाया तथा उसके कुछ हिस्सों को हड़पने का प्रयास किया, उस समय अहमदनगर की गद्दी पर मलिक अम्बर था। उसने अपने राज्य में लगान निर्धारण की व्यवस्था प्रचलित की थी, उसी व्यवस्था के वर्णन से इस प्रदेश के ग्रामीण व्यवस्था के इतिहास के कुछ साधन प्राप्त होते हैं। उस समय की कुछ कार्य प्रणालियाँ ब्रिटिश युग तक बँची रह गयी थीं, उनसे पता चलता है कि मलिक अम्बर द्वारा किये गये सुधार महत्वपूर्ण थे, परन्तु वे सुधार कैसे थे, उनके द्वारा स्थापित व्यवस्थायें कैसी थीं, इसका ठीक-ठीक पता नहीं चलता। इस सुधार के विषय में किसी तत्कालीन लेखक ने लेखनी नहीं उठाया। इस समय के तथा इस प्रदेश के इतिहास के विषय में जिस किसी ने भी जो कुछ लिखा है, उसका अधिकांश मि० ग्रान्ट डफ द्वारा लिखित 'मराठों का इतिहास' तथा मि० राबर्टसन की लिखी हुई रिपोर्टों के आधार पर ही लिखा गया है। इनमें से ग्रान्ट डफ के विवरणों में पर्याप्त अस्पष्टता है, साथ ही कुछ महत्वपूर्ण विषयों में वे मतभेदपूर्ण हैं। उसने यह पुस्तक कुछ मराठा हस्त लेखों के आधार पर लिखा है और आज उन हस्त लेखों का पता लगाना असम्भव है, साथ ही वे तत्कालीन नहीं जान पड़ते। इस पुस्तक में दिये गये विवरण के अनुसार मलिक अम्बर

ने सीरदारी व्यवस्था का प्रचलन बन्द कर दिया तथा उसके स्थान पर यह व्यवस्था की कि किसान लोग अपनी वास्तविक उपज के अनुसार ही अनाज के रूप में लगान दिया करें। कई फसलों की लगान इस प्रकार वसूल करके लगान के स्तर का अनुभव प्राप्त कर लेने के बाद यह व्यवस्था की गयी कि किसान लोग गल्ले के बदले रुपया ही दिया करें। जहाँ पहले प्रति फसल लगान निर्धारित होती थी, जहाँ अब प्रति वर्ष निर्धारण किया जाने लगा और वह निर्धारण भी उपज के अनुसार न होकर अब नाप के अनुसार होने लगा। इसी ग्रन्थ की एक टिप्पणी में यह भी बताया गया है कि मलिक अम्बर के सुधारों में यह व्यवस्था की गयी थी कि राज्य कुल उपज का २।५ भाग लिया करेगा, परन्तु गल्ले को रुपयों में परिवर्तित करने के जिन दरों को प्रयोग में लाया जाता था, उनके कारण लगान कुल उपज की तिहाई ही होती थी। संक्षेप में ग्रान्ट डफ द्वारा दी गयी प्रणाली के अनुसार पहले सीरदारी थी, फिर गल्ले के रूप में बँटाई प्रथा का प्रचलन किया गया और अन्त में नाप प्रणाली द्वारा नकद लगान का निर्धारण होने लगा।

राबर्टसन ने पूना के जिले की कार्य प्रणाली का संग्रह किया था, परन्तु उसके दिमाग में डफ की वे बातें भरी हुई थीं, जो उसने टोडरमल द्वारा चलाई गई व्यवस्था के विषय में लिखी थीं। डफ ने उक्त विवरण में बहुत सी भूलें की थीं और स्थान-स्थान पर अनुचित रूप से अपने अनुमान को आधार बनाया था। इसी लिये राबर्टसन द्वारा भी उसी प्रकार की भूलें होनी स्वाभाविक थीं। उसके अनुसार मलिक ने बँटाई प्रथा को समाप्त करके सदैव के लिये ही एक निश्चित लगान अनाज के रूप में कायम कर दिया और बाद में उसी अनाज को सिक्कों के रूप में लेना प्रारम्भ कर दिया। राबर्टसन ने कितने ही पारिभाषिक शब्दों का व्यवहार सामान्य शब्दों के रूप में किया है और इसी लिये उसने मलिक के प्रबन्ध को "गाँवों का स्थायी बन्दोबस्त" कहा है। उसके अनुसार मलिक ने किसानों द्वारा दी जाने वाली लगान का स्थायी बन्दोबस्त सदा के लिये कर दिया, जिसमें विभिन्न कारणों से होने वाली कम उपज के लिये किसी भी रियायत की गुंजाइश न रह गयी। आगे चल कर वह प्रति बीघा की दर पर अनाज की शकल में लगान वसूली की बात करता है और उसने जिस २९० बीघे भूमि के बारे में पूँछ-ताँछ की थी उसमें से केवल ११० बीघे भूमि की लगान सिक्कों में ली जाती थी और शेष १८० बीघे भूमि की लगान अनाज की शक्ल में ली जाती थी। राबर्टसन को इस बात का पक्का पता नहीं लग सका, फिर भी उसके अनुसार लगान कुल उपज की तिहाई से भी कम थी।

इन दोनों लेखकों द्वारा दी गयी जानकारी के अनुसार अन्तिम रूप से यह

कहा जा सकता है कि मलिक के राज्य में लगान या तो उपज के आधार पर प्रति वर्ष सिक्कों के ही रूप में निर्धारित कर दी जाती थी और या तो हमेशा के लिये नकद या अनाज के रूप में निर्धारित की थी, जिसमें आवश्यक होने पर भी कोई छूट नहीं दी जा सकती थी। इस प्रदेश के विषय में प्राप्त जानकारी हमें इतना बल नहीं देती कि हम सही-सही यह बता सकें कि उपरोक्त विकल्पों में से कौन लागू था। सम्भावना पहले ही विकल्प की अधिक है, यदि उस समय की परिस्थितियों पर ध्यान दिया जाय। उसकी व्यवस्था कितने दिनों तक चलती रही इसका भी निर्णय नहीं किया जा सकता। मलिक अम्बर की मृत्यु सन् १६२६ ई० में हुई और बहुत कुछ सम्भव है कि उसके अन्त के साथ ही उसकी व्यवस्था का भी अन्त हो गया हो। यदि यह भी मान लें कि सन् १६२६ के बाद भी वही व्यवस्था लागू रही, तो भी यह सम्भव नहीं मालूम होता कि १६३० ई० के बाद यह व्यवस्था प्रचलित रह गयी होगी, क्योंकि उस साल दक्षिण में जो भयानक दुर्भिक्ष पड़ा, उसने समूचे प्रदेश को निर्जन बना डाला, साथ ही अहमदनगर को मुगल साम्राज्य में मिलाये जाने के पूर्व जिस युद्ध का प्रबन्ध करना पड़ा, उसने खेती के विनाश को पूर्ण बना दिया। राबर्टसन द्वारा बताया गया लगान का स्थायी प्रबन्ध अधिक दिनों तक चल भी नहीं सकता था। इसी प्रकार ग्रान्ट डफ द्वारा निर्देशित व्यवस्था भी स्थायी नहीं हो सकती थी।

जिस वर्ष अहमदनगर मुगल साम्राज्य में मिलाया गया, उसके कुछ वर्षों बाद तक समूचे दक्षिण प्रदेश की आर्थिक स्थिति बड़ी ही निराशा जनक हो गयी थी। इस बीच कई बार प्रशासकीय संगठनों में भी परिवर्तन हुआ और अन्त में दक्षिण में मुगलों के चार सूबों की स्थापना हो गयी। कभी-कभी ये चारों सूबे एक ही प्रतिनिधि के जिम्मे कर दिये जाते थे। आगे चल कर शाहजादा औरङ्गजेब इन सूबों के लिये शाही प्रतिनिधि बनाया गया और उसके समय में करीब १६२५ ई० में लगान व्यवस्था को पुनर्गठित करने का काम हाथ में लिया गया। जहाँ तक उस पुनर्गठन की जानकारी प्राप्त होती है, उससे मालूम होता है कि इस पुनर्गठन की योजना तथा योजना का कार्यान्वयन दोनों ही सफल राजनीतिज्ञ के मस्तिष्क की उपज थे। यह योजना एक बार फिर हमें अकबर के युग में पहुँचा देती है जब टोडरमल ने इसी प्रकार का पुनर्गठन आरम्भ किया था।

लगान के पुनर्गठन का काम सौंपा गया मुर्शिद कुली खां को। उसे पहले दक्षिण के दो सूबों का दीवान बनाया, परन्तु बाद में चारों सूबे उसे सौंप दिये गए। वह एक विदेशी था। उसका जन्म खुरासान में हुआ था। वहाँ वह अली मर्दान खाँ की सेवा में था और उसके साथ ही भारत आया। अली मर्दान फारस का नागरिक

था परन्तु भारत में आकर उसने यहीं की नागरिकता स्वीकार कर लिया। इसके बाद उस पर शाही मिहरवानियों की वर्षा सी होने लगी और वह खुद तथा उसके नौकर चाकर बड़े ठाटबाट का जीवन बिताने लगे। मुर्शिद कुली खाँ पहले पहल पंजाब की पहाड़ियों में फौजदार पद पर नियुक्त हुआ, उसके बाद उसे शाही अस्तबल का अध्यक्ष बनाया गया। फिर वह लाहौर का बख्शी बना दिया गया। इसी पद से हटा कर उसे दक्षिण का दीवान मुकर्रर किया गया, जहाँ उसके जिम्में लगान व्यवस्था को पुनर्गठित करने का काम सौंपा गया। उसके पिछले कामों को देखने से पता चलता है कि भारतीय लगान सम्बन्धी कार्यों का उसे कोई पूर्वानुभव न था, फिर भी उसे यह काम सौंपा गया।

उस समय देश की सर्वप्रमुख आवश्यकता यह थी कि किसी प्रकार देश में ऐसे किसानों को लाया जाय जो पूर्ण साधन सम्पन्न हों तथा जो वहाँ पहले से हों उन्हें साधन पूर्ण बनाया जाय इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए कम से कम एक बात में उत्तरी भारत की प्रचलित व्यवस्था का अनुसरण किया गया, अर्थात् वहां भी गांव के मुखिया पर पूर्ण विश्वास करके काम की शुरुआत की गयी। सर्वप्रथम मुखियों को प्रोत्साहन दिया गया तथा अच्छे कार्य के लिये उन्हें पुरस्कृत करने की योजना बनायी गयी। उनके मारफत कृषि कार्यों के लिये अग्रिम धन साधन जुटाने के लिये किसानों को दिया गया। जिन गांवों में मुखिया पद किसी न किसी कारण से रिक्त था, वहाँ योग्य व्यक्ति को मुखिया बनाया गया। कृषि की इस व्यवस्था को सबल बनाने के लिये पूरे देश की नाप तथा जांच की गयी। कृषि योग्य भूमि, उपजाऊ भूमि का वर्गीकरण किया गया। यदि हम अकबर कालीन संगठन के सम्बन्ध में बदाऊनी की बात को सत्य मान लें तो मुर्शिद कुली खाँ द्वारा किया गया यह प्रयास भी उत्तर भारतीय व्यवस्था का अनुसरण मात्र था, क्योंकि अकबर के समय में भी बदाऊनी के वर्णन के अनुसार देश की एक एक इंच भूमि नापी तथा परखी गयी थी। यहाँ तक तो मुर्शिद ने कोई नया काम नहीं किया, परन्तु आगे चल कर जब लगान-निर्धारण की समस्या सम्मुख आई, तो इस कार्य में उसने नवीनता का परिचय दिया।

इस विवरण को प्रस्तुत करने में हम जिस अधिकृत वर्णन के आधार पर काम कर रहे हैं, उसके अनुसार उस समय तक दक्षिण में न तो बँटाई प्रथा का ही श्रीगणेश हुआ था और न नाप प्रणाली का ही प्रचलन हुआ था। इस प्रदेश में अभी तक प्रति हल के हिसाब से लगान वसूल की जाती थी चाहे मुखिया हो या किसान यदि वह एक हल तथा मजदूरों के साथ भूमि जोतता है तो इसके लिये उसे थोड़ी सी लगान देनी पड़ती थी। दो हल की खेती करने पर उससे दो गुनी लगान देनी

पड़ती थी। उस प्रदेश में इस बात का कोई विचार नहीं था कि कोई किसान कितनी जमीन जोतता है तथा कितना अनाज उपजाता है। प्रति हल लगान की मांग विभिन्न परगनों के लिये विभिन्न थी और कहीं भी उपज के बारे में कोई विचार नहीं किया जाता था, न परिमाण का विचार होता था और न किस्म का। इस सम्बन्ध में यही एक सन्देह होता है कि क्या यह सम्भव था कि इतने बड़े भूभाग में एक ही व्यवस्था प्रचलित हो। यह सन्देह इस बात से और भी पुष्ट हो जाता है कि दक्षिण के ही एक राज्य अहमदनगर में मलिक अम्बर द्वारा किये गये सुधारों के विवरण में भी इस 'हल प्रणाली' का जिक्र नहीं मिलता। ऐसी दशा में यह मान लेना उचित जान पड़ता है कि यदि समूचे दक्षिण * में नहीं, तो उसके अधिकांश भाग में 'हल प्रणाली' ही प्रचलित थी। इस प्रणाली को कपोल-कल्पित कहना इसलिये भी ठीक नहीं होगा कि इसके अवशेष बृटिश शासन के प्रारम्भ तक मिलते रहे हैं। मुर्शिद कुली खाँ ने इस प्रणाली को एक दम से नहीं बन्द कर दिया, वरन् उसने किसानों को 'हल प्रणाली' नाप प्रणाली तथा बँटाई प्रणाली में से किसी को भी मान लेने की व्यवस्था दी। इस प्रकार स्थान, स्थिति एवम् व्यक्ति भेद से ये तीनों ही प्रणालियाँ दक्षिण में चलने लगीं। जो इलाके पिछड़े हुये थे, उनमें हल प्रणाली ही यथावत् रह गयी, परन्तु शेष इलाकों में अन्य दो प्रणालियों में से कोई एक प्रणाली मानने का आदेश दिया गया। इसमें सन्देह नहीं कि सरकारी कर्मचारियों का झुकाव नाप प्रणाली की ही ओर अधिक था।

दक्षिण में बँटाई की जो प्रणाली चलाई गई थी वह उसी प्रकार की थी जिसे हम प्रथम अध्याय में विभेदपूर्ण प्रणाली कह चुके हैं। इस प्रणाली का अर्थ यह होता है कि लगान की सरकारी मांग हर फसल के लिये एक प्रकार की ही नहीं होती थी, बल्कि खेतों की स्थिति या अन्य परिस्थितियों के कारण घटती बढ़ती रहती थी। जो फसलें वर्षा के पानी पर निर्भर करती थीं, उसका आधा सरकार ले लेती थी, कुओं से सींची जाने वाली फसल का १।३ लगान में लिया जाता था तथा अधिक

---

* मैंने यह दिखाने की कोशिश नहीं की है कि बरार एवम् खानदेश में भी हल प्रणाली प्रचलित थी, परन्तु यदि प्रचलित भी थी, तो भी वह "बरार तथा खान देश में अकबर के समय नसक प्रथा प्रचलित थी" इस विवरण के खिलाफ नहीं होता, बल्कि नसक प्रथा में प्रचलित सामूहिक निर्धारण में हल प्रणाली सर्वाधिक सुविधा पूर्ण होती है। गाँव भर के हल मिला लिये फिर उतने हलों की लगान निर्धारित कर दी।

सिंचाई व श्रम मांगने वाली फसलों जैसे गन्ना इत्यादि पर व्यय किये धन के अनुसार ११४ से ११९ तक लगान ली जाती थी। नहरों से सींचो जाने वाली फसल के लिए भी अलग दर थी, परन्तु अब उसका पता नहीं चलता।

दूसरी ओर जहाँ नाप प्रणाली अपनायी जाती थी, वहां प्रति बीघा लगान सिक्कों के रूप में निर्धारित कर दी जाती थी। इस प्रणाली में उपज का चौथाई भाग ही सल्तनत का भाग था, जो स्थानीय बजारों में प्रचलित रेट से निश्चित की जाती थी। इस प्रकार जिन भागों में वर्षा पर निर्भर रहने वाली फसलें ही अधिक होती थीं, उन स्थानों के किसानों के लिये नाप-प्रणाली अपना लेने के लिए बड़ा भारी आकर्षण उपस्थित किया गया था, क्योंकि बँटाई को छोड़ कर नाप प्रणाली अपना लेने वाले किसान उस दशा में अर्द्धांश स्थान पर चतुर्थांश ही देते, और तब अधिक व्यय व श्रम साध्य फसलों (गन्ना, पपीता इत्यादि) के लिये ही लोग बँटाई को पसन्द करते। उक्त विवरण में यह नहीं कहा गया है कि निर्धारण प्रणाली चुनने का अधिकार किसानों को दिया गया था, परन्तु जहाँ किसानों को अधिक से अधिक सुविधा देकर कृषि-विकास का प्रश्न है, वहाँ अवश्य ही किसानों को ही मनमानी प्रणाली चुनने का अधिकार दिया गया होगा। अकबर ने भी अपने शासन काल में उत्तरी भारत के उजाड़ इलाकों में कृषि-विकास के लिए इसी प्रकार की प्रथा अपनाई थी।

भारतीय इतिहास में विभेदपूर्ण प्रणाली के दर्शन सर्वप्रथम इसी समय में होते हैं। यों सिन्ध में भी थोड़े दिनों के लिये यह प्रणाली प्रचलित हो गयी थी, जिसका वर्णन हम पहले अध्याय में कर चुके हैं। हम यह भी देख चुके हैं कि भारतीय लगान-निर्धारण-व्यवस्था में तथा इस्लाम-लगान निर्धाण-व्यवस्था में यही मुख्य अन्तर है। मुर्शिद कुली खाँ स्वयम् एक विदेशी था, शाहजादा औरंगजेब कट्टर सुन्नी मुसलमान था, जो हर दशा में कुरान के नियमों का पालन करना अपना धर्म समझता था। फिर इस्लामी व्यवस्था क्यों न कायम होती। यह भी हो सकता है कि अलीमर्दान की अधीनता में जिस समय मुर्शिद फारस में काम कर रहा था, इसी समय उसने इस प्रणाली का अनुभव प्राप्त किया हो। स्वयम् अली मर्दान ने कितनी ही बातों में अपने फारस में प्राप्त अनुभव का सहारा लिया था। इस बात का ठीक ठीक पता नहीं चलता कि यह व्यवस्था कितने भूभागों में कितने समय तक प्रचलित रही, परन्तु उसी विवरण में आगे कहा गया है कि मुर्शिद कुलो खाँ द्वारा दी गई सुविधाओं के कारण ज्यादातर भागों में किसानों ने नाप प्रणाली को ही अपनाया। निस्सन्देह किसानों के लिये नाप प्रणाली सर्वोत्तम थी भी। यह पता नहीं चलता कि मुर्शिद कुली खाँ के दिमाग में चतुर्थांश लेने की बात कहां से आ गयी, क्योंकि उस समय

समूचे उत्तरी भारत में अर्द्धांश लगान ही ली जाती थी। ऐसी दशा में मुर्शिद कुली खाँ की प्रशंसा ही करनी पड़ती है कि उसने किसानों को सुविधा देने के लिए तथा उन्हें खेती की ओर आकर्षित करने के लिये लगान की दर १।४ ही रक्खी। उसकी कर्मठता का अलंकारात्मक वर्णन देते हुये कहा जाता है कि जहां कहीं पैमाइश करने वालों तथा किसानों या मुखियों में विवाद की नौबत आ जाती वहां मुर्शिद कुली खाँ रस्सी का एक छोर स्वयम् पकड़ कर पैमाइश का कार्य करने लगता था। जो भी हो उसी योजना को सफल रूप से कार्यान्वित करने के कारण दक्षिण में उत्तरोत्तर कृषि विकास होता गया, उपज वृद्धि होती गयी तथा शाही खजाने में पहुँचने वाली लगान की रकम भी बराबर बढ़ती रही।

अगले पचास वर्षों में यह प्रदेश मराठों के हाथों में जा पड़ा। मराठों की कृषि व्यवस्था हमारे क्षेत्र में नहीं आता। दक्षिण का दक्षिणी पूर्वी भाग आसफ जाह निजामुलमुल्क के कब्जे में आ गया, जिसने हैदराबाद को राजधानी बनाकर अपना राज्य स्थापित किया। यही आसफजाह निजाम राज्य का बानी है, जिसे उसने अपनी शक्ति के बल पर नहीं बल्कि चालाकी के बल पर ले लिया था, और आगे चलकर हम देखेंगे कि यदि निजाम का यह राज्य न होता तो भारत में क्या बंगाल में भी अंगरेजों का पैर न जम पाया होता।

दक्षिण के प्रदेशों में अभी गोलकुन्डा तथा बीजापुर का विवरण देना शेष है, जो अब भी मुगल साम्राज्य के बाहर थे, यद्यपि वे मुगल शाहंशाह को कर दिया करते थे। जिस समय मुर्शिद कुली खाँ दक्षिण के अन्य प्रदेशों में अपनी पुनर्गठन योजना कार्यान्वित कर रहा था तब भी ये दोनों राज्य केवल कर देते थे, अन्यथा अपने आन्तरिक मामलों में वे एक दम से स्वतंत्र थे। गोलकुन्डा के सम्बन्ध में १६ वीं शताब्दी की जानकारी दे सके, ऐसी तो कोई सामग्री हमें नहीं मिल सकी, परन्तु सत्रहवीं शताब्दी के सम्बन्ध में पता चलता है कि इस प्रदेश में निकृष्टतम ढंग की सीरदारी प्रथा प्रचलित थी, जिसमें लगान-निर्धारण नीलाम की बोलियों द्वारा हुआ करता था। जो व्यक्ति सर्वाधिक रकम की बोली बोलता उसी को साल भर के लिये लगान वसूल करने का अधिकार दे दिया जाता था। जिन प्रलेखों को हमने अपने विवरण का आधार बनाया है, उनके लिखे जाने के समय तक इस व्यवस्था को प्रचलित हुए पर्याप्त समय बीत चुका था यथा यह व्यवस्था पुरानी हो चली थी। पिछले पृष्ठों में हमने कहा है कि दक्षिण में भी १४ वीं शताब्दी में सीरदारी की प्रथा थी, परन्तु हम देखते हैं कि सत्रहवीं शताब्दी में यह प्रथा पूरी तरह से तथा पूरे क्षेत्र में प्रचलित थी। इस विषय में जितने भी इतिहास ग्रंथों को देखने का अवसर मुझे

मिल सका है, उनमें से किसी में किसी प्रकार के अन्य परिवर्तन का वर्णन नहीं है। ऐसी दशा में यह अनुमान लगा लेना गलत नहीं होगा कि इस प्रदेश में सीरदारी प्रथा ही अपरिवर्तित रूप से चालू रही, यद्यपि यह किसी भी प्रकार प्रमाणित नहीं किया जा सकता।

इस प्रकार नीलाम द्वारा लगान-निर्धारण में जो व्यक्ति सबसे अधिक रकम देने की बोली बोलता था, उसी को लगान वसूली का अधिकार मिल जाता था। सबसे अधिक रकम देने वाला व्यक्ति सबसे अधिक वसूल भी करेगा। ऐसी दशा में किसानों पर लगान भार अत्यधिक बढ़ जाना स्वाभाविक था। खैरियत यही थी कि सीरदार लोग भी इस बात से अवश्य भयभीत रहते थे, कि अधिक दबाव पड़ने पर कहीं किसान लोग भाग न जाँय और इस प्रकार उनकी सारी लगान बिना वसूली के ही पड़ी रह जाय। कभी कभी अत्यधिक दबाव पड़ने पर किसान लोग विद्रोह भी कर देते थे। इस बात का भी थोड़ा बहुत डर सीरदारों को रहता था, अन्यथा किसानों की रक्षा नहीं थी। ऐसी दशा में यह पता लगाना अवश्य ही कठिन काम था कि कौन सीरदार किसानों से उपज का कौन सा भाग लगान में लेता था। इसीलिये शायद किसी लेख में इसका समावेश भी नहीं किया गया है। सीरदार को यह निश्चय तो रहता नहीं था कि उसे अगले साल भी लगान वसूली का अवसर दिया जायगा, इसलिये वह साल भर में जितना वसूल कर सकता था, उतना ही वसूल करने का यथासाध्य प्रयास करता था। उसे किसानों के भविष्य का ध्यान रखने की न तो आवश्यकता ही थी, न इच्छा ही। अगली शताब्दी में भी यह सारा प्रदेश निजाम के अधिकार में चला गया। उस राज्य के सम्बन्ध में भी किसी तत्कालीन लेखक ने कलम नहीं उठाया। इतिहासकारों का मत है कि निजाम के राज्य में भी पूरी १८वीं शताब्दी में सीरदारी की प्रथा ही प्रचलन में रही। यह प्रथा निजाम द्वारा शासित प्रदेश में तब तक चालू रही, जब तक कि सन् १८५३ ई० में या उसके तुरन्त बाद ही सालारजंग ने इस व्यवस्था को समाप्त न कर दिया।

अब केवल बीजापुर का विवरण देना शेष रह गया है। इस राज्य के सम्बन्ध की सूचनायें बहुत ही कम है। जो हालैंडवासी व्यापार करने के लिये यहाँ आये थे, उनमें से कुछ ने तत्कालीन स्थिति पर जो थोड़ा बहुत लिखा है, उसी में प्रसंगान्तर के रूप में दो एक बातों की जानकारी मिल जाती है। उन विवरणों से पता चलता है कि बीजापुर राज्य में भी सत्रहवीं सदी में सीरदारी की ही प्रथा प्रचलित थी, परन्तु यह सूचना भी इतनी अपूर्ण है कि जितना विवरण गोलकुंडा के विषय में दिया गया है, बीजापुर के सम्बन्ध में उतना भी सम्भव नहीं है। सत्रहवीं शताब्दी के अन्त में ही यह

प्रदेश मराठों के राज्य में मिला लिया गया। तत्कालीन विवरणों में अटकलबाजियाँ लगाने से कोई लाभ नहीं है।

सन् १७८५ ई० में टीपू सुल्तान ने अपने राज्य मैसूर के कुछ भागों के लिये थोड़े से नियम जारी किये थे, नियमों के अध्ययन से उस भाग के सम्बन्ध में कुछ जानकारी मिलती है। मैंने इस बात का असफल प्रयत्न किया कि उन नियमों की फारसी प्रतिलिपि मिल जाय, परन्तु मुझे केवल उन अनुवादों पर ही भरोसा रखना पड़ा जो तब तक बँचे हुये थे। उन अनुवादों में जो पारिभाषिक शब्द मिलते हैं, उनके आधार पर उस भाग में प्रचलित व्यवस्था यह थी कि, इस भूभाग के किसान ठेकेदारी या बँटाई प्रथा के अनुसार लगान देते थे। बँटाई प्रथा में उपज का आधा भाग सरकार ले लेती थी। किसान लोग प्रायः बँटाई प्रथा को ही पसन्द करते थे, क्योंकि कलेक्टरों (लगान वसूल करने वालों) को यह आदेश था कि जोत की भूमि पहले से यदि बढ़े नहीं तो कम नहीं होने पावे और इस आदेश के होते हुये कोई भी कलेक्टर किसानों के साथ सख्ती न कर पाता होगा। साथ ही आवश्यक सुविधाओं का भी प्रबन्ध करता रहा होगा। इन नियमों में इस पर बल दिया गया था कि किसानों का मुख्य कर्तव्य है अन्न उपजाना। इसलिये वे इस कार्य में ढिलाई न करें। उपज वृद्धि भी कृषक के आवश्यक कर्तव्यों में थी और इस कर्तव्य पूर्ति के लिये किसानों को अग्रिम धन तथा आवश्यक रियायतें भी देने की व्यवस्था थी। मुखियों का कर्तव्य था कि वे कृषिवृद्धि एवम् उपजवृद्धि का यथासम्भव प्रयत्न करें और यदि यह सिद्ध हो जाता था कि मुखिया ने अपने कर्तव्य पूर्ति में लापरवाही की है, तो उसे कोड़ों से भी पीटा जा सकता था। इस बात पर भी विशेष बल दिया गया था कि किसानों को सिंचाई तथा अन्य कृषि कार्यों में सुविधा देना राज्य का कर्तव्य है। साथ ही इस बात की भी व्यवस्था थी कि इन सुविधाओं का पूर्ण उपभोग किसान अवश्य करें, परन्तु राज्य के अनुशासन पर अवश्य ध्यान दें। किसानों को इस बात के लिये उत्साहित किया जाता और इससे काम न चलने पर उन पर राजकीय दबाव भी डाला जा सकता था कि वे प्रति बीघा उपजवृद्धि का प्रयत्न तो करें ही, साथ ही वे परती पड़े खेतों को भी जोत में लाने का प्रयत्न करें। कलेक्टर का यह भी कर्तव्य था कि यदि वह देखें कि उसके क्षेत्र की समूची कृषि योग्य भूमि जोतने के लिये किसानों की वर्तमान संख्या पर्याप्त से कम है, तो वे नये किसानों को भूमि में बसने एवम् जोतने के लिये आकर्षित करें। यदि कलेक्टर के क्षेत्र का कोई किसान भाग जाय और इस प्रकार हलों की संख्या में कमी आ जाय तो कम पड़ गये प्रति हल के लिये कलेक्टर को जुर-

माना देना पड़ता था। ऐसी दशा में कलेक्टर के व्यवहार में सख्ती का न होना स्वाभाविक है।

कलेक्टर को आदेश था कि यह प्रत्येक किसान से प्रत्यक्ष सम्पर्क स्थापित करें और जितने भी कृषि व लगान सम्बन्धी कार्य हों, उन सब को प्रत्यक्ष सम्पर्क द्वारा ही हल करें। आगे चल कर टीपू द्वारा प्रचलित नियमों के ही प्रकाश में यह जानकारी प्राप्त होती है कि देश में सीरदारी की भी प्रथा सामान्य रूप से थी। कलेक्टर को सरकारी खजाने से वेतन देने की व्यवस्था नहीं थी। वह अपने क्षेत्र के किसानों से लगान रूप में सरकारी दर के अनुसार जो कुछ भी वसूल कर पाता था, उसी रकम पर उसे कुछ प्रतिशत कमीशन मिला करता था। इसी कमीशन में प्राप्त रकम में से वह अपने अधीनस्थ उन कर्मचारियों का वेतन भी देता था, जो राज्य की स्वीकृत पर रक्खे जाते थे। इस प्रकार कलेक्टर का आर्थिक स्वार्थ भी इसी में था कि उसके क्षेत्र की अधिक से अधिक भूमि कृषिगत हो तथा प्रति बीघे उपज भी अधिक से अधिक बढ़े। इन नियमों से तो यही परिणाम निकाला जा सकता है कि देश की अधिकांश भूमि पर लगान निर्धारण बँटाई प्रथा द्वारा ही होता था, क्योंकि न तो ठेकेदारी प्रथा में और न सीरदारी प्रथा में ही कलेक्टरों की इतनी आवश्यकता पड़ सकती थी और यदि पड़ती भी तो उनके कर्तव्यों की सूची इतनी विस्तृत न होती थी।

उपरोक्त नियमों के सम्बन्ध में तथा पिछले अध्यायों में जिनकी विवेचना की गयी है उन अनेक नियमों के सम्बन्ध में यही बात सर्वत्र लागू होती है कि इनकी सफलता और असफलता प्रशासन की शक्ति एवम् उसके रुख पर ही निर्भर करती थी। यदि ऊपर का सरकारी निरीक्षण व नियंत्रण अच्छा रहा तो एक सुयोग्य तथा ईमानदार कलेक्टर इन सभी नियमों का कार्यान्वयन सुचारु रूप से करके नियमों के उद्देश्यों की सम्यक पूर्ति सफलतापूर्वक कर सकता था, परन्तु निरीक्षण और नियंत्रण के अभाव में कहीं कलेक्टर भी ईमानदार न हुआ, तो किसानों की दुर्दशा का अन्त न रहता होगा। इन नियमों में कितनी ही पाबन्दियाँ लगायी गयी हैं, जिनसे यह पता चलता है कि सुल्तान को सन्देह भी था और आशा भी कि कर्मचारी लोग अवश्य ही इन नियमों से अनुचित लाभ उठावेंगे। किसानों की सुखपूर्ण स्थिति का आधार एक और भी है और वह है भूमि के लिये प्रतिद्वन्दिता का होना या न होना, क्योंकि जब तक किसानों को प्रतिद्वन्दिता का सामना नहीं करना पढ़ता तथा वह जहाँ भी जाय वहीं जीवनयापन के लिये योग्य भूमि सरलता से मिलती रहे, तो उस पर अत्याचार करने का साहस ही कौन कर्मचारी करेगा।

बंगाल

बङ्गाल प्रान्त की ग्रामीण व्यवस्था का इतिहास भी विभिन्न है। उसी प्रान्त के कलकत्ता शहर में रह कर ही ईस्ट इंडिया कम्पनी के कर्मचारियों ने महकमा लगान की पारिभाषिक शब्दावली से परिचय प्राप्त किया था और उसे वे अपने साथ ही उत्तरी भारत के प्रशासन में उपयोग करने के लिये ले गए थे। मि० हाल्ट मेकेन्जी ने प्रशासन में प्रयोग होने वाले शब्दों तथा उनके अर्थों के विषय में जिस गड़बड़ी का संकेत दिया है, वह इसी शब्दावली के प्रयोग से पैदा हुई थी। यदि समूचे बङ्गाल प्रान्त का विवरण हम यहां देने का प्रयत्न करें तो आईन अकबरी के सिवा सहारा देने वाला अन्य कोई भी ऐतिहासिक ग्रन्थ नहीं मिलता। आईन के अनुसार अकबर ने बङ्गाल की उसी लगान व्यवस्था को प्रचलित रक्खा, जो इस प्रान्त के मुगल साम्राज्य में मिलाये जाने के समय प्रचलित थी। आईन के पूर्ववर्ती ग्रंथों से भी कुछ विवरण प्राप्त होता है, परन्तु वे सभी विवरण हुगली नदी के किनारों पर बसे हुये कुछ गांवों से ही सम्बन्धित हैं। ये गांव भी किसी वर्ग विशेष के न होकर सामान्य गाँवों जैसे ही थे। इन गांवों की गाथा का विवरण देना इसलिए आवश्यक है कि इन्हीं विवरणों में बृटिश शासकों की उन कठिनाइयों का रहस्य निहित है, जो उन्हें दूसरे प्रान्तों के प्रशासन में उठानी पड़ी थीं। जहां तक मेरी समझ में आता है, तथ्य यह है कि बृटिश शासकों का पहला साबिका उस भूभाग की ग्रामीण-व्यवस्था से पड़ा जहां की पारिभाषिक शब्दावली उत्तरी भारत की शब्दावली से भिन्न थी और बाद में आने वाली कठिनाइयां इस बात का परिणाम थी कि इसी भूभाग की शब्दावली का प्रयोग उस भूभाग में किया गया, जहां वे पहले कभी प्रयोग में न थीं।

बङ्गाल की कहानी का प्रारम्भ होता है सोलहवीं शताब्दी से जब सातगांव नामक बन्दरगाह का पतन प्रारम्भ हुआ और वहां के निवासी वहाँ से स्थायी तौर पर खिसकने लगे। अधिकांश हटने वाले लोग हुगली की ओर ही आये जो एक व्यापार केन्द्र था तथा उस समय पुर्तगालियों के अधिकार में था। यहां की अधिकांश भूमि निर्जन पड़ी हुई थी, तथा जिस समय यह भूभाग मुगल साम्राज्य में मिलाया गया, शायद उसके पहले से ही इस प्रदेश का कुछ भाग बहुत कम लगान पर 'इजारा' के रूप में पुर्तगालियों के हाथों में था। उस समय में उस प्रदेश की जैसी परिस्थितियां थीं, उनसे यही अनुमान किया जा सकता है कि इजारा में दी गयी भूमि परती पड़ी हुई थी तथा पुर्तगालियों को बहुत थोड़ी लगान पर वह भूमि इसलिये दे दी गयी थी कि वे उसे पूर्णतया कृषि योग्य बना दें। यह लगान न तो भूमि पर थी और न उपज पर।

पुर्तगालियों ने कुछ सालाना लगान देने का वादा किया था, इसीलिये इस भूमि का पट्टा उनके हक में दे दिया गया था। इन पट्टों का स्वयमेव खातमा हुआ उस समय जब शाहजहां ने नाराज होकर पुर्तगालियों को हुगली से निकाल दिया। शाहजहां के इन पुर्तगाली विरोधी आदेशों में इस इस बात की कड़ी हिदायत थी कि इनका सर्वनाश कर दिया जाय तथा वे कहीं भी न रहने पावें। फौज के विशेष दस्ते इधर-उधर के गाँवों में इस लिये भेजे गये थे कि "इन ईसाई इजारादारों, को तथा उनके असामियों को जहन्नुम में भेज दिया जाय।" इसका तात्पर्य शायद यह है कि न केवल पुर्तगाली ही वरन् उनके ईसाई आसामी भी बादशाह के क्रोध भाजन थे।

जब कि सात गाँव से हटने वालों में अधिकांश हुगली की ओर आये थे, कुछ हिन्दू परिवार नदी के किनारे ही किनारे और भी दक्षिण की ओर चले गये थे और उस प्रदेश में दो बस्तियाँ आबाद की थीं, जिनका नाम था गोबिन्दपुर तथा सूतानटी। उन्होंने ही या उनके वंशजों ने उसी स्थान के समीप पहले से ही बसे हुये गाँव कलकत्ता पर अधिकार पा लिया था। इन्हीं तीन स्थानों को ब्रिटिश शासन के प्रारम्भिक सरकारी कागजों में "तीन क़स्बों" के नाम से लिखा गया है। जब सूतानटी गाँव में फोर्ट विलियम नामक अंग्रेजी किले का निर्माण हो रहा था, तो अंग्रेज व्यापारियों की स्वाभाविक इच्छा हुई की किले के आसपास की थोड़ी सी भूमि भी प्राप्त कर ली जाय। अतएव सन् १६९८ ई० में प्रान्तीय शाही प्रतिनिधि की स्वीकृति से अंग्रेजों ने तीनों कस्बों को खरीद लिया। बिक्री का जो दस्तावेज लिखा गया, उसमें उनके हाथ भूमिपति का अधिकार ही बेंचा गया था। चूंकि दस्तावेज में भूमिपति के लिये जमीन्दार शब्द का प्रयोग किया गया था, अतः अंग्रेजों ने समझा कि उन्होंने जमीन्दारी खरीदा है। उस समय के कम्पनी के कर्मचारी जमीन्दारी का अर्थ 'कर लगाने एवम् वसूल करने के अधिकार' की मान्यता के रूप में समझते थे, अतः उन्होंने समझ लिया कि अब वे इन तीनों कस्बों से कर वसूल कर सकते हैं, तथा जरूरत पड़ने पर उसका पट्टा दूसरों को भी दे सकते हैं और उनका इस प्रकार का विचार भी था।

इस क्रय-विक्रय के मामले में जमीन्दारी शब्द के दो अर्थों में एक ही ग्रहण किया जा सकता है। प्रथम अर्थ यह हो सकता है कि जमीन्दार भूमि पर अधिकार (कब्जा) रखता है, परन्तु वह अधिकार किस बल पर रखता है, इसका स्पष्टीकरण नहीं हो सका है और शायद यही अर्थ उस समय में तथा उस प्रदेश में प्रचलित भी था। इस शब्द का दूसरा अर्थ यह हो सकता है कि जमीन्दार को किसी मुसलमान शासक द्वारा किसी विशेष प्रकार का (यद्यपि उसके नाम का पता नहीं चलता) स्वामित्व प्रदान किया गया था। उत्तरी भारत के ग्रन्थों में आये हुये जमीन्दार शब्द

की संगति उपरोक्त दोनों ही अर्थों से नहीं बैठती। उत्तरी भारत में चौदहवीं से अठारहवीं शताब्दी तक जमीन्दार शब्द उसी अर्थ में प्रयोग में आता था, जिस अर्थ में हमने सरदार शब्द का प्रयोग किया है। गोविन्दपुर तथा सूतानटी गाँव के बसाने वालों को सरदारी के अधिकार तो मिले नहीं रहे होंगे क्योंकि सरदार तो अपने क्षेत्र का पूरा बादशाह ही होता था तथा उसके मुख से निकले आदेशों में कानून की शक्ति निहित रहती थी। केन्द्र के कर्मचारियों ने भी इस विक्रय को जमीन्दारी का विक्रय नहीं माना था। सन् १७१७ ई० में ईस्ट इंडिया कम्पनी ने तत्कालीन मुगल बादशाह फर्रुखसियर से एक फरमान प्राप्त किया था, जिसके अनुसार उक्त तीनों कस्बों पर कम्पनी के अधिकार को मान्यता दी गयी थी, साथ ही उसे और भी भूमि प्राप्त करने का अधिकार दिया था। उस फरमान के जो अनुवाद आज तक बचे हैं, उनमें अंग्रेजों को यह अधिकार दिया गया है कि उन तीनों कस्बों पर उसी तरह का अधिकार रख सकते हैं, जैसे किसान अपने खेतों पर अधिकार रखता है। इस फरमान में जमीन्दारी शब्द के बदले तालुकदारी शब्द आया है, जो उस समय तक समूचे उत्तरी भारत में अधिकार का द्योतक था, परन्तु उस अधिकार की कभी भी व्याख्या नहीं की गयी। उपरोक्त विवेचन का सारांश यह हुआ कि कलकत्ता में जिस अर्थ के लिये जमीन्दार शब्द प्रयोग में आता था, दिल्ली में उसी अर्थ में तालुकेदार शब्द इस्तेमाल किया जाता था। इस प्रकार उत्तरी भारत की शब्दावली के अनुसार इन तीनों गांवों को खरीद कर ईस्ट इंडिया कम्पनी उन तीनों गांवों का तालुकेदार बन गयी। अंग्रेज व्यापारियों ने जमीन्दार शब्द को ही कायम रक्खा तथा जो पद इन गांवों के प्रबन्ध के लिये बना, उसे ग्रहण करने वाले को जमीन्दार ही कहते रहे। जमीन्दार की सहायता के लिये जो भारतीय नौकर रक्खे गये थे, उन्हें वे लोग 'काला जमीन्दार' (ब्लैक जमीन्दार) कहते थे। यहीं से एक नई बात का प्रारम्भ होता है यानी यहीं से अंग्रेजों के मस्तिष्क में यह बात आनी शुरू हो गई कि जो लगान की वसूली करे, वही जमीन्दार है। यही बात कम्पनी के कागजों से भी सिद्ध होती है। इस जमीन्दार को वेतन भी दिया जा सकता है और कमीशन भी। जिस प्रकार उत्तरी भारत में सरदारों का पद पैत्रिक उत्तराधिकार सम्पन्न हो गया था, उसी प्रकार इन लगान वसूल करने वाले जमीन्दारों का पद भी धीरे धीरे पैत्रिक उत्तराधिकार सम्पन्न हो गया।

ऐसी दशा में इन तीनों कस्बों के ऊपर कम्पनी का स्वामित्व किस प्रकार का था इसका अनुमान जमीन्दार शब्द से नहीं लग सकता। क्योंकि उम्मीन्दार शब्द सामान्य अर्थों मे ही व्यवहृत हुआ है न कि विशिष्ट पारिभाविक रूप में। कम्पनी

के रिकार्ड्स को देखने से पता चलता है कि कम्पनी के जमीन्दार पट्टा भी दिया करते थे, तथा ऊँची से ऊँची दर पर पट्टे देते थे। यह दर कम्मनी के ही उच्चाधिकारियों द्वारा तय की गयी थी। जमीन्दारों का दूसरा कर्त्तव्य था उस क्षेत्र की लगान वसूल करना तथा गांवों का सामान्य प्रबन्ध करना। कम्पनी इस भूमि के लगान के रूप में शाही खजाने में, या उस क्षेत्र के जागीरदार को बारह सौ नब्बे रुपया सालाना तीन किस्तों में चुकाया करती थी। यह लगान वास्तव में स्थानीय मुहस्सिल को दे दी जाया करती थी, जो इस रकम को शाही खाते में या जागीरदार के खाते में जमा कर देता था। इतना तो स्पष्ट ही है कि कम्पनी को यह भय नहीं था कि उसको प्रतिवर्ष राजकीय लगान निर्धारण की प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। न उसकी वार्षिक लगान घट सकती थी और न बढ़ ही सकती थी। कम्पनी द्वारा देय धन निश्चित तथा अपरिवर्तनीय था। मुझे ऐसा सन्देह होता है कि शायद कम्पनी को उसी प्रकार का पट्टा दिया गया था जैसा कि इस प्रदेश में इजारादारों को दिया जाता था। इस पट्टे में शायद एक विशेषता यह भी थी कि यह इस लिये दे दिया गया था कि खाली पड़ी भूमि का कुछ उपयोग हो सके। वास्तव में कम्पनी स्वयम् तो खेती करती नहीं थी। वह अपनी ओर से भारतीय किसानों को ही पट्टा देकर खेतों को जोतवाती थी तथा उनसे लगान वसूल करती थी। शाहजहाँ के आदेश से इस बात का भी अनुमान लगाया जा सकता है कि कम्पनी ने ये पट्टे उन भारतीय ईसाइयों को दे रक्खे थे, जो अभी नये नये ईसाई मजहब में आये थे। पट्टे को लेते समय कम्पनी ने शायद यह भी वादा किया था किया था कि वे इन तीनों कस्बों की उन्नति का पूर्ण प्रयत्न करेंगे। इस वादे से भी पता चलता है कि उस समय में भी भूमि के लिये किसी प्रकार की प्रतिद्वन्दिता का प्रारम्भ नहीं हुआ था तथा पट्टा दिये जाने के समय तक भी कृषि योग्य बहुतसी भूमि खाली पड़ी हुई थी। उस समय की सरकार द्वारा किये गये किसी भी प्रबन्ध के पहले 'स्थायी' शब्द का प्रयोग करना शायद ठीक न होगा, परन्तु इतना तो कहा ही जा सकता है कि जिस समय कम्पनी को यह पट्टा दिया गया था, उस समय तक कई वर्षों तक के लिये स्थायी लगान निर्धारण की प्रथा का श्रीगणेश ही नहीं हुआ वरन् वह स्थापित भी हो चुकी थी। इस प्रकार के कार्यव्यापार में यह प्रश्न भी नहीं उठाया गया था कि इस भूभाग की लगान निकट भविष्य में बढ़ भी सकती थी। कम्पनी का स्वामित्व चाहे जिस प्रकार का रहा हो, परन्तु इतना तो स्पष्ट है कि इस पट्टे ने ही कम्पनी के कर्मचारियों को जमीन्दार शब्द का ज्ञान दिया। वह पट्टा चाहे इजारादारी का रहा हो या किसी और किस्म का, पर इतना निश्चय है कि इसी पट्टे के जरिये कम्पनी के कर्मचारियों के दिमाग में यह बात आयी कि जो

भी व्यक्ति या संस्था जिस क्षेत्र की लगान निर्धारण व वसूली का काम करे, वही व्यक्ति था संस्था उस क्षेत्र का जमीन्दार होता है, जिसका कर्तव्य है कि वह खेतिहरों से लगान वसूल करके सरकार को उतनी लगान दे दिया करे, जितनी रकम प्रतिवर्ष देने का वादा किया गया हो। जमीन्दार शब्द के इसी अर्थ को बृटिश प्रशासकगण उत्तरी भारत में अपने साथ ले गये थे।

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या उपरोक्त व्यवस्था केवल तीनों कस्बों तक ही सीमित थी या उसका प्रचलन समूचे बंगाल प्रान्त में था। इस प्रश्न का समुचित उत्तर दे पाना मेरे लिये सम्भव नहीं है। तत्कालीन ऐतिहासिक साधनों से इस बात का निर्णय भी नहीं हो पाता। इस भूभाग का सत्रहवीं तथा अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों के स्थानीय इतिहास के अध्ययन करने का अवसर ही मुझे नहीं मिल सका। ऐसी दशा में मेरे लिये यह बता पाना असम्भव है कि आईन अकबरी की समाप्ति के बाद तथा सन् १७६५ ई० में कम्पनी द्वारा बंगाल की दीवानी प्राप्त करने के पहले के समय में बंगाल की कृषि एवम् ग्रामीण-व्यवस्था में कहाँ क्या हो रहा था। यदि हम यह मान लेते हैं कि सर जान शोर ने उस समय का जो पिछला विवरण दिया है, वह ज्यों का त्यों सही है, तो हमें यह भी मानना पड़ेगा कि जमीन्दार शब्द का जो विस्तृत अर्थ कलकत्ता में समझा जाता था, वही सारे बङ्गाल में प्रचलित था। सर जान शोर ने भी माना है कि अकबर के समय में जमीन्दर शब्द सर्दार का बोधक था, अर्थात् यह व्यवस्था मुगलकाल की पूर्ववर्ती थी तथा पुश्त दर पुश्त चलती रहती थी, यदि शाही आदेश से वह अधिकार बीच में ही न तोड़ दिया जाय। इतना अवश्य होता था कि जमीन्दार की मृत्यु के बाद उसके लड़के को शाहंशाह से फिर से स्वीकृति लेनी पड़ती थी, परन्तु जब तक परिस्थितियां अत्यधिक विपरीत न हों तब तक स्वीकृति आसानी से मिल जाया करती थी। बंगाल के अधिकांश जमीन्दारों का अस्तित्व अकबर के शासन काल के बाद का है। ये जमीन्दार लोग पहले शाही कर्मचारी होते थे, जो लगान वसूल करने के परिश्रम के बदले में शाही खजाने से वेतन प्राप्त करते थे। धीरे धीरे इन्हीं कलेक्टरों ने सीरदारों की शक्ल अख्तियार कर ली। अब वे बजाय नौकर के व्यापारी बन गये, अर्थात् वे सल्तनत से वेतन नहीं लेते थे, बल्कि सरकार को एक निश्चित रकम देने का वादा करके वे लगान वसूली का अधिकार प्राप्त कर लेते थे तथा अपने क्षेत्र की भूमि का प्रबन्ध स्वयम् किसानों से करके उनसे लगान की वसूली कर लिया करते थे। निश्चित रकम सरकार को देकर शेष का उपभोग वे स्वयम् ही करते थे। धीरे धीरे ये ही सीरदार पुश्त दर पुश्त यही काम करते करते सरदारी की ओर बढ़ने लगे तथा कालान्तर में सरदार वर्ग में समाहित हो गये। पहले

जो परम्परा थी, वही अब अधिकार बन गया अर्थात् पहले यह सोच कर कि, पिता द्वारा किये गये कार्य का अनुभव पुत्र को भी होगा, उसी को लगान वसूली का अधिकार दे दिया जाता था, परन्तु अब योग्यता या अनुभव हो या न हो, परन्तु चूँकि वह सरदार का बेटा है अतः उसे अवश्य हो सरदार का पद मिलना चाहिये, ऐसा माना जाने लगा। इस प्रकार कलेक्टर, सीरदार और सरदार सब एक ही वर्ग में मिल जुल गये। सर जान शोर द्वारा दिये गये विवरण से भी यही परिणाम निकलता है कि एक ही समय में उत्तर भारत के तालुकेदार ही बङ्गाल में जमीन्दार कहे जाते थे। उन सब का अपने क्षेत्र पर अधिकार होता था, अब उस अधिकार को चाहे जितना स्थायित्य व मान्यता मिले।

लगान-निर्धारण के बारे में यह दृष्टिकोण सम्भव मालूम होता है, परन्तु यह मान लेना इतना आसान नहीं है कि जेम्स ग्रान्ट के परिश्रम के परिणाम स्वरूप उसी प्रकार का निर्धारण कलकत्ता में भी होने लगा, जैसा हुगली के किनारे के प्रदेशों में प्रचलित था। यह स्मरण रखना चाहिये कि इस विषय पर इधर जो कुछ लिखा गया है, उसका अधिकांश जेम्स ग्रान्ट को कृतियों पर ही आधारित है। स्वयम् ग्रान्ट के ही अनुसार उसने आसफ जाह द्वारा स्थापित राज्य की राजधानी हैदराबाद में ही रह कर अध्ययन किया था और वहीं उसे मुर्शिदकुली खाँ द्वारा किये गये लगान के पुनर्गठनात्मक कार्यों का विवरण देखने को मिला, क्योंकि जिस भूभाग में मुर्शिदकुली खाँ ने काम किया था, उसका भी कुछ भाग निजाम के राज्य में आ गया था। "उत्तरी सरकार के इलाकों के राजनैतिक सर्वेक्षण" नामक अपना विवरण उसने सन् १७८४ ई० में लिखा, उसमें उसने मुर्शिदकुली खाँ द्वारा किये गये कार्यों का यथातथ्य विवरण दिया है परन्तु उसने यह लिख कर एक भारी भूल कर दी कि मुर्शिदकुली खाँ ने उन कार्यों का अन्धानुकरण किया है जो अकबर के समय में राजा टोडरमल द्वारा उत्तरी भारत में किये गये थे। थोड़े ही दिनों बाद उसने "बंगाल का ऐतिहासिक एवम् तुलनात्मक अधिक विश्लेषण" प्रस्तुत किया, जो एक सुप्रसिद्ध कृति है तथा जिसमें उसने उपरोक्त सर्वेक्षण में निकाले गये परिणामों का प्रयोग किया है। इस कृति में उसने सर्वत्र यही तर्क दिया है कि बंगाल में जो कुछ लगान-व्यवस्था सम्बन्धी कार्य टोडरमल ने किया था, दक्षिण में मुर्शिदकुली खाँ ने उसी का अन्धानुकरण किया।

जेम्स ग्रान्ट द्वारा प्रस्तुत विवरण के आधार पर यदि हम बंगाल के लगान-निर्धारण का इतिहास देना चाहें तो वह इस प्रकार का होगा :—

(१) सन् १५८२ ई० के आसपास राजा टोडरमाल ने बङ्गाल प्रान्त में लगान व्यवस्था का नये सिरे से संगठन किया जिसमें लगान की माँग की यह व्यवस्था

की गई कि किसानों से उनकी औसत उपज का चतुर्थांश लगान रूप में माँगा जाय। माँग का स्तर कायम करने के लिये तथा निर्धारित लगान की वसूली करने के लिये जमीन्दारों की मदद ली गई। ये जमींदार लोग प्रतिवर्ष एक निश्चित भूभाग के लगान निर्धारण तथा लगान की वसूली के लिये ठेकेदार के तौर पर नियुक्त किये जाते थे। इन्हें राज्य की ओर से कोई वेतन न मिल कर वसूल की गई रकम पर कमीशन मिला करता था तथा साथ ही छोटा सा भूमिखण्ड गुजर बसर के लिये इन्हें मिला करता था, परन्तु यह प्रबन्ध इस प्रकार किया जाता था कि जमीन्दार की कुल आय उस क्षेत्र की समूची लगान की माँग के दशमाँग से अधिक नहीं होती थी।

(२) लगान की इस माँग में सन् १६५८ ई० में शाहशुजा ने फिर से सुधार किया, परन्तु उसने माँग का आधार अपरिवर्तित ही रक्खा। लगान की मात्रा में (दर में नहीं) कुछ कारणों से (कारण नहीं समझाया गया है) कुछ वृद्धि हो गई। उस समय तक जो भाग जीत कर या अन्य किसी प्रकार से बंगाल में सम्मिलित कर लिए गए थे, उनमें भी यही व्यवस्था लागू की गई। कुछ दूसरे सूबों के हिस्से भी बङ्गाल को हस्तान्तरित कर दिये गये, थे, उनमें भी इसी व्यवस्था के अनुसार काम होने लगा।

(३) सन् १७२२ ई० में मुर्शिदकुली या जफर खाँ ने फिर से इस माँग में सुधार किया।

(४) इसके बाद से यद्यपि जमीन्दारों पर कई बार नये नये कर लगाये गये, परन्तु लगान की माँग का स्तर अपरिवर्ति रूप में ही बना रहा।

यदि उपरोक्त विवरण को सही मान लिया जाय तो तीनों कस्बों के विषय में प्राप्त हमारी जानकारी के अनुसार इनकी स्थिति भी वही थी जो शेष बङ्गाल में सन् १५८२ से लेकर १७२२ ई० तक कायम रही, अर्थात् लगान की राजकीय माँग का स्तर अपरिवर्तित ही रहा। जहाँ कहीं लगान में मात्रा वृद्धि की बात आई है वहाँ यह समझ लेना चाहिये कि यह वृद्धि क्षेत्र वृद्धि के कारण हुई होगी, क्योंकि उन दिनों ऐसा प्रायः होता रहता था कि कभी इस क्षेत्र का कुछ भूभाग उस क्षेत्र में मिला दिया जाता था तथा कितनी ही बार कितने ही क्षेत्रों में सर्वथा नये भाग मिला दिये जाते थे। यदि इस प्रकार की वृद्धि को भी अलग कर दिया जाय तो भी जिन वृद्धियों का स्पष्टीकरण नहीं दिया गया है, उनकी मात्रा भी सन् १५८२ से १६५८ ई० के बीच ७६ वर्षों में केवल १५·५ प्रतिशत रही तथा अगले चौंसठ वर्षों में केवल १३·५ प्रतिशत ही बढ़ी। ऐसी दशा में यदि ग्रान्ट द्वारा दिये गये आँकड़े ही लगान की माँग का वास्तविक स्तर प्रगट करते हैं तो यह वृद्धि, कुछ नहीं के ही बराबर है। जेम्स ग्रान्ट ने

जो अस्पष्ट सा विवरण दिया है, उसके प्रकाश में मुझे ऐसा जान पड़ता है कि प्रदेश के कुछ विशेष भूभागों में लगान की माँग का कारण विशेष से पुनर्निर्धारण किया गया होगा, जिसकी वजह से लगान की मात्रा में तो वृद्धि हो गई, परन्तु माँग की दर सारे सूबे में ज्यों की त्यों रह गई। यह बात दूसरी है कि किन्हीं स्थानीय एवम् सामयिक कारणों से खेतिहरों से कुछ अतिरिक्त रकम वसूल कर ली गई हो।

मैं इस बात को निश्चयपूर्वक नहीं कह सकता कि ग्रान्ट द्वारा प्रस्तुत विवरण का सर्वांश ठीक है या नहीं, क्योंकि इस बात का न्यायपूर्ण निर्णय देने के लिये हमें उन ग्रन्थों को स्वतन्त्र रूप से पढ़ना पड़ेगा, जिनके आधार पर ग्रान्ट ने अपना विवरण प्रस्तुत किया है। कठिनाई यह है कि इनमें से ज्यादा तर विवरण फारसी भाग में है। जिन सरकारी कागजों का जिक्र उसके विवरण में आया है, उन्हें भी फिर से प्राप्त करके पढ़ना होगा, क्योंकि मैंने उन्हें स्वयम् नहीं देखा है और अब यह भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वे अब तक बचे हुये हैं या नष्ट हो गये। हाँ, इतना अवश्य ही निश्चित है कि ग्रान्ट का प्रारम्भ ही गलती पर आधारित था। उसका यह कहना कि टोडरमल ने समूचे बंगाल प्रान्त में लगान व्यवस्था का विस्तृत संगठन किया, ऐतिहासिक दृष्टि से गलत तो है ही, असम्भव भी है। सर जान शोर के विवरण के अनुसार भी तथा आईन अकबरी में दिये गये विवरणों के अनुसार भी अकबर ने जब बंगाल को मुगल साम्राज्य में मिलाया तो वहाँ उसने कोई लगान व्यवस्था नहीं चालू की, वरन् उस देश मे प्रचलित 'नसक' व्यवस्था को ही मान्यता प्रदान की। नसक का अर्थ चाहे सामूहिक निर्धारण समझा जाय था सीरदारी या दोनों, परन्तु इससे ग्रान्ट के विवरणों का सही न होना स्पष्ट हो जाता है। ग्रान्ट ने जो यह कहा है कि लगान की दर चौथाई थी, इसकी सत्यता में भी मुझे सन्देह है, क्योंकि टोडरमल के समय में लगान की दर सार्वदेशिक रूप से तिहाई थी। चौथाई लगान की कल्पना ग्रान्ट ने दक्षिण के बन्दोबस्त से लिया होगा, क्योंकि हैदराबाद में ही रह कर उसने इस विषय का अध्ययन किया था और यहीं से मुर्शिदकुली खाँ के संगठनात्मक कार्यों का परिचय प्राप्त किया था। तथा जिसे उसने टोडरमल द्वारा किये गये कार्यों का अन्धानुकरण मात्र कहा था। अतः हम ग्रान्ट द्वारा प्रस्तुत विवरण के सर्वांश को सही नहीं मान सकते। वास्तव में गलत प्रारम्भ के कारण वह सर्वत्र गलती करता चला गया है।

मेरी समझ में ऐसा आता है कि जेम्स ग्रांट ने शुरू शुरू में जो आंकड़े दिया है, वे मूल्यांकन के आंकड़े हैं न कि लगान की माँग के। उसने जिन प्रपत्रों को देखा था वे भी मूल्यांकन के ही सम्बन्ध में थे। परिशिष्ट 'ग' में हमने वे तर्क दिये हैं,

जिनके बल पर मैंने यह मत स्थिर किया है कि बंगाल तथा अन्य सूबों के सम्बन्ध में जो सांख्यिकी आईन अकबरी में दी गयी है वह शायद उस समय में प्रचलित मूल्यांकनों से सम्बन्धित है, जिस समय आईन के विवरणों का संग्रह किया जा रहा था। बंगाल के आंकड़ों को यदि इस दृष्टि से देखा जाय तो मालूम होगा कि साम्राज्य में मिलाये गये इस सूबे का यह प्रथम मूल्यांकन था जो स्वयम् टोडरमल द्वारा या उनके आदेश पर किसी अन्य कर्मचारी द्वारा प्रस्तुत किया होगा। इन्हीं मूल्यांकन के आँकड़ों को जेम्स ग्राँट ने टोडरमल द्वारा प्रस्तावित लगान की माँग की दर समझ लिया था। इस मूल्यांकन को प्रस्तुत करने में अवश्य ही प्राप्त तत्सम्बन्धी सूचनाओं तथा उन सरकारी कागजों का सहारा लिया गया होगा, जो पूर्ववर्ती सरकार के कार्यालय में सुरक्षित रक्खे गये होंगे। हमारे इस मत को मान लेने से वह गड़बड़ी भी दूर हो जाती है जिसके अनुसार कहा जाता है कि टोडरमल पूर्वी बंगाल के उन भागों में निर्धारण-व्यवस्था संगठित न कर पाये होंगे जो उस समय अकबर के शासन में नहीं थे। पुराने रिकार्ड्स को देखने से पता चलता है कि उस समय में भी चटगांव बंगाल राज्य का ही एक भाग था, अतः टोडरमल के जमाने में प्रस्तुत किये गए मूल्याँकन में इसका भी जिक्र होना चाहिये था, ताकि जब इस पर अधिकार मिले तो इन मूल्याँकनों को काम में लाया जाय, परन्तु ऐसा नहीं किया गया है। ऐसी दशा में यह निश्चित है कि कम से कम इस भूभाग के सम्बन्ध में टोडरमल ने लगान-निर्धारण की विस्तृत व्यवस्था नहीं की होगी। इस आधार पर भी ग्रांट का मत गलत प्रमाणित होता है।

ग्रान्ट की मान्यता के विरुद्ध जो तर्क हमने दिया है यदि स्वीकार कर लिया जाय तो यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि जिसे जेम्स ग्रान्ट ने शाहशुजा एवम् जफर खाँ द्वारा किया गया परिष्करण (रिवीजन) कहा है वह परिष्करण न होकर शुद्धीकरण था और इस शुद्धीकरण की आवश्यकता इस लिये पड़ी कि इस बीच बहुत से नये भूभाग राज्य में सम्मिलत हो गये थे, साथ ही मूल्यांकन के कुछ अंकों की वृद्धि भी विभिन्न कारणों से हो गई थी। जेम्स ग्रान्ट ने जिन तीन सरकारी कागजों को देख कर अपनी मान्यता स्थापित किया था उनका शीर्षक था 'जमा'। यह एक ऐसा शब्द है जो उन दिनों मूल्यांकन के ही अर्थ में प्रयोग में आता था, न कि लगान की मांग के सम्बन्ध में। ऐसे पत्रों के शीर्षक में अवश्य ही जमा शब्द इस्तेमाल किया जाता है। जिस समय ग्रान्ट ने बंगाल में कार्यारम्भ किया था, उस समय तक मूल्यांकन की प्रणाली ही नहीं उसकी याद भी लोग बाग भूल चुके थे। ऐसी दशा में इस शब्द के तत्कालीन अर्थ के सम्बन्ध में भ्रम हो जाना उस जैसे विदेशी व्यक्ति के लिये

स्वाभाविक ही था। सचमुच जेम्स ग्रान्ट के समय तक आते आते 'जमा' शब्द लगान के रूप में इस्तेमाल किया जाने लगा था।

ऐसी स्थिति में भी, अर्थात् जब हम ग्रान्ट की मान्यता को गलत करार दे चुके हैं तब भी यह नहीं मान लेना चाहिये कि जेम्स ग्रान्ट का सब लिखा लिखाया व्यर्थ ही है, क्योंकि ऐसी भी सम्भावना है कि मूल्याँकन के आँकड़ों को ही लगान के रूप में मान लिया गया हो। बंगाल में सत्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में दीवान की स्थिति अवश्य ही कठिनाइयों से पूर्ण होती थी। उसका कर्तव्य था कि वह सुरक्षित प्रदेशों से अधिकतम लगान पाने का हर सम्भव प्रयत्न करे। यह भी सत्य है कि सुरक्षित प्रदेशों के आँकड़े जागीरों में उठे हुये प्रदेशों के आंकड़ों से ऊँचे थे। जेम्स ग्रान्ट के पास और कोई आँकड़े तो थे नहीं जिनसे वह इन आँकड़ों की तुलना करके सही परिणाम पर पहुँचने की कोशिश करता। उसके पास यही मूल्याँकन के ही आँकड़े थे, और इन्हीं से लगान निर्धारकों की माँग के स्तर को तुलना कर सकता था। यह मूल्याँकन उसी समय किया गया था, जब बंगाल मुगल साम्राज्य में मिलाया गया था। मुगल प्रशासन इतना अक्षम तो था नहीं कि लगान-निर्धारण के विषय में निर्धारण कर्मचारियों को इतनी स्वतंत्रता से काम करने का अवसर देता। लगान निर्धारण के आँकड़ों का मिलान मूल्यांकन के आंकड़ों से करने की परम्परा अवश्य ही चालू रही होगी, क्योंकि मूल्याँकन पत्र ही एक ऐसा सरकारी कागज था जिससे लगान की माँग का मिलान सम्भव था। इसी से यह भी पता चल सकता था कि कहाँ की मांग का स्तर मूल्यांकन के स्तर से कितना ऊपर या नीचे जा रहा है। यदि स्तर अधिक गिर जाता था तो निर्धारकों से इस गिरावट का स्पष्टीकरण मांगा जाता था कि ऐसा क्यों हुआ। अगली शताब्दी के प्रथम पचास वर्षों में लगान की मांग का स्तर मूल्यांकन के स्तर से ऊँचे होने का कोई प्रश्न ही नहीं था, क्योंकि विदेशी व्यापार में बाधा पहुँचने के कारण तथा इस प्रकार देश में चांदी की अत्यधिक कमी पड़ जाने के कारण वस्तुओं की कीमत बहुत गिर गई थी और इस प्रकार यह सूबा इस मामले में बहुत दबा हुआ था। इस प्रकार सन् १६५८ ई० में जो परिष्करण किया गया तो उस वक्त ऐसा कोई आंकड़ा ही नहीं रहा होगा, जिससे तुलना करके यह देखा जा सकता कि स्तर कितना बढ़ा है, क्योंकि सूबे में कुछ सर्वथा नये भूभाग मिल जाने से मूल्यांकन का स्तर भी अवश्य बढ़ा होगा, और इसी वृद्धि की ओर ग्रान्ट ने स्पष्ट संकेत दिया है।

जब अंग्रेजी तथा डच कम्पनियों के व्यापार के कारण चाँदी का आयात देश में बढ़ा तो यहाँ की आर्थिक स्थिति में द्रुतपरिवर्तन प्रारम्भ हुए। इन परिवर्तनों के

प्रकाश में यह सम्भावना स्पष्ट दिखाई पड़ी कि इन परिवर्तनों के कारण लगान की माँग का स्तर ही नहीं बढ़ा होगा, बल्कि इनके कारण जनता पर लगाये जाने वाले अन्य करों में भी वृद्धि हुई होगी। यदि इस बात को सत्य मान लें तो इस बात का स्पष्टीकरण हो जाता है कि जब औरंगजेब के शासन काल में मुगल साम्राज्य क्षीण होने लगा तो मूल्यांकन के आधार पर स्थिर की गयी लगान की मांग का भार मध्यस्थों के ऊपर क्यों बढ़ गया। वास्तव में बात यह थी कि मध्यस्थों के ऊपर लगान की मांग का भार तो ज्यों का त्यों रह गया था, परन्तु इन आर्थिक परिवर्तनों के कारण उन पर अन्य करों का भार इतना अधिक बढ़ गया कि मध्यस्थों द्वारा सरकार को दी जाने वाली रकम बढ़ कर लगान की मांग की समता में पहुँच गयी और इस प्रकार इन मध्यस्थों को पहले से दुगुनी रकम खजाने में जमा करने की जरूरत पड़ने लगी।

ग्रान्ट द्वारा दिये गए भार वृद्धि के विवरण का उपरोक्त स्पष्टीकरण अनुमान पर आधारित है न कि तथ्यों तथा सरकारी कागजों पर। इस विषय में मैंने जो तर्क उपस्थित किये हैं उनका पहला कारण तो यह है कि मुगल प्रशासन के आम तरीकों से उनकी संगति नहीं बैठती तथा दूसरा कारण यह है कि अठारहवीं शताब्दी के बंगाल सम्बन्धी विवरणों में इस विषय का अत्यधिक महत्व रहा है। ऐसी सम्भावना तो हो ही नहीं सकती कि अकबरी शासन के कर्मचारी प्रशासन की साधारण कार्य परम्परा के विपरीत काम करने का साहस किये हों और बंगाल में लगान का निर्धारण इस प्रकार का हुआ हो जो साल दर साल बदला ही न जा सके। मेरी राय में इस बात की सम्भावना अधिक है कि आसाधारण परिस्थितियों के दबाव के कारण ही बंगाल धीरे धीरे इस विचित्र स्थिति में पहुँच गया कि जागीरों के देने के समय जो स्तर जागीरदारों के लिये तैयार किया गया था, वही स्तर अब सभी मध्यस्थों के ऊपर भी लागू हो गया। उससे भी विचित्र बात यह थी कि मध्यस्थों पर लगाई गई यह मांग अपरिवर्तनीय थी, उल्टे समय बे समय लगाये जाने वाले करों के कारण देय धन में निरन्तर वृद्धि ही होती जाती थी और इसी वृद्धि का विवरण जेम्स ग्रान्ट ने देने का प्रयत्न किया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ग्रान्ट ने बंगाल की स्थिति को हैदराबादी चश्मे से देखा, जिसके कारण उसके द्वारा दिया गया बंगाल का समूचा विवरण ही हैदराबाद के विवरणों के रंग में रंग उठा और मेरे सामने विवशता यह आगयी कि ग्रान्ट ने जिन दस्तावेजों एवम् सरकारी कागजों के आधार पर अपना विवरण प्रस्तुत किया था, उनको फिर से प्राप्त करने एवम् अध्ययन करने की स्थिति में मैं नहीं था। ऐसी दशा में उन छात्रों के विचार से मैंने इतना लिख

दिया, जो भविष्य में स्थानीय सरकारी कागजों का अनुसन्धानात्मक अध्ययन करने का प्रयत्न करेंगे।

उपरोक्त परिकल्पना के अनुसार हम अस्थायी तौर पर यह कह सकने की स्थिति में हो गये हैं कि जिस समय अकबर ने बंगाल को मुगल साम्राज्य में सम्मिलित किया, उस समय बंगाल की स्थिति इस प्रकार की थी, कि उस प्रदेश में कहीं-कहीं सरदारों का भी अस्तित्व था तथा स्थान-स्थान पर पुराने सीरदार भी थे, परन्तु उनकी ठीक-ठीक संख्या बता पाना सम्भव नहीं है। ये दोनों ही वर्ग सरकारी माँग के अनुसार निश्चित रकम सरकार को दिया करते थे। सरदारों एवम् सीरदारों से बचे हुये भूभाग में या तो जागीरदार थे या सरकारी कर्मचारी थे जो या तो सीरदारों के जरिये या मुखियों के जरिये लगान का निर्धारण तथा उसकी वसूली किया करते थे। मुगल साम्राज्स में मिलाये जाने के समय सूबे के मूल्यांकन के जो आँकड़े प्रस्तुत किये गये थे, अन्य आँकड़ों के अभाव में वे ही लगान की माँग के आँकड़ों के रूप में इस्तेमाल किये जाने लगे। सर जान शोर की रिपोर्ट के अनुसार ये ही सरकारी कर्मचारी बजाय नौकर होने के सीरदार होने लगे, जो सरकार को निश्चित लगान देकर खेतिहरों से मनमानी दर पर लगान वसूल करते थे। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, सरदारों, सीरदारों तथा सरकारी कर्मचारियों का अन्तर कम होता गया। पहले भी इन वर्गों की कार्य परम्परा में कोई खास अन्तर नहीं था, और अब वे सब एक ही वर्ग में समाहित होकर जमीन्दार कहे जाने लगे थे। जिन अंग्रेजी रिकार्ड्स का जिक्र पहले किया जा चुका है, उनसे पता चलता है कि इस प्रकार का संक्रान्ति काल सत्रहवीं शताब्दी के अन्त तक समाप्त हो चुका था, किन्तु उन रिकार्ड्स का क्षेत्र इतना संकुचित है कि अभी इस विषय पर और भी शोध करने की गुंजाइश है। सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में विदेशी व्यापारी कम्पनियों के व्यापार के कारण इस सूबे के जमीन्दारों की जो आमदनी बढ़ी, उसका काफी बड़ा भाग उन्हें विभिन्न करों के रूप में सरकारी खजाने में जमा कर देना पड़ता था। ये कर भी यदा कदा बढ़ते ही रहते थे। इन करों को इस दृष्टिकोण से लगाया गया तथा बढ़ाया जाता था कि समूचे सूबे की समूची आय एवम् उपज का समुचित भाग सरकार को मिलता रहे, यद्यपि कार्यप्रणाली के विचित्र विकास ने कर वृद्धि के औचित्य को समाप्त कर दिया था। ऐसी ही परिस्थितियों के बीच ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी ने बंगाल का शासन अपने हाथ में लिया तथा इन्हीं के सहारे चल कर उन्होंने सुनिश्चित कार्यप्रणाली खोज निकालने का प्रयत्न किया।

आठवाँ अध्याय

निश्कर्ष

भारत में मुसलमानों का राज्य छः शताब्दियों तक रहा। इस समय की ग्रामीण-व्यवस्था के सम्बन्ध में जितने भी विवरण या प्रमाण मुझे विभिन्न ऐतिहासिक ग्रंथों, सामयिक सरकारी कागजों तथा अनुवादों से मिल सके हैं, उन सभी पर यथा सम्भव विवेचन मैंने पिछले अध्यायों में प्रस्तुत करने का हर सम्भव प्रयास किया है। इस प्रयास में कितने ही विद्वानों द्वारा स्थापित मान्यताओं का खंडन तथा कितने ही विद्वानो का मंडन करने के अवसर भी आये हैं। सामग्री के अभाव में कितने ही स्थानों पर केवल अनुमान के आधार पर काम निकालने के भी अवसर आये हैं। जिन पाठकों ने पिछले सात अध्यायों में प्रस्तुत सामग्री को पूर्णतया हृदयंगम किया है, वे मेरी इस राय से अवश्य ही सहमत होंगे कि हम इस निवन्ध में सभी विवरणों को समानुपातिक स्थान व समय नहीं दे पाये हैं। यह मेरी विवशता ही थी कि मुझे ऐसा करना पड़ा। बात यह है कि कितने ही काल ऐसे हैं, जिनके सम्बन्ध की हमारी जानकारी यदि पूर्ण नहीं तो उसके समीप अवश्य है, जब कि कुछ काल ऐसे भी हैं कि उनके विषय की जानकारी नहीं के बराबर है। कितने ही समयों में ऐसे शासक हुये हैं जिन्होंने अपने अधीनस्थ क्षेत्र के कुछ या सम्पूर्ण किसानों की संख्या से अपना सीधा सम्पर्क स्थापित करने की चेष्टा की है, परन्तु छः शताब्दियों के अनुपात में ऐसी चेष्टाओं का समय नगण्य सा ही है। शेष कहानी का बहुत ही कम अंश हमारी जानकारी में है। जिस प्रकार कुहासे के अन्धकार में भी ऊंची पहाड़ियों का धुन्ध स्पष्ट अलग रहता है, उसी प्रकार इस समूचे समय के ऊपर इतिहास सम्बन्धी सामाग्रियों के अभाव का जो अंधकार छाया हुआ है, उसके ऊपर उठ कर कभी अलाउद्दीन खिलजी, शेरशाह सूरी तथा अकबरनामा दिखाई पड़ जाता है, तो कभी टोडरमल एवम् मुर्शिदकुली खाँ का, परन्तु उन पहाड़ियों का वास्तविक महत्व आँकने के लिए अत्यावश्यक है कि समीपस्थ तमसावृत्त भूमि का भी यथासम्भव सम्यक् निरीक्षण कर लिया जाय। मैं यह नहीं कह सकता

कि इस अन्धकार को भेद कर मैं कितनी सफलता से निरीक्षण कार्य कर सका हूँ, परन्तु उस अन्धकार में यत्रतत्र जो प्रकाश रेखायें दृष्टि पथ में आयी हैं, उनका सम्पूर्ण उपयोग करने का हर सम्भव प्रयत्न मैंने अवश्य किया है। आगे के अनुच्छेदों में मैंने उसी जानकारी को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। इनमें से कुछ तो मैंने देखा है और कुछ परिकल्पनात्मक बाने में है। इन परिकल्पनाओं को पाठकों के समक्ष इसलिए नहीं रक्खा जा रहा है कि वे इसे तथ्य का स्थान दे दें। ये तो परीक्षणात्मक विवरण हैं, जिन्हें तथ्यों का जामा पहनाना भविष्य के किसी तथ्यान्वेषी छात्र का काम है। हो सकता है कि ये परिकल्पनायें तथ्य को जामा न पहन सकें, परन्तु उस दशा में भी कोई तो इन्हें सुधारेगा ही।

मुझे यही दृष्टिकोण सर्वाधिक उचित प्रतीत होता है कि मुस्लिम शासन के ठीक पहले के हिन्दू राजा या सरदार उत्तरी भारत के गाँवों को और कभी कभी गांवों के समूह अर्थात् परगना को लगान निर्धारण तथा वसूली की इकाई मानते थे और परिस्थिति के अनुसार कभी गांव के मुखिया से, कभी परगने के चौधरी और शायद कभी गांव के प्रति किसान से लगान-निर्धारण व वसूली या तो प्रति फसल या प्रति वर्ष करते थे। लक्ष्य यह हुआ करता था कि खेतिहर लोग भूमि से जो कुछ भी पैदा करें, उसी में से एक निश्चित भाग राज्यांश के रूप में अवश्य दे दिया करें। यह राज्यांश सदैव ही निश्चित रहता था फिर भी कर्मचारियों एवम् मुखियों में सौदे-बाजी अवश्य होती रही होगी। लगान-निर्धारण एवम् वसूली की इस प्रकार की व्यवस्था में गाँव का मुखिया एक महत्व पूर्ण व्यक्ति होता था, जिसे एक ओर अपने गाँव के किसानों की भलाई का ख्याल रखना पड़ता था तथा दूसरी ओर राजा और राज कर्मचारियों की संतुष्टि का। खेतिहर के स्वार्थ का यह रूप था कि वह कम से कम देने की इच्छा रखता था। इधर कर्मचारी चाहते थे कि यदि हम कुछ अपने लिये न वसूल कर सकें तो पूरा राज्यांश तो वसूल ही कर लें। विरोधी स्वार्थों के इन दो पाठों के बीच मुखिया की स्थिति बड़ी दुविधा पूर्ण रहती थी। ऐसी स्थिति में उसके लिये कुछ पारिश्रमिक या सुविधाओं का होना आवश्यक था, क्योंकि बिना इसके कोई भी व्यक्ति मुखिया पद का इच्छुक ही क्यों होता। गाँव के भीतर लगान का निर्धारण तथा वसूली करना मुखिया का ही काम होता था। वह इस प्रकार की वसूली प्रचलित प्रणाली या अपनी व अपने गाँव के खेतिहरों की सुविधा के अनुसार करता था। लगान निर्धारण या वसूली के प्रचलित तरीकों में प्रतिहल प्रथा, बँटाई प्रथा, तथा नाप प्रथा ही मुख्य थीं। राजा या सरदार का यह अधिकार सर्वदा सुरक्षित रहता था कि वह जब चाहे मुखिया को परे करके स्वयम्

किसानों से सीधा सम्पर्क बना कर निर्धारण व वसूली कर लें, परन्तु ऐसी विशेष स्थितियों में भी राजा व सरदार लोग स्थानीय परम्पराओं का आदर करते थे।

इस प्रकार की परिस्थिति में मुस्लिम विजेताओं के लिये दो ही रास्ते सम्भव थे और उनमें से एक हो वे अपना सकते थे। मुसलमान आक्रमकों के सामने यदि हिन्दू राजा और सरदार ने बिना युद्ध किये समर्पण कर दिया और आक्रामक द्वारा माँगा कर देना स्वीकार कर लिया तो ग्रामीण-व्यवस्था में नाम मात्र का भी परिवर्तन नहीं होता था। हर परम्परा अपने स्थान पर यथास्थिति कायम रह जाती थी। अन्तर केवल इतना ही होता था कि पहले ये राजा तथा सरदार स्वतन्त्र शासक होते थे और अधीनता स्वीकार कर लेने के बाद करद सरदार या राजा कहलाने लगते थे। एक और भी अन्तर पड़ने की सम्भावना थी कि इसके पहले शासक वर्ग का सारा कार्य विभिन्न करों द्वारा होने वाली आय से ही चलता था, परन्तु अधीनता स्वीकार कर लेने के बाद उसी आय का काफी बड़ा भाग विजेता को दे देना पड़ता था; अतः उनकी आय में निश्चित कमी का होना स्वाभाविक था, जिसे पूरा करने के लिये वे अवश्य ही प्रजा पर कर भार बढ़ा देते रहे होंगे। हो सकता है कि धर्मशास्त्रों द्वारा नियन्त्रित शासन में ऐसा न भी होता रहा हो। यदि राजा या सरदार ने आत्म समर्पण नहीं किया और लड़ गये और हार गये तो या तो शासक को अपदस्त करके विजेता ही उस स्थान पर आ जाता था और तब तक कम से कम असुविधा पूर्ण प्रणाली से किसानों से अपना सीधा सम्पर्क स्थापित करके अपना काम चलाता था, जब तक उस प्रणाली में सुधार की गम्भीर आवश्यकता नहीं प्रतीत होती थी। प्रायः ऐसा भी होता था कि युद्ध में पराजित शासक से भारी हर्जाना लेकर तथा भविष्य में निश्चित कर देते रहने का वादा लेकर विजेता उसी शासक के जिम्में वहाँ का शासन प्रबन्ध छोड़ देते थे। ऐसी दशा में ग्रामीण-व्यवस्था अपने अपरिवर्तित रूप में ही चलती रहती थी।

हिन्दू धर्म शास्त्रों द्वारा मान्य ग्रामीण व्यवस्था तब तक प्रचलित रही जब तक कि अलाउद्दीन खिलजी ने उनमें भारी परिवर्तन नहीं कर दिया। यदि तत्कालीन ऐतिहासिक विवरणों का अध्ययन किया जाय तो प्रतीत होगा कि समूची तेरहवीं शताब्दी में उसी प्रकार की ग्रामीण व्यवस्था प्रचलित रही जिसका परिकल्पनात्मक विवरण हमने अध्याय दो में देने का प्रयास किया है। सरदार तथा मुखिया लोग राज्यांश का एक भाग अपने उपभोग के लिये रख लेते थे, जिससे बादशाह का राजनैतिक खतरा बढ़ता था। साथ ही लगान का बँटवारा भी सशक्तों और निर्बलों पर एक समान न होकर विषम था जिसके कारण सबलों का अधिकांश बोझ निर्बलों पर आ पड़ता था। इसी खतरे को दूर करने के लिये अलाउद्दीन ने सरदारों तथा मुखिया को

अलग हटा दिया तथा अपनी उत्तर भारतीय सल्तनत में उसने प्रति किसान से सीधा सम्पर्क स्थापित किया। लगान निर्धारण की तत्कालीन प्रणालियों में से ही एक को उसने अपने सामान्य व्यवहार के लिये चुन लिया।

अलाउद्दीन खिलजी के शासनकाल के आरम्भ में देश की जैसी स्थिति थी, उसमे अलाउद्दीन द्वारा किया गया ग्रामीण-व्यवस्था का यह परिवर्तन शक्ति कृत ही कहा जायगा जिसे एक परम सशक्त प्रशासक ही कर सकता था। शायद इसी लिये उसके द्वारा संचालित व्यवस्था उसकी मृत्यु के साथ ही खत्म हो गयी। एक दो वर्षों के बाद ही हम देखते हैं कि सल्तनत का महकमा लगान सीरदारों तथा उसके दुष्ट पिछलगुओं से परेशान हो उठा था। प्रशासन की प्रभावहीनता की दशा में यह स्वाभाविक भी था। इसी बल पर मैंने यह कहने का साहस किया है कि उस समय सीरदारी व्यवस्था का जोर था, यद्यपि मैं यह नहीं स्पष्ट कर सका कि इसके पूर्व काल मे भी कभी सीरदारी व्यवस्था को लोग जानते थे या नहीं। थोड़ा और आगे चल कर हम देखते हैं कि देश के विस्तृत प्रशासन का भार जागीरदारों के कन्धों पर आ पड़ा। यद्यपि थोड़े-थोड़े समय के लिये यह व्यवस्था बीच-बीच में महत्वहीन हो गई थी, फिर भी इस व्यवस्था द्वारा उत्तरी भारत का शासन अठारहवीं शताब्दी तक होता रहा।

फीरोज तुगलक तथा शेरशाह के बीच का समय एक प्रकार का अन्धकारमय समय था। उस समय की ग्रामीण-व्यवस्था के विषय की जानकारी बहुत ही कम प्राप्त होती है। उस समय के इतिहासकारों के सामान्य विवरणों में यत्र-तत्र कुछ अस्पष्ट परन्तु गम्भीर संकेत इस बात के मिलते हैं कि इस समय में भी ग्रामीण-व्यवस्था की इकाई गाँव ही थे, जिनसे या तो बादशाह का हो सम्पर्क होता था या उसके जमीन्दारों का। शेरशाह एक सशक्त शासक था और अपने पूर्वानुभव के बल पर उसने अपने राज्य के अधिकांश भागों में किसानों से अपना प्रत्यक्ष सम्पर्क स्थापित किया। अकबर ने भी प्रारम्भिक वर्षों में शेरशाह का ही अनुकरण किया था, परन्तु सत्रहवीं शताब्दी के मध्य तक गाँवों ने फिर इकाइयों का रूप ले लिया और यह स्थिति मुस्लिम प्रशासन के अन्तकाल तक बनी रही। इस प्रकार इस ढंग की मान्यता स्थापित की जा सकती है कि समूचे मुस्लिम युग में स्थिति कुछ इस प्रकार की बनी रही कि किसी भी प्रकार किसानों के साथ प्रत्यक्ष सम्पर्क के बल पर चलती हुई कोई भी व्यवस्था स्थायी नहीं रह सकती थी। यदा-कदा जब कोई अति सशक्त बादशाह होता था, तभी इस प्रकार से किसान को ग्रामीण-व्यवस्था की इकाई बनाया जा सकता था। इसका मतलब यह हुआ कि उस समय के लोगों का भी ऐसा विचार अवश्य था कि शासन को

प्रभावपूर्ण बनाने के लिये यह आवश्यक है कि मध्यस्थों को हटाकर खेतिहर को ही इकाई मान कर चलना चाहिये, परन्तु, चूंकि इस प्रकार की व्यवस्था के लिये अत्यधिक शक्तिशाली केन्द्र की आवश्यकता पड़ती थी, अतः किसानों को तभी इकाई माना गया, जब बादशाह अति सशक्त होता था। अपने-अपने अधीनस्थ क्षेत्रों में सरदार व जागीरदार भी किसानों से अपना सीधा सम्पर्क बनाये रख सकते थे और कभी-कभी रखते भी थे, परन्तु वही लोग ऐसा कर पाते थे, जो अपने को तथा अपनी स्थिति को खूब सुदृढ़ समझते थे। वास्तविकता यह है कि किसानों को इकाई मान कर चलने से प्रशासन का बोझ अत्यधिक बढ़ जाता है, जिसको संभालने के लिये सशक्त एवम् सुगठित केन्द्रीय शक्ति की आवश्यकता होती है। इस प्रकार की परिस्थिति में अधिकांश मुस्लिम शासकों ने प्रशासन के लिये उसी व्यवस्था का सहारा लिया जो उनके लिये सर्वाधिक सुविधाजनक थी। प्रथम अध्याय में ही हमने कहा है कि लोक हितैषिता के आदर्शों का समावेश मुस्लिम युग में प्रशासक के सामने नहीं था। समूचे मुस्लिम काल का शासन इस मान्यता को सिद्ध कर देता है कि तत्कालीन शासन बादशाह को सुविधानुसार तथा उसी के लाभ के लिये होता था। यत्र-तत्र जब भी किसी बादशाह द्वारा प्रदर्शित किये गये प्रजा प्रेम की झलक दिखाई भी पड़ी, वहाँ भी उस प्रेम के भीतर यही भावना काम कर रही थी कि अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाने के लिये इसी प्रकार के कार्य करने की आवश्यकता है। प्रशासन का सदैव का सैद्धान्तिक आदर्श चाहे जो रहा हो, परन्तु वास्तविक लक्ष्य सब दिन से यही होता आया है कि शासक (राजा, महाराजा या बादशाह या प्रजातन्त्र) सदैव सुविधा पूर्ण स्थिति में रहे। मुस्लिम युग में भी गाँव अपनी स्थिति में रहे, उनका उपयोग भी प्रशासन ने किया, उनसे लगान भी वसूल किया, कभी-कभी उनकी सुरक्षा का भी प्रबन्ध किया, परन्तु यह सब हुआ प्रशासन की सुविधा के आधार पर न कि प्रजा प्रेम के आधार पर।

यद्यपि लगान निर्धारण में यह बात सर्वदा निश्चित रहती थी कि बादशाह को उपज का अमुक भाग चाहिये, परन्तु बादशाह के उस भाग की मात्रा क्या हो इस प्रश्न पर राजकर्मचारियों तथा मध्यस्थों में सौदेबाजी अवश्य होती थी। लगान देने वालों की इच्छा रहती होगी कि उन्हें कम से कम लगान देनी पड़े, उधर वसूली करने वाले की इच्छा अधिक से अधिक पाने की रहती होगी। ऐसी स्थिति में सौदेबाजी का होना अनिवार्य ही था। हम जानते हैं कि अलाउद्दीन ने उपज का आधा भाग राज्यांश स्थिर किया था। सम्भावना ऐसी है कि तेरहवीं शताब्दी में अलाउद्दीन की अपेक्षा लगान की माँग का स्तर अवश्य ही नीचा रहा होगा। तेरहवीं सदी में

राज्यांश का कुछ भाग सरदारों एवम् मुखियों के उपयोग के लिये छोड़ दिया जाता था। अलाउद्दीन ने उस भाग को भी लेने की व्यवस्था की। हमने देखा है कि अलाउद्दीन के उत्तराधिकारी ने सरकारी लगान की माँग का स्तर कुछ नीचा कर दिया, पर यह पता नहीं लग सका कि माँग का स्तर कितना नीचा हुआ। अलाउद्दीन के बाद दूसरी निश्चित मांग का पता चलता है शेरशाह के जमाने में। शेरशाह सूरी के समय में सरकारी लगान की माँग उपज का तिहाई भाग था। मुझे तो इस बात की सम्भावना प्रतीत होती है कि उपज का तृतीयांश लेना प्राचीन परम्परा थी, न कि नवीन व्यवस्था। सरकारी कागजों के अभाव में ऐसा परिणाम निकालना ही सम्भावना के अधिक समीप है कि अलाउद्दीन के उत्तराधिकारी ने ही लगान की सरकारी माँग को १।२ से १।३ कर दिया था, और यही १।३ भाग ही समय के अधिकांश भाग में मांग का मुख्य स्तर रहा, जब तक कि सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में किसी समय लगान की मांग का अधिकतम स्तर ऊँचा करके फिर १।२ भाग कर दिया गया। यद्यपि यह बात किसी भी प्रकार प्रमाणित नहीं की जा सकती, फिर भी सम्भावना इस बात की है कि उपज के जिस तृतीयांश को हिन्दू धर्मशास्त्रों में लगान की मांग का उच्चतम स्तर माना गया था, वही तृतीयांश बारहवीं शताब्दी में समस्त उत्तरी भारत में सामान्य रूप में प्रचलित हो गया। अर्थात् बारहवीं शताब्दी में ही यह परम्परा शायद बन चुकी थी कि खेतिहरों से उनकी उपज का तृतीयांश राज्य ले लिया करे, और उत्तरी भारत को विजय करने के पश्चात् मुसलमानों ने भी इसी परम्परा को मान लिया। केवल अलाउद्दीन के समय को छोड़ कर शेष समय में यह परम्परा अपरिवर्तित रूप में ही सत्रहवीं शताब्दी के मध्यकाल तक चलती रही। ऐसी दशा में प्रश्न यह उठता है कि आखिर इतिहासकारों ने इस बात का उल्लेख क्यों नहीं किया। बात यह है कि इतिहास में तभी कोई बात स्थान पाती है, जब उसका कोई विशेष महत्व होता है। सामान्य बातें इतिहास में स्थान नहीं पातीं। चूंकि यह बात सामान्य हो चुकी थी, इसीलिए इतिहासकारों ने इस बात को उल्लेखनीय नहीं समझा।

यह भी सम्भव है कि लगान की मांग का नियम बारहवीं शताब्दी में कुछ अधिक लचीला रहा हो और परिस्थिति के अनुसार यह मांग १।३ से १।२ के बीच इधर उधर होती रही हो और मुस्लिम बादशाह स्वनिर्णय के अनुसार इन्हीं दोनों देशों में से एक को लागू कर दिया करते थे। औरंगजेब के फरमानों में भी इसी प्राचीन परम्परा का पालन होता हुआ दिखाई पड़ता है। उदयपुर राज्य ही उत्तरी भारत का एक ऐसा राज्य है जो स्थायी रूप से मुसलमानों के पूर्ण प्रभाव में कभी भी

नहीं आया और इसीलिये वहाँ की परम्पराओं पर मुसलमानी प्रभाव नहीं के बराबर है परन्तु उस देश में भी लगान की मांग या तो अर्द्धांश ही रही या तृतीयांश हो गई। इस माँग के स्तर के सम्बन्ध में इस प्रकार का कोई प्रमाण नहीं है कि इन दोनों परिकल्पनाओं में से किसको मान्य समझा जाय। जो कुछ भी प्रमाण प्राप्य हैं, उनके अनुसार इनमें से दोनों ही मान्य समझ पड़ती हैं। अतएव इस प्रश्न का निर्णय तभी सम्भव होगा, जब एतत्सम्बन्धी अन्य तथ्यों की भी जानकारी हो जायगी।

अब प्रश्न उठता है लगान की अदायगी का। इस समस्या का समाधान इस प्रकार होना चाहिये कि यह निर्णित हो जाय कि किसान को लगान किस रूप में देनी पड़ती थी, सिक्के के रूप में, या गल्ले के रूप में। समूचे मुस्लिम युग की ग्रामीण-व्यवस्था का अध्ययन करते समय पिछले पृष्ठों में हमने देखा है कि दो अवसर ऐसे भी आये हैं कि जब खेतिहरों को विशेष आदेश दिये गये थे कि वे लगान अनाज के ही रूप में दे दिया करें। हम जानते हैं और ऐसा सोचने का पर्याप्त कारण है कि कुछ ऐसे इलाकों में अनाज के रूप में लगान देने की सामान्य व्यवस्था सदैव ही अपरिवर्तित रही, जो पिछड़े हुये इलाके माने जाते थे। उत्तर में कभी-कभी लगान की वसूली अनाज के शकल में हुआ करती थी, अन्यथा तेरहवीं शताब्दी के बाद अधिकांश समय में वसूली सिक्कों के ही रूप में होती थी। ऐसा उदाहरण तो एक भी नहीं मिलता जिसमें मुखिया द्वारा अनाज लगान के रूप में दिया गया हो। चूँकि लगान का निर्धारण सिक्कों के ही रूप में हुआ करता था, अतएव यह परिणाम निस्सन्देह निकाला जा सकता है कि लगान की वसूली सिक्कों के ही रूप में हुआ करती थी। पर दूसरी बात थी कि कभी-कभी मुखिया लोग अपने ग्राम के किसी किसान या किसानों की सुविधा का खयाल करके लगान की रकम के बदले अनाज ही ले लेते थे, परन्तु ऐसी दशा में भी राजकर्मचारी को वे सिक्के में ही लगान चुकाया करते थे। मुस्लिम विजय के पूर्ववर्ती समय में लगान किस रूप में दी जाती थी, इसका निर्णय करना उन विद्वानों का कार्य है जो हिन्दू कालीन ग्रामीण-व्यवस्था में रुचि रखते हों, परन्तु मुस्लिम युग में सिक्कों के रूप में लगान की वसूली सामान्य व्यवस्था थी, भले ही बीच-बीच में परिस्थिति विशेष के दबाव के कारण यदा-कदा गल्ले के भी रूप में वसूली के प्रमाण पाये जाते हैं।

जब हम समूचे मुस्लिम युग को एक साथ ही विहंगम दृष्टि से देखते हैं तो यह देखने में आता है कि समूचे उत्तरी भारत के किसानों का भाग्य न तो बादशाह के ही ऊपर निर्भर था और न वजीर या महकमा लगान पर; न

लगान निर्धारक ही उनके भाग्य विधाता थे, और न मुहस्सिल (चकलादार या कलेक्टर) ही। उसके भाग्य के सर्वेसर्वा थे सीरदार और जागीरदार किसी भी समय में इन दोनों वर्गों के बीच किसी प्रकार की स्पष्ट विभाजन रेखा नहीं थी, क्योंकि जागीरदार लोग भी कभी कभी अपने क्षेत्र में सीरदारों को ही अधिक प्रश्रय देते थे। इस प्रकार इन दोनों वर्गों को मिलाकर देखने से ही तत्कालीन ग्रामीण-व्यवस्था के ढांचे को स्थिरता प्राप्त होती है। समूचे मुस्लिम युग की ग्रामीण-व्यवस्था के आधार स्तम्भ में ही दोनों वर्ग थे। इन दोनों ही व्यवस्थाओं अर्थात् जागीरदारी तथा सीरदारी में कोई खराबी न थी। दोनों ही व्यवस्थाओं के आदर्श व सिद्धान्त लोकोपकारी थे। इन व्यवस्थाओं का मूल्यांकन तत्कालीन परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में करना चाहिये, साथ ही इनकी कार्यावधि का विचार कर लेना चाहिये। मुस्लिम युग की सबसे बड़ी खराबी यह थी कि जागीरदारों का भी और सीरदारों का भी कार्यकाल अत्यल्प होता था। इसके अतिरिक्त वह अल्पावधि भी सुनिश्चित नहीं होती थी। इस अनिश्चित अल्पावधि के कारण किसी भी जागीरदार या सीरदार को यह साहस नहीं होता था कि वह अपने क्षेत्र की प्रजा की भलाई के लिए (जिसमें स्वयम् उसकी भी भलाई निहित थी) कोई काम कर सके। इस अस्थिरता ने उत्तरी भारत के कृषि विकास को जितना धक्का पहुँचाया, उतना किसी भी अन्य स्थिति में नहीं। ऐसी अवस्था में जागीरदार तथा सीरदार भी उतना अधिक लाभ उठाने का प्रयत्न करते थे, 'जितना भी उस अस्थिर अल्पावधि में सम्भव हो सकता था। भविष्य की चिन्ता करने की न उन्हें आवश्यकता थी और न स्थिति ही। वे वर्तमान के लाभ से ही संतुष्ट थे। सत्रहवीं शताब्दी में व्याप्त परिस्थितियों का विश्लेषण करते हुये बर्नियर नामक इतिहासकार जिन उच्चाधिकारियों, जागीरदारों अथवा सीरदारों से सुपरिचित था, उन्हीं के मुख से उसने अधोलिखित बात कहलवाया है। ' इस देश की उपेक्षित दुर्दशा से हमारा मन दुखी क्यों हो ? हम इस देश की भूमि को उपजाऊ बनाने की कोशिश क्यों करें ? हम एक क्षण में ही इस भूमि से अलग किये जा सकते हैं। यदि हम इस क्षेत्र को विकसित करने के लिये अपना द्रव्य खर्च भी कर दें, तो उससे होने वाला लाभ न हमें मिलने वाला है, न हमारे बच्चों को। क्यों न इस थोड़े से समय में इस भूमि को उतना अधिक चूस लें, जितना चूस सकते हैं। भले ही किसान भूखों मरें, भले ही वे अपना सब कुछ छोड़ छाड़ कर भाग जायँ, परन्तु हमें तो हमारा भाग मिलना ही चाहिये। इस देश को जब हम छोड़ दें तो यह भले ही निर्जन और बर्बाद हो जाय, हमारे बाद जो आयेगा, वह अपनी विपत्ति आप ही भोग लेगा।' उस समय प्रशासन का जो

रवैया था, उसमें इस प्रकार की प्रवृत्ति पर शंका करने की कोई गुंजाइश नहीं है। निस्सन्देह उपरोक्त विवरण तत्कालीन ग्रामीण-व्यवस्था का परिचायक है।

कभी कभी छात्रों ने इस प्रकार का प्रश्न पूछा है कि इन विभिन्न कालों में जिस प्रकार की ग्रामीण-व्यवस्था प्रचलित थी, उसे जमीन्दारी कहना चाहिये या रैयतवारी। इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये उस गलती को दुरुस्त करना होगा जिसके कारण एक समय की ऐतिहासिक स्थिति दूसरे समय में मान ली जाती है। प्रारम्भिक बृटिश प्रशासकों के बीच इन दोनों शब्दों के लिए जो तर्क वितर्क खड़ा हुआ, उसी के कारण इन दोनों व्यवस्थाओं का स्पष्ट अन्तर लोगों के सामने आया। मुस्लिम शासन काल में जो शासन व्यवस्था प्रचलित रही, उसमें जमींदारी व्यवस्था एवम् रैयतवारी व्यवस्था में से दोनों ही के तत्व सम्मिलित थे। समूचे मुस्लिम युग में सरदारों की शक्ति केन्द्रीय शक्ति के विपरीतानुयात में रही, अर्थात् केन्द्र की शक्ति जिस मात्रा में बढ़ती जाती थी, सरदारों की शक्ति उसी मात्रा में घटती जाती थी और जिस मात्रा में केन्द्र की शक्ति घटती जाती थी, उसी मात्रा में सरदारों की शक्ति बढ़ती जाती थी, परन्तु सरदारों का अस्तित्व समूचे युग में बना रहा और उन सरदारों की स्थिति वही थी, जो बृटिश शासन में जमीन्दारों की रही अर्थात् उन्हें एक निश्चित रकम या तो सरकारी खजाने में जमा करनी पड़ती थी या उसका हिसाब देना पड़ता, जिसका निर्धारण प्रतिवर्ष अग्रिम रूप में कर दिया जाता था। इसके बदले में जमीन्दार लोग अपनी जमीन्दारी के क्षेत्र के किसानों से जितनी अधिक लगान वसूल कर सकते थे, उतनी वसूली करते थे। वास्तव में मुस्लिम युग तथा बृटिश युग के जमीदारों की स्थिति का वास्तविक अन्तर दोनों युगों के उन नियमों में है, जिनमें उनके स्वामित्व सम्बन्धी प्रश्न की व्याख्या की गई है। इन्हीं नियमों में इस बात की व्यास्था भी होगी कि भूमि के स्वामी का खेतिहरों से क्या सम्बन्ध है। बृटिश शासन काल में जमीन्दारों के ऊपर जिस प्रकार के नियंत्रण हैं, उस प्रकार का किसी भी प्रकार का नियंत्रण मुस्लिम काल के सरदारों के ऊपर नहीं था। इस दृष्टि से देखने पर मुस्लिम कालीन शासन व्यवस्था के अन्तर्गत जिस प्रकार की ग्रामीण व्यवस्था का प्रचलन था, उसे हम जमीन्दारी व्यवस्था ही कहना अधिक उचित मानते हैं।

दूसरी ओर सुरक्षित प्रदेशों में एकदम भिन्न प्रकार की ग्रामीण-व्यवस्था का प्रचलन था। कम से कम उन क्षेत्रों में या उन समयों में, जहाँ और जब वेतन भोगी कर्मचारी गण प्रति किसान से सीधा सम्पर्क स्थापित करके लगान का निर्धारण तथा

उसकी वसूली करते थे, वहाँ की ग्रामीण-व्यवस्था को अवश्य ही रैयतवारी व्यवस्था कह सकते हैं। जहाँ कर्मचारीगण प्रति किसान से प्रत्यक्ष सम्पर्क न रखकर मुखिया की सहायता प्राप्त करके लगान निर्धारण तथा वसूली का काम करते थे, वहाँ मुखिया की दोहरी जिम्मेदारी के कारण इस व्यवस्था में थोड़ा बहुत अन्तर आ जाता था। एक ओर तो मुखिया का कर्तव्य एकदम जमीन्दार की तरह हो जाता था, उसकी शक्ति और उसके अधिकार भी जमीन्दारों की ही तरह के होते थे। उसके ऊपर भी सरकारी कर्मचारी द्वारा सालाना लगान लगायी जाती थी, जिसकी वसूली जमीन्दार की भाँति ही करके वह कर्मचारियों को दे दिया करता था। दूसरी ओर गाँव के जितने भी प्रकार के ऐसे कार्य होते थे, जिनमें राज्य के साथ सम्पर्क रखने की आवश्यकता पड़ा करती थी, उनमें गाँव का मुखिया ही किसानों का वास्तविक प्रतिनिधि हुआ करता था। एक तीसरी भी स्थिति तब उत्पन्न हो जाती थी, जब वेतनभोगी कर्मचारीगण सीरदारों के साथ सुरक्षित प्रदेशों की भूमि का प्रबन्ध करते थे, अर्थात् जब सीरदारी की अवधि अत्यल्प होती थी, तब तो उसमें जमीन्दारी के तत्व नहीं के बराबर होता था और सीरदारी की व्यवस्था मुस्लिम काल में इसी प्रकार के अस्थायित्व में काम कर रही थी। मुस्लिम शासन के अन्त काल में अवश्य ही इस व्यवस्था में कुछ स्थायित्व का समावेश हो जाने से उसमें जमीन्दारी के तत्व अवश्य ही आ गये थे।

जागीरदारी की स्थिति भी कुछ कम विचित्र नहीं थी। कभी कभी तो उसकी स्थिति एकदम जमीदारों की सी ही हो जाती थी, परन्तु निरन्तर होते रहने वाले स्थानान्तरण के कारण उसकी भी स्थिति किसी क्षेत्र में इतनी अस्थायी होती थी कि उसे जमीन्दार का नाम नहीं दिया जा सकता था। इस स्थिति में लगान-निर्धारण एवम् वसूली के काम में लगने वाले विभिन्न अधिकारियों का भी समावेश हो जाने से अन्तर पड़ जाता था। जागीरदार प्रायः अपने इलाके का प्रबन्ध सीरदारों के हाथ में दे देता था, जो लगान वसूल करने के लिये मुखियों की सहायता प्राप्त करता था और मुखिया अपने गाँव की लगान विभिन्न खेतिहरों से वसूल करता था। कभी कभी सीर-दार स्वयम् किसानों से सीधा सम्पर्क स्थापित करके लगान वसूल कर लेता था। इस प्रकार जिन तत्वों को मिलाने से जमीन्दारी की स्थिति का बोध होता है, वे विभिन्न व्यक्तियों में बँटे हुये थे। इस प्रकार जमीन्दारी तथा रैयतवारी बन्दोवस्त का निर्णय करने के लिये छात्रों को सीधा मार्ग छोड़ कर इस टेढ़े मेढ़े रास्ते का अनुसरण करना चाहिये। छात्रों को चाहिये कि वे सिद्धान्तों तथा पारिभाषिक शब्दावली के जाल में न फंस कर केवल तथ्यों के शुद्ध निरूपण द्वारा ही किसी निर्णय पर पहुँचने का प्रयत्न

करें। पारिभाषिक शब्दों का जाल तो इस प्रकार बांध लेता है कि इसमें फंसे व्यक्ति का इस में से निकल कर किसी सही निर्णय पर पहुँच जाना भाग्य के ही हाथ में रहता है।

जिन तथ्यों का निरूपण पिछले अध्यायों में किया गया है, उनके आर्थिक महत्व का विवेचन किये बिना यह निबन्ध सम्पूर्णता को नहीं प्राप्त होगा। इस बात का विचार चौदहवीं शताब्दी में भी था कि देश में खेती का विकास और खेती की वृद्धि हो। यह बात दूसरी है कि कितने ही कारणों से खेती की उन्नति व विकास की प्रगति बहुत ही धीमी रही, परन्तु उसके लिये लक्ष्य का पूर्ण अभाव कभी भी नहीं रहा। प्रत्येक शासक को (बादशाह से लेकर मुखिया तक) खेती की उन्नति व विकास से लाभ की आशा थी और वह आशा सही भी थी, परन्तु देश की विषम राजनैतिक स्थिति ने विकास सम्बन्धी किसी भी कार्य को आगे बढ़ने ही नहीं दिया। जब कभी देश में शान्ति रही और सर्वोच्च शासक ने कृषि विकास की ओर समुचित ध्यान दिया तो किसानों की सुख सुविधा में अवश्य ही वृद्धि हुई। समूचे मुस्लिम काल में लगान की मांग के अत्यधिक उच्चस्तर को इस्लामी कानून के अन्तर्गत न्यायपूर्ण सिद्ध किया जा सकता है, यदि कोई इस प्रकार का प्रयास करे। परन्तु मांग का यह उच्चस्तर इस्लाम के नियमों का आदर करने के लिये नहीं था, वास्तव में बादशाहों एवम् राज कर्मचारियों का अत्यधिक बढ़ा हुआ खर्च ही उन्हें मजबूर कर देता था कि मांग का स्तर ऊंचा हो रक्खें। देश में फैली रहने वाली निरन्तर आन्तरिक एवम् वाह्य लड़ाइयों के कारण भी नित्य नये खर्चों की जरूरत पड़ा करती थी। इन जरूरतों को पूरा करने के लिये समय समय पर नये नये कर भी लगाये जाते रहते थे, जिनके कारण निम्न-स्तरीय प्रजा पर कर भार अत्यधिक बढ़ जाया करता था। इस अत्यधिक कर भार को राज कर्मचारियों का जालिमाना वर्णन असह्य बना देता था। राज्य इन करों को बार बार कम कर देने का प्रयत्न करता था, परन्तु उसे विवश होकर न केवल कर वृद्धि ही करनी पड़ती थी, वरन नये करों को लगाने के लिये भी मजबूर हो जाना पड़ता था। इस निरन्तर बढ़ते रहने वाले व्यय से उत्पन्न बढ़े हुये कर-भार के कारण निम्नस्तर के खेतिहरों (और इन्हीं संख्या देश में अधिक थी) का जीवन स्तर अति निम्नश्रेणी का था। इस निरन्तर बढ़ती रहने वाली मांग के कारण किसानों में यह प्रवृत्ति भी बढ़ रही थी, कि वे अपने धन को न केवल राज कर्मचारियों एवम् मुखियों से ही छिपाकर रखते थे, वरन् उन्हें अपने धन को पड़ोसियों से भी छिपाकर रखने की जरूरत पड़ती थी। इस प्रकार प्रशासकों एवम् खेतिहरों के स्वार्थों में इतना

अधिक विरोध था कि दोनों अपने अपने स्वार्थ साधन के लिये एक दूसरे को निरन्तर धोका देने तथा शक्ति भर दबाने को तैयार रहते थे। किसान चाहता था कि उपज का अधिक से अधिक भाग छिपाकर रख दें जिससे उस पर राज्यांश न देना पड़े। इधर कर्मचारी उनकी इस प्रवृत्ति को जान गये थे, और छिपी उपज को निकालने के लिये हर सम्भव प्रयत्न करते थे।

यदि देश की सारी भूमि कृषिगत होती तो इस प्रकार की स्थिति का अधिक दिनों तक चल सकना सम्भव नहीं था, क्योंकि उस स्थिति में भूमि के लिये प्रतिद्वन्दिता का प्रारम्भ अवश्य हो गया होता और किसान लोग विवश हो कर अधिक से अधिक लगान पर भूमि लेने को तैयार हो जाते और अधिक लगान देने में तत्पर किसानों को पाकर राज कर्मचारी उस प्रतिद्वन्दिता को और भी आगे बढ़ा कर मनमानी रकम बसूल करके किसानों का जीवन दूभर कर देते, अथवा जिस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी के प्रशासन को अपना रवैया बदल देना पड़ा, उसी प्रकार उस समय के प्रशासन का भी रवैया अवश्य बदलने की आवश्यकता पड़ गयी होती। भाग्य की बात यही थी कि समूचे मुस्लिम काल में कृषि योग्य अत्यधिक भूमि किसानों की प्रतीक्षा में बनी रही और इसी लिये यह भय हर शासक को बना रहा कि अधिक सख्ती करने के कारण कहीं किसान सब कुछ छोड़कर भाग न जायँ। ऐसा प्रतीत होता है जैसे किसानों का इस प्रकार का पलायन उस समय की सामान्य परम्परा थी और प्रायः हर वर्ष कुछ न कुछ भूमि कहीं न कहीं अवश्य परती पड़ जाया करती थी, फिर भी इसे इतना महत्वपूर्ण न समझा गया कि इतिहास में इसका उल्लेख किया जाता। इस प्रकार के दो ही उदाहरण ऐसे हैं, जिनका उल्लेख इतिहासकारों ने किया है। पहला उदाहरण तो मुहम्मद तुगलक के जमाने का है, जिसमें समूचा नदी प्रदेश उजड़ गया था। दूसरा उदाहरण उस समय का है जब सत्रहवीं शताब्दी के मध्य में आर्थिक असंतुलन पैदा हो गया था। दोनों ही स्थितियों में प्रशासक को अपना रवैया बदलने की जरूरत पड़ी थी, जिस लम्बे समय में प्रशासन व्यवस्था अपने सम्पूर्ण अंगों में प्रचलित रही, उस समूचे काल में वैयक्तिक अधिकारों का एवम् शक्तियों का इतना अधिक हनन एवम् दमन हुआ कि कृषि विकास एवम् वृद्धि का सम्पूर्ण लक्ष्य ही खटाई में पड़ गया।

परिशिष्ट 'अ'

भारत में प्रचलित लगान सम्बन्धी शब्द

मुस्लिम शासन कालीन साहित्य में कितने ही शब्द आये हैं, जिन्हें पर्यायवाची समझ कर अँग्रेजी में अनुवाद करने वालों ने उन सभी के बदले 'भूमि का लगान' (लैंडरेवेन्यू) या संक्षिप्त रूप 'रेवेन्यू' (लगान) शब्द इस्तेमाल किया है। भारत में 'रेवेन्यू' शब्द के प्रयोग भी विचित्र ही हैं। इस पुस्तक में आये हुये सभी शब्दों को स्पष्टतया समझने के लिये यह आवश्यक है कि उनके अर्थान्तर को समझ लिया जाय तथा उन शब्दों में से अपने कार्य के उपयुक्त एक काम चलाऊ शब्दावली इकट्ठी कर ली जाय। इस परिशिष्ट में जिन शब्दों का विवेचन किया गया है वे सभी विभिन्न साहित्यिक व ऐतिहासिक मूल ग्रन्थों से लिये गये हैं तथा उनका अर्थ स्पष्ट करने के लिये एक ही नहीं अनेक सन्दर्भों का सहारा लेना पड़ा है। इन सन्दर्भों को तबकाते नासिरी से लेकर खाफी खाँ तक के लिखे गये ग्रन्थ का सहारा लेना पड़ा है। पाठकों को स्मरण रखना चाहिये इन दोनों ग्रन्थों के रचना काल में पाँच सौ वर्षों का अन्तर है।

अपने वर्तमान उद्देश्य को पूरा करने के लिये ऐसे शब्दों को छोड़ देना पड़ेगा, जिनके एक से अधिक अर्थ होते हैं या अर्थ का अनर्थ हो जाने का भय रहता है। इसीलिये हमने निम्नलिखित शब्दों को चुना है और जिन अर्थों में हमने उन्हें समय समय पर इस पुस्तक के अनेक स्थानों में इस्तेमाल किया है, उन्हें भी इसी स्थान पर समझा देने का प्रयत्न किया है।

उपज (प्रोडक्सन)—किसी भी फसल की कुल पैदावार के अर्थ में प्रयोग किया गया है, चाहे उसका प्रयोग वजन के रूप में किया गया हो या सिक्कों के रूप में।

माँग (डिमान्ड)—प्रायः प्रत्येक समय में किसानों को अपनी उपज का कुछ न कुछ भाग राजा को लगान के रूप में देने का नियम रहा है। यह भाग हिन्दू काल में भी और मुस्लिम समय में भी राजा द्वारा ही तय किया जाता था। माँग शब्द को

उपज के उस भाग के लिये प्रयुक्त किया गया है, जो राजा की ओर से लगान के रूप में लेने के लिए तै किया जाता था।

आय (इनकम)—लगान तथा अन्य करों से जो रकम सरकार को मिलती थी, या जो कुछ लगान जागीरों में लगा दी जाती थी, उन सभी को मिला कर राज्य की 'आय' कही जाती थी।

मूल्यांकन (वैल्यूएशन)—किसी भी क्षेत्र के सभी साधनों से राज्य को कितनी आय की सम्भावना है, इसका अन्दाज सरकार इसलिये पहले से ही कर रखती थी कि यदि वह क्षेत्र किसी को जागीरदारी, सीरदारी या वक्फ में दिया जाय तो राज्य को पता रहे कि उसको पाने वाला व्यक्ति सरकार से कितना प्रतिवर्ष पा रहा है। इस प्रकार मूल्यांकन से ही पता चलता था कि अमुक क्षेत्र की अनुमानित आय क्या है।

नीचे उन शब्दों का पूर्ण विवेचन दिया जा रहा है, जो इस पुस्तक में आये हैं और जिनका स्पष्ट अर्थ समझने में पाठकों को दिक्कत पड़ने की सम्भावना है :—

१—खिराज :—शब्द का प्रथम प्रथम प्रयोग अध्याय १ में हुआ है। यह इस्लाम के लगान सम्बन्धी नियमों में आया हुआ एक शब्द है। जब मुसलमान लोग किसी देश को जीत कर उसे उसके प्राचीन शासन को ही या अन्य किसी गैर मुस्लिम शासक के हाथों में ही रहने देते थे तो उस शासक से विजेता लोग कुछ रकम वार्षिक कर के रूप में लिया करते थे। इसी रकम को खिराज कहते थे। इस शब्द का एवम् इस व्यवस्था का आदर्श तो इस्लाम के अनुसार यह है कि इस मद से प्राप्त रकम की मदद से इस्लामोपकारी कार्य ही किये जायँ तथा उसका उपभोग किसी प्रकार भी कोई भी व्यक्ति स्वयम् न करे, परन्तु आगे चल कर इस आदर्श को ताक पर रख दिया गया। खिराज वसूल करने के लिये इस्लाम की दुहाई कोई भले ही दे ले, परन्तु प्रायः सारी की सारी खिराज में प्राप्त रकम को बादशाह लोग अपने निजी खर्च में ही लाते थे। इस व्यवस्था का दूसरा आदर्श था कि वह हमेशा गैरमुस्लिमों से ही लिया जाय। यह आदर्श भी उस समय धूलिसात हो गया जब एक ही देश में अनेक मुस्लिम शासक हो गये तथा उनमें आपस में ही लड़ाइयाँ होने लगीं। ऐसी दशा में प्रत्येक विजेता प्रत्येक विजित से कर अवश्य ही लेता था, भले ही विजित शासक मुसलमान ही क्यों न हो। ऐसी दशा में खिराज शब्द बाद के साहित्य में इसलिये कम दिखाई पड़ने लगा कि अपने आदर्श से गिरने के बाद इस शब्द के बदले में अनेक नये शब्द प्रयोग में आने लगे, जिनकी सूची अवश्यक विवरण के साथ नीचे दी जाती है। वैसे भी

इस शब्द का जहाँ कहीं प्रयोग किया गया है वहाँ माँग (डिमान्ड) के रूप में ही है। इस माँग को लगान की माँग के रूप में ही समझा जाना चाहिये।

२—माल :—का सामान्य अर्थ 'द्रव्य' के रूप में है, जायदाद के अर्थ में भी यह शब्द प्रयुक्त हुआ है, परन्तु प्रशासकीय शब्दावली में इसके दो रूप देख पड़ते हैं :—

(अ) फौजी विभागों में माल शब्द लूट में मिली दौलत के अर्थ में प्रयोग में आता है।

(ब) आर्थिक प्रशासन में यह शब्द माँग के अर्थ में व्यवहृत हुआ है। परन्तु कभी कभी यह शब्द पूरी लगान व्यवस्था के अर्थ में भी प्रयोग में आया है। अर्थात् मूल्यांकन, निर्धारण वसूली तथा खजाने में जमा होने तक की सारी कार्यवाही तथा इनके सम्बन्ध के प्रत्येक मामले को 'माल' के मामले ही कहते थे। जैसे "मुल्की व माली" में मुल्की का मतलब सामान्य प्रशासन से है और 'माली' का तात्पर्य समूची लगान व्यवस्था से है। आज कल मुल्की को सामान्य (जेनरल) प्रशासन व माली को राजस्व (रेवेन्यू) प्रशासन कहते हैं।

कभी कभी माल के इन दोनों अर्थों में से किसे काम में लाया जाय, इस बात पर बड़ी असुविधा हो जाती है। अकबरनामा भाग ३ में पृष्ठ तीन सौ सोलह पर जो 'माल' शब्द आया है, उसका अनुवाद मि० बेवेरिज ने रेवेन्यू के रूप में किया और मैंने उसे 'लूट में मिले सामान' (बूटी) के रूप में लिया। माल शब्द कभी कभी किसी अन्य शब्द के साथ मिल कर भी प्रयोग में आता है। जैसे 'मालवाजिबी' शब्द प्रायः लगान की माँग के अर्थ में इस्तेमाल हुआ है और इसके अर्थ के विषय में कभी किसी प्रकार की शंका नहीं होती। मालगुजार शब्द प्रायः विशेषण के रूप में तथा कभी कभी संज्ञा के रूप में भी प्रयोग में आया है जिसके अर्थ है 'माँग को अदा करने वाला'। खाफी खाँ ने 'मालगुजारी' शब्द का प्रयोग 'माँग को अदा करने की समूची प्रक्रिया' के रूप में किया है। वैसे फारसी साहित्य में 'माल' शब्द माँग के रूप में कहीं भी प्रयुक्त नहीं है।

३—कुछ ऐसे शब्द भी आये हैं, जो माँग (डिमान्ड) के ही रूप में प्रयुक्त हैं, परन्तु उसका अर्थ है 'बादशाह का पारिश्रमिक'। ये सभी शब्द एक ऐसे शब्द के मेल से बने हैं जिनका अर्थ होता है 'मजदूरी' (वेजेज़) जैसे दस्तमुज्द या जो कभी सर्वोच्च सत्ता के द्योतक हैं जैसे 'जहाँबानी' या कभी संरक्षक (गार्जियन) के रूप में

आते हैं, जैसे पासबानी (गार्डिङ्ग) ये सभी शब्द सोलहवीं शताब्दी के सरकारी कागजों में आये हैं।

४—बाजख्वास्त तथा बाजयाफ्त लगान की माँग के ही अर्थ में प्रयुक्त हैं, जो कृषि के क्षेत्रफल के ऊपर आधारित हो न कि उपज के ऊपर, परन्तु इनका प्रयोग महकमा लगान के प्रशासन में लेखा (एकाउन्ट) विभाग में ही अधिक हुआ है और तब इसका अर्थ है 'वसूली' जो राज्य की ओर से किसी व्यक्ति से किसी कारण विशेष से माँगी जाय। जैसे कलेक्टर्स के जिम्मे की बकाया पड़ी हुई रकम की वसूली राज्य कलेक्टर से करता था। दिये गये कर्ज की वसूली, गबन किये गये रुपयों की वसूली या किसी भी प्रकार की बकाया रकम की वसूली के लिये ये दोनों शब्द पर्यायवाची शब्दों की तरह प्रयुक्त हुये हैं।

५—(मुतालबा) मुतालबा प्रारम्भिक साहित्य में यह शब्द 'माँग की कार्यवाही' के रूप में प्रयुक्त हुआ है। बादशाहनामा भाग दो पृष्ठ तीन सौ पैंसठ में यह शब्द सर्वप्रथम 'मांग' के रूप में इस्तेमाल किया गया है और खाफी खाँ के जमाने में तो यह शब्द माँग के अर्थ में सामान्य रूप से प्रयोग में आने लगा था।

६—महसूल—यह शब्द किसी सामान्य अर्थ के लिए प्रयोग में नहीं दिखाई दिया और इसका पारिभाषिक अर्थ शंकास्पद है। साधारण रूप से यह शब्द माँग के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, परन्तु कहीं कहीं यह शब्द उपज के अर्थ में भी और एकाध जगह औसत उपज के लिये भी व्यवहृत हुआ है। खाफी खाँ ने कभी कभी इन दोनों अर्थों का अन्तर प्रगट करने के लिए 'महसूले-जिन्सी' शब्द को उपज के लिये और 'महसूले-माल' शब्द को माँग के लिये प्रयोग किया है, परन्तु सामान्य रूप से उन्होंने भी पूर्ववर्ती लेखकों की ही भाँति महसूल शब्द का स्वतंत्र रूप में ही व्यवहार किया है न कि संयुक्त रूप में।

प्रारम्भिक साहित्यकारों ने महसूल शब्द को मांग के ही अर्थ में इस्तेमाल किया है और गैर सरकारी कागजों में इस शब्द का प्रयोग सर्वत्र इसी अर्थ में हुआ है। आईन के भाग १ पृष्ठ २८६ पर यह शब्द उपज के अर्थ में आया है। औरङ्गजेब के हाशिम वाले फरमान में कहा गया है कि 'लगान की माँग महसूल के आधे पर निश्चित की गयी।' इस वाक्य में भी महसूल का अर्थ 'उपज' ही है। कुछ अन्य स्थलों पर भी यह शब्द उपज के रूप में आता है, परन्तु उन स्थानों में इसका अर्थ सन्देहपूर्ण है तथा इसके दोनों ही अर्थ ग्रहण किये जा सकते हैं।

आईन के भाग १ पृष्ठ २९७ पर यह शब्द स्पष्ट रूप से 'औसत उपज' के

लिये आया है। इस स्थल पर शंका का स्थान इसलिए नहीं है कि औसत उपज कैसे निकाली जाती है, इसकी पूरी अंकीय गणना ही दी गयी है।

७—हासिल, यह शब्द व्युत्पत्ति के अनुसार महसूल का ही सम्बन्धी है तथा ठीक उसी प्रकार 'माँग' तथा 'उपज' के अर्थों में इस्तेमाल किया गया है। प्रायः लेखकों ने पुनरुक्ति दोष से बँचने के लिये इन दोनों ही शब्दों का प्रयोग समान अर्थ के ही लिये ही किया है। तुजक में पृष्ठ २५२ पर जहाँगीर ने लिखा है कि 'फलदार पेड़ों पर कोई महसूल नहीं लगता तथा जब भी किसी खेत में बाग लगा दिया जाय तो उस खेत का हासिल माफ हो जाना चाहिये' उक्त वाक्य में दोनों ही शब्द माँग के अर्थ में ही प्रयुक्त हैं, परन्तु जिया बरनी ने हुक्मे-हासिल शब्द को 'बँटाई के आधार पर निर्धारण' के अर्थ में प्रयोग किया है।

इस शब्द का सर्वाधिक सामान्य अर्थ होता है 'आय' (इनकम) तथा इस अर्थ में यह मूल्यांकन शब्द के विरोध में आता है। जैसे यह याद रखना चाहिये कि किसी भी कर्मचारी का वेतन पहले सिक्कों के ही रूप में तै किया जाता था। कभी तो ऐसा होता था कि वह वेतन सरकारी खजाने से चुका दिया जाया करता था, परन्तु सामान्य व्यवस्था यह थी कि उस कर्मचारी को वह सुनिश्चित क्षेत्र दे दिया जाता था, जिसकी लगान की वार्षिक मांग उसके वार्षिक वेतन के बराबर होती थी। किसी भी क्षेत्र का हासिल मौसम या अन्य कारणों से घटता बढ़ता रहता था और इसीलिये हासिल सदा मूल्यांकन के बराबर ही नहीं होता था। इस विवरण में हासिल शब्द स्पष्ट ही आय के लिये आया है।

८—जमा—सामान्य रूप में यह शब्द 'योग' (टोटल) के अर्थ में प्रयोग किया जाता है। साहित्य में तो यह शब्द एक ही अर्थ का बोधक है, परन्तु प्रशासकीय शब्दावली में वह शब्द तीन विशेष अर्थों का बोधक है।

(अ) लेखा (ऐकाउन्ट) विभाग में वही खाते में जिस ओर प्राप्तियां वसूली लिखी जाती हैं उसे जमा कहते थे और जिस ओर व्यय लिखा जाता है उसे नाम कहते थे।

(ब), (स) महकमा लगान में प्रसंगान्तर से 'जमा' शब्द मांग का भी बोधक है और मूल्यांकन का भी। इस अर्थान्तर को स्पष्ट न कर पाने के कारण इस प्रकार के साहित्य में रुचि रखने वाले विद्यार्थियों को अनेक उलझनों का सामना करना पड़ता है।

(ब) मांग (डिमान्ड) खाफी खान ने 'जमा-ए-माल' को 'कुल मांग का योगफल' के रूप में प्रयोग किया है। जहां कहीं यह शब्द आया है बराबर

मांग का अर्थ स्पष्ट रहता आया है। खाफी खाँ ने भी कहीं कहीं 'जमा' शब्द को अकेला ही (बिना किसी अन्य शब्द के संयोग के) प्रयोग किया है। कुछ प्रारम्भिक लेखकों ने भी यही किया है। ऐसी दशा में प्रसंगानुसार अर्थ समझने के सिवाय कोई अन्य चारा नहीं। स्थानीय प्रशासन सम्बन्धी कुछ सरकारी कागजों में यह शब्द अवश्य ही मांग के रूप में आया है। इनमें सबसे महत्वपूर्ण कागज औरंगजेब का वह फरमान है जो उसने रसिक दास को दिया था। यह फरमान जमा शब्द कई बार लगान की माँग के ही अर्थ में प्रयोग में आया है। कलेक्टर्स तथा उनके क्लर्कों को अकबर द्वारा दिये गये आदेशों में भी जमा शब्द लगान की माँग के ही अर्थ में प्रयुक्त है। गैरसरकारी विवरणों में यह शब्द अधिकांश टोटल के अर्थ में आया है।

(स) मूल्यांकन—जब कभी यह शब्द केन्द्रीय प्रशासन के सम्बन्ध में इस्तेमाल किया गया है, वहाँ जागीरों के मूल्यांकन के रूप में आया है और इसका अर्थ उस मूल्यांकन के आँकड़े से है, जो किसी जागीर का मूल्यांकन है या समूचे साम्राज्य का। जहाँ यह शब्द साम्राज्य के मूल्यांकन के लिये व्यवहृत हुआ है वहाँ वह संकेतात्मक रूप में है। अफीफ ने जमा-ए-मामलकात लिखकर 'राज्य का मूल्यांकन' समझाया है, अकबरनामा में 'जमा-ए-परगनात' द्वारा परगने का मूल्यांकन' समझा जाता है, आईन में जमा-ए-विलायत से सारे देश के मूल्यांकन से मतलब है तथा जमा-ए-कस्बात व जमा-ए-करियात" से 'परगनों तथा गाँवों के मूल्यांकन' का बोध होता है। सत्रहवीं शताब्दी में इन सभी शब्दों के लिए जमा-ए-दामी शब्द प्रयोग में आया है। खाफी खाँ ने भी बराबर 'जमा-ए-दामी' शब्द का उपयोग किया है और उसका मतलब है कि कर्मचारियों की तनख्वाह के सम्बन्ध में दाम (एक सिक्का) से काम चलाया जाता था तथा शेष काम में रुपया ही काम में लाया जाता था।

पहला मूल्यांकन फीरोज के शासन काल में उसी के आदेश से किया गया था, जिसका वर्णन परिशिष्ट 'स' में किया गया है, जिन परिच्छेदों में अकबर के मूल्यांकनों का विवरण है वे परिशिष्ट में दिये गये हैं। इस स्थान पर 'जमा' शब्द का तकनीकी अर्थ स्पष्ट करने के लिये अकबर कालीन केवल दो उद्धरणों की आवश्यकता होगी।

(१) गुजरात की विजय के तुरन्त बाद ही राजा टोडरमल ने गुजरात की यात्रा इसलिये की कि साम्राज्य में मिलाये गये इस नये प्रान्त की तहकीके जमा को निश्चित कर लिया जाय (अकबरनामा भाग ३ पृष्ठ ६५-६७)। इसका अनुवाद मि० बेवरिज ने लगान का बन्दोबस्त किया है, जिसे आजकल लगान निर्धारण कहते हैं, परन्तु परिस्थिति एवम् प्रसंग के अनुसार ऐसा नहीं प्रतीत होता कि टोडरमल लगानी बन्दोबस्त के लिये गुजरात गये थे। गुजरात प्रदेश का बँटवारा अभी हाल ही में जागीरों में हुआ

था। इन जागीरदारों का काम था कि वे इस प्रान्त में मुगलों की शक्ति-स्थापना करें और उस समय न तो इतना समय ही था और न इस प्रकार की स्थिति ही थी कि समूचे सूबे में लगान की माँग का निर्धारण किया जा सकता। वास्तव में इस वाक्य का स्पष्ट अर्थ यह है कि टोडरमल ने इस प्रान्त की विभिन्न जागीरों का काम चलाऊ संक्षिप्त मूल्यांकन कर दिया था, जो हाल ही में विभिन्न कर्मचारियों को दी गई थीं और वहाँ से लौटकर राजा टोडरमल ने विभिन्न जागीरों की मूल्यांकन सूची महकमा लगान को दे दिया था, ताकि यह महकमा उस प्रान्त के विभिन्न जागीरदारों का खाता बना सके।

इसी सम्बन्ध के कुछ विवरण तबकाते अकबरी में भी आये हैं, उन विवरणों से भी इस शब्द का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। इनमें से पहला विवरण बतलाता है कि "चूंकि सूबा गुजरात से जमा-ए-मुमालिक सदर के दफ्तरखाने में नहीं पहुँचा था, इसलिए राजा टोडरमल को गुजरात भेजा गया कि वे उस प्रान्त की जमा-ए-विलायत को का ठीक-ठीक निश्चय कर लें और परिष्कृत सूची दफ्तरखाने में दे दें।" दूसरा विवरण यह है कि राजा टोडरमल गुजरात प्रान्त की जमा-ए-विलायत ठीक करने के लिए गये थे, वहाँ से जमा-ए-विलायत ठीक करके लौटे और सम्बन्धित कागजों को दफ्तरखाने में दे दिया। इन दो विवरणों से हम यह निश्कर्ष निकाल सकते हैं कि गुजरात के प्रान्तीय प्रशासन को आदेश दिया गया था कि वे उस प्रान्त का वास्तविक मूल्यांकन करके कागज सदर में भेज दें, परन्तु प्रान्तीय प्रशासन समय के भीतर उस काम को पूरा नहीं कर सका, इसलिए इसी काम को पूरा करने के लिए राजा टोडरमल को गुजरात भेजा गया था। हम देख सकते हैं कि इस लेखक ने पहले पूरे सूबे को जमा की बाबत कहा, फिर वह देश की जमा और फिर गुजरात की जमा की बाबत कहता है। इस दृष्टि से तीनों ही पर्यायवाची मालूम होते हैं।

(२) अकबरनामा भाग ३ पृष्ठ ७२६ पर काश्मीर के किसानों द्वारा किये उस विद्रोह एवम् उसके दमन का वर्णन दिया गया है, जो काश्मीर के मुगल साम्राज्य में मिलाये जाने के थोड़े ही दिनों बाद हुआ था। इस विद्रोह का दमन वहाँ के जागीरदारों ने ही कर दिया था। विद्रोह का कारण यह था कि उस प्रदेश में नये जागीरदारों ने खेतिहरों से अपनी अज्ञानता के कारण पूरी जमा की मांग की। इस प्रसंग में भी 'जमा' शब्द माँग के अर्थ में नहीं लिखा गया है, क्योंकि माँग की ही माँग करना न तो अज्ञानता ही थी और न अत्याचार पूर्ण ही। वास्तव में उक्त विवरण का सही तात्पर्य यह है कि जब काश्मीर का मूल्यांकन किया गया, तो गलती से अथवा और किसी कारण से मूल्यांकन का स्तर काफी ऊँचा हो गया था। जागीरदार

चाहते थे कि वे खेतिहरों से उसी स्तर पर लगान की माँग करें। अतः बिना स्थानीय स्थिति का ध्यान किये ही उन्होंने मूल्यांकन के स्तर पर ही लगान की वसूली शुरू कर दी। फल स्वरूप किसानों ने विद्रोह कर दिया। हमारे इस परिणाम की पुष्टि अकबर द्वारा उठाये गये कदमों ही से भी होती है। पहले तो उसने आपत्तिकालीन स्थिति की दशा में जागीरदारों को आदेश दिया कि स्थानीय माँग के स्तर के अनुसार उपज का आधा भाग ही लगान में लें। साथ ही उसने हुक्म दिया कि जिसने इससे अधिक रकम वसूल कर ली हो, वह अतिरिक्त रकम किसानों को वापस कर दें। उसका तीसरा आदेश यह हुआ कि देश का मूल्यांकन फिर से किया जाय, जो स्थानीय तथ्यों पर निर्धारित हो ताकि भविष्य में फिर ऐसे उपद्रव न हों।

सत्रहवीं शताब्दी के साहित्य में भी 'जमा' शब्द मूल्यांकन के ही अर्थों में व्यवहृत हुआ है। बादशाहनामा में एक विवरण दिया गया है कि बड़ी मुश्किलों के बाद जब पालमऊ का सरदार मुगलों के अधीन हुआ तो उससे कहा गया कि वह अपने देश से एक करोड़ दाम जमा दिया करे, क्योंकि इसी मूल्य पर वह देश उस सरदार को ही जागीर में दे दिया गया था। इस विवरण में जमा शब्द से किसानों से मांग का अर्थ तो लगाया नहीं जा सकता। बात यह थी कि न तो सरदार को कुछ देना था और न बादशाह को कुछ पाना था। पालमऊ इलाके का मूल्यांकन एक करोड़ दाम किया गया और वही एक करोड़ रुपया सरदार का वेतन मान कर उसी को वह जागीर दे दी गयी। पहले वह स्वतंत्र सरदार था, अब वह बादशाह का जागीरदार हो गया। ऐसी दशा में जमा शब्द से किसानों पर लगाई गई माँग का अर्थ कैसे निकल सकता है।

मूल्याँकन अर्थात् अनुमानित आय तथा हासिल अर्थात् वास्तविक आय का अन्तर एक अन्य विवरण से प्राप्त होता है, जो बादशाह द्वारा स्वीकृत किए गए एक पुरस्कार (इनाम) के विषय में है। सूरत बन्दरगाह का मूल्यांकन एक करोड़ दाम अर्थात् २$\frac{1}{2}$ लाख रुपया था। यह बन्दगाह एक व्यक्ति को इनाम में दिया गया था। बाद में विदेशी व्यापार की उन्नति के कारण इस बन्दरगाह की वास्तविक आय पाँच लाख रुपये हो गयी। इसी प्रकार हम देखते हैं कि सन् १६३० ई० के दुर्भिक्ष के बाद बगलाना प्रदेश की वास्तविक आय मूल्यांकन की आय की आधी हो गयी थी। आगे भी कितने ही लेखकों ने उनके सूबों, जिलों तथा परगनों की समृद्धिपूर्णता का वर्णन मूल्यांकन की ही आय से किया है।

अध्याय पाँच में हमने दिखाया है कि १८ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में जागीरदारों का

महत्व अत्यधिक गिर गया था। देश की गिरी हुई स्थिति में लोगों को मूल्यांकन का ज्ञान ही नहीं रह गया था। बृटिश शासन के प्रारम्भिक काल में 'जमा' शब्द के दोनों ही अर्थ एक में मिल गये, क्योंकि एक वर्ष की अनुमानित आय तथा वास्तविक आय में कोई विशेष अन्तर ही नहीं रह गया। आजकल अनुमानित आय के लिये भी और वास्तविक आय के लिये भी लगान (रेवेन्यू) शब्द ही प्रयोग में आता है। फिर भी कभी कभी लगान-मुक्त गाँवों के मूल्यांकन की आवश्यकता पड़ ही जाती है। विभिन्न प्रकार के करों को लगाने के लिये भी मूल्यांकन की आवश्यकता पड़ा करती है।

————

परिशिष्ट 'ब'

तेरहवीं तथा चौदहवीं शताब्दी के प्रान्तीय सूबेदार

दूसरे अध्याय में सूबा (प्राविंस) तथा सूबेदार (गवर्नर) शब्दों का प्रयोग एक ही वर्ग के दो अर्थों के लिए किया गया है। इसमें से पहला वर्ग है विलायत, व वली। इतिहास ग्रन्थों में विलायत शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों के लिए हुआ है, परन्तु सन्दर्भ के कारण उनका अर्थ स्पष्ट हो गया है। इसके अर्थ पाँच प्रकार के हो सकते हैं (१) विलायत शब्द किसी राज्य के एक सुनिश्चित भूभाग या सूबे के अर्थ में इस्तेमाल होता है। (२) कभी-कभी इस शब्द का प्रयोग अनिश्चित भूभाग के लिये भी हुआ है जैसे क्षेत्र (ट्रैक्ट) या विभाग (रीजन) (३) विलायत कभी-कभी पूरे राज्य के लिए भी प्रयुक्त हुआ है। (४) 'कोई विदेशी राज्य' के अर्थ में भी इसका प्रयोग हुआ है। (५) 'किसी भी विदेशी व्यक्ति का देश' भी इस शब्द का अर्थ होता है। इसीलिए अंग्रेजों के देश को भारतीय लोग विलायत कहते हैं, और इसी शब्द के आधार पर अंग्रेजी भाषा का ब्लाइटी शब्द भी बना है, जिसका अर्थ होता है, 'इंग्लैंड का सैनिक'। बली शब्द किसी-किसी स्थान पर विदेशी राज्य के शासक के अर्थ में व्यवहृत हुआ है, परन्तु सामान्य रूप से यह शब्द किसी सूबे के शासक के अर्थ में ही प्रयोग में आया है। ऐसे स्थानों में इसका अर्थ होता है कोई भी स्थानीय कर्मचारी जो सीधे बादशाह या उसके वजीर के आदेश पर कार्य करता है।

जहाँ तक मेरा ज्ञान है, यह शब्द किसी सामन्त के ही अर्थों में अधिक प्रयोग में आया है तथा सूबेदार शब्द का सही पर्यायवाची प्रतीत होता है। पश्चिमी एशिया के अधिकांश देशों में बली और सूबेदार समानार्थी हैं। दूसरे वर्ग के शब्दों की स्थिति इससे भिन्न प्रकार की है। ये शब्द है 'इक्ता' और मुक्ती जो इक्ता-ए—तथा मुक्ती-ए—रूप में प्रयोग में आये हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में अधिकांश अंग्रेजी अनुवादकों ने इन शब्दों का अनुवाद योरप की सामन्त कालीन शब्दावली के आधार पर किया है। कुछ पिछले लेखकों ने भी उन्हीं को आधार मान कर इन शब्दों का अनुवाद फौजी जागीर (Fief) तथा सामान्त (Feudal chiefs) के रूप में किया है। इन शब्दों के जाल में फंसकर इस समय के इतिहास में रुचि रखने वाले छात्रों को ऐसा समझ में आने

लगता है कि दिल्ली की सल्तनत अनेक विचित्रताओं का समिश्रण थी, जिसके कुछ सूबे 'वली' द्वारा शासित होते थे, परन्तु अधिकांश सूबे 'इक्ता' के ही रूप में थे, तथा उनका शासन मुक्ती द्वारा ही होता था, जिनकी स्थिति तत्कालीन योरप के सामन्तों की ही तरह थी। अतः इन शब्दों का अध्ययन तथा परीक्षण इस दृष्टि से करना चाहिये कि इन शब्दों का महत्व तथ्यों की पृष्ठ भूमि में है या दिल्ली की सल्तनत यूरोपीय ढङ्ग की थी। प्रश्न तथ्यों का है। यूरोपीय सामन्त प्रणाली की प्रवृत्तियों से छात्र परिचित हैं तथा दिल्ली सल्तनत के 'इक्ता तथा मुक्ती' शब्दों का वास्तविक अर्थ भी हम तत्कालीन ऐतिहासिक ग्रन्थों के विवेचन से प्राप्त कर सकते हैं। फिर दोनों की तुलना करने से दोनों ही व्यवस्थाओं की प्रवृत्ति का पता लग जायगा और उसी से उत्तरी भारत की ग्रामीण-व्यवस्था की मूल भूत बातों का भी पता लग जायगा।

भारत में जिस फारसी साहित्य का प्रचलन हुआ, उसके अनुसार भविष्य की सेवाओं के लिये किसी निश्चित रकम की आय वाली भूमि जब किसी को दी जाती थी, तो उसे इक्ता कहते थे। मुगल काल में इस शब्द के बदले में भी तथा तुयूल शब्द के बदले में भी जागीर शण्द का ही प्रयोग प्रायः हुआ है। इसलिये तेरहवीं शताब्दी में भी इक्ता शब्द जागीर के ही अर्थ में समझा जा सकता है। जिया बर्नी द्वारा प्रस्तुत विवरणों से भी इसी बात की पुष्टि होती है। बर्नी ने उन दो हजार सैनिकों का विवरण दिया है जिनकी भविष्य की सेनाओं के बदले में जागीरें मिली हुई थी। जागीर में मिले इन गाँवों को बर्नी ने इक्ता ही कहा है तथा इन सिपाहियों को इक्तादार ही कहा है। इस समय में इक्ता शब्द का प्रयोग अवश्य ही कुछ नियन्त्रित रूप में किया गया है। बर्नी ने बीस इक्ताओं का वर्णन किया है, जिनमें राज्य का अधिकांश बँटा हुआ था। स्पष्ट है कि दो हजार सैनिकों के 'इक्ता' से यह बीस इक्ता' का अर्थ कुछ विभिन्न है। इन बीस इक्ताओं की हैसियत केवल जागीर की ही नहीं थी। वे प्रशासकीय इकाइयों के अर्थ में प्रयुक्त हुये हैं। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि क्या इन मुक्तियों का पद योरपीय सामन्तों की ही तरह का था।

इस प्रश्न पर विचार करने के लिये हमें यह देखना चाहिये कि मुक्तियों का चुनाव जिन लोगों में से किया जाता था। तबकाते नासिरी में तत्कालीन सभी मुख्य सामन्तों का जीवनवृत्त दिया हुआ है, उससे पता चलता है कि तेरहवीं शताब्दी के मध्यकाल में जितने भी मुक्ती हुये हैं वे सब के सब प्रारम्भ में गुलाम थे। दिल्ली के प्रभावशाली बादशाहों में अल्तमश की गणना है। अपने जीवन के प्रारम्भ में वह स्वयम् एक गुलाम था। उसने स्वयम् भी सैकड़ों गुलाम विदेशों से खरीदा था, उन्हें

अपने महल में रक्खा था, तथा उनमें कितने ही को उसने उनकी योग्यता का खयाल करके सल्तनत के ऊँचे से ऊँचे ओहदे दिये थे। तबकाते नासिरी में दी गयी जीवनियों में से कुछ का सारांश पाठकों के लाभ के लिये नीचे दिया जाता है :—

(१) तगन खाँ—(पृष्ठ २४२) शमसुद्दीन अल्तमश ने खरीदा, पहले खिदमतगार छोकरे के रूप में, फिर दावातदार ❀ खाने का स्वाद बताने वाला, फिर अस्तबल का अध्यक्ष, बाद में बदाऊँ फिर लखनौती का मुक्ती बनाया गया। मुक्ती होने पर उसे स्वयमेव शाही बिल्ले (बैज) मिल गये।

(२) सैफुद्दीन ऐबक (पृष्ठ २५९)। बादशाह ने स्वयम् खरीदा, शाही कपड़ों का रखने वाला, शाही तलवार लेकर चलने वाला, समाना का मुक्ती, बरान का मुक्ती और सब से बाद में सर्वोच्च शाही नौकर अर्थात् वकीलेदार † बनाया गया।

(३) तुगरिल खाँ (पृष्ठ २६१) भी एक गुलाम था, एक के बाद एक पद पर चढ़ता गया जैसे खाने का जायका बताने वाले का सहायक, फिर हाथियों का अध्यक्ष, फिर दरबार का द्वारपाल, फिर अस्तबल का अध्यक्ष, सरहिन्द का मुक्ती, फिर बारी बारी से लाहौर, कन्नौज तथा अवध का मुक्ती। अन्त में लखनौती का मुक्ती बनाया गया, जहाँ से विद्रोह करके उसने अपने को बादशाह घोषित कर दिया।

(४) उलग खाँ, बाद में यही बलबन के नाम से बादशाह हुआ; तुर्किस्तान ‡ के एक सम्भ्रान्त परिवार से था, गुलाम बनाये जाने के कारण का पता नहीं चला, विक्रय के लिये बगदाद और फिर गुजरात ले आया गया। गुजरात से गुलामों का एक व्यापारी उसे दिल्ली ले आया, जहाँ बादशाह ने उसे खरीद लिया। पहले वह बादशाह का शाही खिदमतगार बनाया गया, फिर खेलों का सरदार बनाया गया, फिर

❀ दावातदार। एक बार बादशाह का रत्नजटित कलमदान गायब हो गया था, उसके लिये तगन को सजा दी गई थी। इसी से पता चलता है कि शाही-लेखन-सामग्री उसकी देख रेख में रहती थी। 'दावतदार आजम' एक ऊँचा ओहदा माना जाता था।

† वकीलेदार पद की ठीक स्थिति का पता नहीं चलता।

‡ लेखक ने बलबन की तारीफों के पुल बाँध दिये हैं। मुमकिन है यह सब खुशामद हो क्योंकि तबकाते नासिरी बलबन के ही समय में लिखी गई। फिर भी इसमें ऐसा कुछ भी नहीं लिखा गया है, जो असम्भव हो। एक शताब्दी के बाद इब्न बतूता ने भी इसी विषय पर लिखा है परन्तु उसने इतनी प्रशंसा नहीं की है। यह बात दोनों ने स्वीकार किया है कि बलबन प्रारम्भ में एक गुलाम था।

घोड़ों का अध्यक्ष बनाया गया, फिर हांसी का मुक्ती, फिर बादशाह का खास सहायक, तथा अन्त में दिल्ली का बादशाह ।

जिस समय में ऐसे ऐसे लोग मुक्ती हुये हों, उस समय की तुलना योरप के सामन्तवादी युग से करना ठीक नहीं प्रतीत होता । इस समय में भारतीय बादशाहों का महल गुलामों से पटा पड़ा रहता था, जो अपनी योग्यता से अथवा बादशाह की कृपा से राज्य के ऊँचे से ऊँचे ओहदे पर पहुँच सकते थे और बादशाह भी बन सकते थे । इस प्रकार की सामन्त शाही केवल एशिया में ही मिल सकती है न कि योरप में । यदि मुक्ती की वास्तविक स्थिति का परीक्षण किया जाय तो इसी प्रकार की बातें वहाँ भी दिखाई देंगी । किसी भी स्थल पर इस पद की स्थिति का वर्णन नहीं किया गया है परन्तु अप्रत्यक्ष रूप से जो कुछ भी जाना जा सका है, उसका सारांश नीचे दिया जाता है :—

(१) मुक्ती का सम्बन्ध तो किसी भूभाग से होता नहीं था (उसका जन्म तो यहाँ हुआ नहीं था) और न तो उसका किसी क्षेत्र पर सरदार या जागीरदार की तरह अधिकार ही होता था । उसकी नियुक्ति स्वयम् बादशाह ही करता था और वही उसे हटा भी सकता था अथवा उसे किसी समय स्थानान्तरित भी कर सकता था । यदि इस मान्यता को उद्धरणों द्वारा प्रमाणित करना चाहें तो इतने अधिक उद्धरण मिलेंगे कि उन सबको यहाँ पर दे सकना असम्भव होगा । तत्कालीन किसी भी ऐतिहासिक ग्रन्थ के दस पृष्ठ पढ़ें तो इस प्रकार की नियुक्ति के अपदस्थ किये जाने के तथा स्थानान्तरित दिये जाने के दो एक उदाहरण अवश्य ही मिल जायँगे । ऊपर जिन जीवन वृत्तों का उद्धरण दिया गया है, उन्हीं से यह पता चल जाता है कि उनकी नियुक्ति के लिए किसी भूभाग की आवश्यकता नहीं होती थी, लाहौर से लखनौती तक बादशाह की निरंकुश इच्छा मात्र से वह कहीं भी भेजा जा सकता था । यह दशा तो हुई तेरहवीं शताब्दी की । चौदहवीं शताब्दी में (बर्नी के अनुसार) जब गयासुद्दीन तुगलक गद्दी पर बैठा तो उसने अपने साथियों में से प्रत्येक के लिए इकता का प्रबन्ध किया । अपने सहायकों रिश्तेदारों यहाँ तक कि खिदमतगारों को भी उसने नहीं छोड़ा । इसमें भी इस बात का कोई विचार नहीं किया गया कि किस व्यक्ति का सम्बन्ध किस प्रान्त से या भूभाग से है, केवल प्रशासकीय योग्यता का विचार करके ये नियुक्तियाँ कर दी गयी । इस प्रकार की सार्वदेशिक नियुक्तियाँ तथा स्थानान्तरण ही इन मुक्तियों :को योरपीय सामन्तों से अलग करने के लिए पर्याप्त हैं ।

(२) मुक्ती को जहाँ भी भेज दिया जाता था, वहीं का काम करने के लिये

उसे जाना ही होता था। मूल ऐतिहासिक ग्रंथों को पढ़ने वालों पर यह बात स्वयमेव स्पष्ट हो जायगी, परन्तु अन्य पाठकों को इस विषय की पूर्ण जानकारी देने के लिए दो उदाहरण पर्याप्त होंगे। बर्नी ने अपने ग्रन्थ के पृष्ठ ९६ पर कहा है कि बंगाल के विद्रोह को पूर्णतः दबा देने के बाद तथा तुगरील और उसके साथियों को उखाड़ फेंकने के बाद बलबन ने अपने लड़के बुगरा खाँ को बंगाल की गद्दी पर बैठाया और उस अवसर पर उसने अपने पुत्र को समयोचित उपदेश दिया। बर्नी के अनुसार बलबन अपने लड़के की सुस्ती एवम् असावधानी को जानता था, अतः उसने बुगरा खाँ को समझाया कि यदि बादशाह को अपनी गद्दी सुरक्षित रखना हो तो उसे कर्मिष्ठ एवम् चौकन्ना होना चाहिये। इसी उपदेश के क्रम में उसने बादशाह तथा मुक्ती के पद का अन्तर भी स्पष्ट किया है। बलबन ने बुगरा खाँ को समझाया कि बादशाह की त्रुटियाँ अपरिमार्जनीय होती हैं, और न केवल उसके लिए वरन् उसके समूचे परिवार के लिए ज़ान लेना होती हैं। इसके विपरीत यदि कोई मुक्ती अपनी सूबेदारी (विलायतदारी) में गफलत करता है, तो अधिक से अधिक उसे जुर्माना देना पड़ सकता है, या वह अपस्थ किया जा सकता है, परन्तु उसके जीवन के लिए कोई भय नहीं है और न उसके परिवार के लिये ही कोई भय है। बाद में वह अपनी योग्यता या खुशामद से फिर वही पद प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार पता चलता है कि मुक्ती का खास काम शासन प्रबन्ध की देख रेख करना ही था और इस कर्तव्य में प्रमाद करने पर उसे जुर्माना भी हो सकता था और वह अपस्थ भी किया जा सकता था।

पन्द्रहवीं शताब्दी में इसी प्रकार की कहानी अफीफ ने भी कहा है कि किस प्रकार ऐनुलमुल्क नामक एक महकमा लगान के अधिकारी ने वजीर से झगड़ा कर लिया और वह अपदस्थ कर दिया गया। बादशाह ने फिर उसे मुलतान का मुक्ती बना कर भेज दिया और कहा कि 'तुम मुलतान के इक्ता में जाओ और वहां के आवश्यक कर्तव्यों (कारहा व करदारहा) की पूर्ति करो।' ऐनुलमुल्क ने जवाब दिया कि "जब मैं शासन प्रबन्ध (अमल) को अपने हाथ में लूँगा और उस इक्ता की देख रेख करूँगा तो मेरे लिए यह गैरमुमकिन होगा कि मैं उक्त इक्ता का हिसाब किताब उस वजीर को दिखाया करूँ, इसलिए मैं सारा हिसाब हुजूर की खिदमत में ही पेश करूँगा।" उसकी बात मान कर बादशाह ने मुल्तान इक्ता का कारबार वजीर-लगान के हाथों से ले लिया, और तभी ऐनुलमुल्क ने अपनी नियुक्ति को स्वीकार किया। इस वर्णन की भाषा भी यही संकेत देती है कि मुक्ती का पद शुद्ध प्रशासकीय पद था।

(३) मुक्ती का यह कर्तव्य भी था कि वह अपने अधिकार में एक फ़ौज भी

रक्खे जो समय पर बादशाह की सेवा कर सके। इस सेना की हैसियत का अन्दाज उस आदेश से लगता है जो गयासुद्दीन ने अपने उन अमीरों को दिया * था, जिन्हें 'उसने इक्ता व विलायतें दी थी।' उसने आदेश दिया था कि 'सैनिकों के वेतन का छोटा सा भाग भी हड़पने की कोशिश कोई मुक्ती न करे। चाहे अपने भाग में से आप सैनिकों को कुछ दे या न दें, परन्तु यदि आप लोगों ने सैनिकों के प्राप्य में से कुछ लेने का प्रयत्न किया, तो आप लोगों के लिए अमीर की पदवी ही बेकार होगी। जो भी अमीर सैनिकों के प्राप्य में से कटौती करके अपने खाने का प्रबन्ध करता है, उसे धूल फांकना चाहिये।' इस विवरण से पता चलता है कि मुक्तियों के आधीन रहने वाले सैनिकों की संख्या व वेतन का निर्णय बादशाह ही करता था और वही उनके वेतन का प्रबन्ध भी करता था। मुक्ती लोग यदि चाहें तो अपने व्यक्तिगत खर्च में कटौती करके सैनिकों का वेतन बढ़ा सकते थे, परन्तु उनके वेतन में एक पैसे की भी कटौती करना उनके अधिकार में नहीं था।

(४) अपने क्षेत्र के खेतिहरों से लगान की वसूली करना मुक्ती का ही कर्तव्य था। वह इस प्रकार की वसूली करके उसमें से बादशाह द्वारा विभिन्न कार्यों के लिए स्वीकृत रकमों को काटकर शेष भाग को सरकारी खजाने में जमा कर दिया करता था। यह सरकारी खजाना राजधानी में ही रहता था। इस प्रकार की कार्यवाही का एक उदाहरण बर्नी द्वारा प्रस्तुत उस विवरण में मिलता है, जिसके अनुसार बादशाह होने के पहले अलाउद्दीन खिलजी कड़ा व अवध का मुक्ती था और वहीं से दक्षिण विजय का स्वप्न देखा करता था। उसने तत्कालीन शाह जलालुद्दीन से प्रार्थना की कि सरकारी खजाने में भेजी जानी वाली रकम उसे कुछ दिन तक स्वयम् खर्च करने के लिए दे दी जाय, ताकि उसकी सहायता से वह अपनी अधीनस्थ सेना में वृद्धि कर सके। इसके बदले में उसने वादा किया कि जब वह दक्षिण से लौटेगा तो लूट के माल सहित वह सारी बकाया रकम सरकारी खजाने में जमा कर देगा।

(५) मुक्ती के जमा व खर्च के हिसाब को लगान महकमा के कर्मचारी जाँचा करते थे। यदि किसी के जिम्मे कोई रकम बकाया पाई जाती तो उसे वसूल किया जाता था और कितने ही बादशाह इस काम में बड़ी सख्ती से काम लेते थे। गयासुद्दीन तुगलक के पूर्ववर्ती शासक इस प्रकार की वसूली के लिए बड़ी सख्ती का व्यवहार करते थे, अतः गयासुद्दीन ने अपने समय में आदेश दिया कि मुक्तियों के साथ छोटे नौकरों का सा व्यवहार न किया जाय। शायद मुहम्मद तुगलक के समय में इस

* बरनी पृष्ठ ४३१। कृपया परिशिष्ट स भी देखिये।

प्रकार की सख्तियाँ फिर चालू हो गयी थीं, परन्तु आगे चलकर किसी भी 'वली या मुक्ती' को फीरोज तुगलक के समय में परेशान नहीं होना पड़ा। इस प्रकार लेखा-निरीक्षण तथा बकाया वसूली में की जाने वाली सख्तियाँ भी विभिन्न बादशाहों के समय में विभिन्न प्रकार की थीं, परन्तु थीं अवश्य।

मुक्तियों के विषय में ऊपर दिये गये विभिन्न विवरणों से यह संकेत तो मिलता ही है कि उस समय की सरकार का संगठन शुद्ध नौकरशाही संगठन था। मुख्य अधिकारियों की नियुक्ति बादशाह स्वयम् करता था। उन्हें स्थानान्तरित करना, दण्ड देना या अपदस्थ करना भी उसी के हाथ में रहता था तथा वे अपने अपने क्षेत्रों का शासन भी उसी के आदेशानुसार करते थे, परन्तु उनका आर्थिक नियंत्रण महकमा लगान के हाथों में रहता था, जो सब प्रकार के आयव्यय के सामयिक निरीक्षण तथा बकाया की वसूली का काम करता था। इन तमाम बातों की कोई भी संगति योरप के सामन्तशाही संगठन से नहीं बैठती। योरोपीय इतिहास में अत्यधिक रुचि रखने वाले एक विद्वान से जब मैंने इस प्रकार की संगति की बात कहा तो उसने कहा कि इस संगठन की संगति सामन्तवादी योरप से तो नहीं, परन्तु हेनरी द्वितीय कालीन इंगलैन्ड से अवश्य बैठती है, जब उसने सामान्तशाही से ऊब कर नौकरशाही स्थापित करने का प्रयास किया था। कई लेखकों ने सामन्तवादी योरप की शब्दावली का व्यवहार मुस्लिम कालीन विवरणों में इसलिए कर दिया कि उन्होंने दोनों देशों की व्यवस्था में एक समानता पायी थी। जिस प्रकार योरप के सामन्तों ने, उसी प्रकार भारत के मुस्लिम कालीन मुक्तियों ने भी यदा कदा विद्रोह किया था तथा समय पर उत्तराधिकार के झगड़ों में एक दूसरे शहजादे का साथ दिया था, परन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि भारतीय सूबेदारों (मुक्तियों) के पास भी उतनी शक्ति संग्रहीत रहती थी, जितनी योरोपीय वैरनों के पास सम्भव नहीं हो सकती थी, अतः अवसर पाकर बादशाह के विरुद्ध विद्रोह कर सकना उनके लिये भी सम्भव था। इस स्थिति में योरपीय शब्दावली का प्रचलन भारतीय इतिहास में करना किसी भी प्रकार युक्तिपूर्ण नहीं है। यहाँ के मुस्लिम कालीन शासन में कहीं भी सामन्तशाही का लेश नहीं था, वह तो ऊपर से नीचे तक नौकरशाही संगठन था।

इस सम्बन्ध में इस प्रश्न पर विचार करना और बाकी रह गया है कि क्या 'वली' पद और मुक्ती के पद में कोई अन्तर था। इतिहास ग्रंथों में वली शब्द का प्रयोग इतना कम हुआ है कि जिस प्रकार मुक्ती के पद और कर्तव्यों का वर्णन करना सम्भव हुआ, उस प्रकार वली के पद और कर्तव्यों का वर्णन करना सम्भव नहीं है।

'वलियों एवम् मुक्तियों' का प्रयोग इस प्रकार अनेक बार हुआ है कि दोनों पद समानार्थक मालूम होते हैं। 'इक्ता और विलायत' का भी प्रयोग प्रायः इसी प्रकार युग्म रूप में हुआ है। ऊपर से देखने में इन जोड़ों में आपस में कोई अन्तर नहीं जान पड़ता, परन्तु यह तो असम्भव ही जान पड़ता है कि इनके विस्तार में जाने पर भी कोई अन्तर दिखाई ही न पड़े। एक निकट भूतकालीन लेखक की राय में जो प्रान्त राजधानी * के निकट पड़ते थे, उन्हें इक्ता कहते थे तथा जो प्रान्त दूर पड़ते थे, उन्हें विलायत कहते थे। इतिहासकारों के विस्तृत वर्णन पढ़ने से यह स्पष्टीकरण उचित नहीं समझ पड़ता। इन शब्दों को यदि व्युत्पत्ति के ही आधार पर देखा जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि 'वली' इस्लाम धर्म का शब्द है, जो नौकरशाही सूबेदार (गवर्नर) के लिये प्रयोग में आता था। आठवीं शताब्दी में अबूयूसुफ ने बगदाद के सम्बन्ध में इस शब्द का प्रयोग किया है और टर्की में यह शब्द आज भी इसी अर्थ के लिये प्रयोग में आता है। मुझे इसका अवसर नहीं मिल सका कि मैं 'इक्ता' तथा 'मुक्ती' शब्दों की खोज भी इस्लाम के धार्मिक साहित्य में कर सकूँ, क्योंकि मुझे प्रायः अनुवादों के सहारे ही काम चलाना पड़ा है। फिर भी जागीरदारों में दिये गए सूबों का विवरण यदि सावधानी से पढ़ा जाय तो पता चलता है कि जिन सूबों को इक्ता कहा गया है, वे पहले जागीरदारी पर उठे हुये थे, अर्थात् इन प्रान्तों के शासकों के लिये यह आवश्यक था कि वे शाही खिदमत के लिये एक फौज रक्खें। इस प्रकार इस बात की सम्भावना है कि कभी 'वली' और 'मुक्ती' में यही अन्तर रहा हो कि वली लोगों के लिये फौज रखना आवश्यक न रहा हो जब कि मुक्तियों को फौज रखने का आदेश रहा हो। यदि प्रारम्भ में ऐसा अन्तर रहा भी हो तो यह अन्तर गयासुद्दीन तुगलक के समय तक गायब हो चुका था, क्योंकि सैनिकों के वेतन के बारे में दिया हुआ उसका आदेश "वलियों और मुक्तियों पर समान रूप से लागू होता था।"

मूल ऐतिहासिक ग्रन्थों में इन शब्दों में कोई अन्य अन्तर नहीं दिखाई पड़ता

---

* कानूनगो लिखित शेरशाह पृष्ठ ३४९, ३५०। बर्नी ने दिल्ली के समीपस्थ सूबे को भी विलायत कहा है जैसे बरान, अमरोहा, समाना को उसने विलायत कहा है, जब कि दूरस्थ सूबों मुल्तान और महाराष्ट्र को इक्ता कहा है। दूर के कुछ सूबे जो सीधे किसी वजीर के शासन में थे, उन्हें न तो इक्ता ही कहा गया है और न विलायत ही।

क्योंकि इनमें ऐसे विवरण भी मिलते हैं, जिनमें "विलायतों के मुक्तियों" * का वर्णन है। इनमें जो थोड़ा बहुत जो अन्तर यदा कदा प्रगट भी होता है, उससे हमारे विषय अर्थात् ग्रामीण-व्यवस्था पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। ऐसी स्थिति में हम तो इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि किसी भी ढङ्ग से सोचने पर दिल्ली के शासन का विवरण देने में योरप के सामान्तवादी युग की शब्दावली का प्रयोग उचित नहीं है। सुरक्षित प्रदेशों को छोड़ कर शेष सारा साम्राज्य ऐसे सूबों में बँटा हुआ था, जिनका शासन एकदम से नौकर सूबेदारों के हाथों में था। यह दूसरी बात है कि बादशाह के आदेश से या किसी परम्परा के कारण विभिन्न सूबेदारों का सम्बन्ध महकमा लगान से विभिन्न स्तर का रहा हो, परन्तु वहाँ तक इन विभिन्न सूबों की ग्रामीण-व्यवस्था का सम्बन्ध है, इन दोनों शब्दों (वली, व मुक्ती) को पर्यायवाची मान लेने में कोई हर्ज नहीं होगा।

इतना कहा जा सकता है कि मुक्ती शब्द आगे चल कर अप्रचलित हो गया। तारीखे मुबारक शाही में यह शब्द केवल प्राचीन लेखकों की कृतियों का सारांश देने में ही प्रयुक्त हुआ है। यह ग्रंथ पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य में लिखा गया था। इस समय का वर्णन करते समय लेखक ने केवल अमीर शब्द का ही इस्तेमाल किया है। अमीर शब्द का प्रयोग एक शताब्दी पहले इब्न बतूता ने भी किया था। कभी तो वह मुस्लिम कालीन सूबेदारों को अमीर कहता है और कभी वली, परन्तु मुक्ती शब्द का प्रयोग मेरी समझ में उसने एक बार भी नहीं किया है। शायद उसके समय के पहले से ही अमीर शब्द प्रचलन में आ गया था। अकबर के जमाने के लेखक निजामुद्दीन अहमद ने अमीर के स्थान पर हाकिम शब्द का प्रयोग किया है। फरिश्ता ने यदा कदा मुक्ती शब्द का प्रयोग किया है, अन्यथा हाकिम या सिपहसालार शब्द का प्रयोग किया है। इस स्थिति में ऐसा प्रतीत होता है कि अकबर के शासन काल में मुक्ती शब्द का प्रयोग करीब-करीब बन्द हो चुका था और उसका स्थान प्राचीन ग्रन्थों तक ही सीमित रह गया।

---

* तबकात नासिरा में ऐसे शब्द समूह आये हैं, जैसे अवध के विलायत का मुक्ती, सरसुती के विलायत का मुक्ती। बर्नी ने मुक्तियों के कर्तव्यों का वर्णन विलायत दारी शब्द के शीर्षक से ही किया है।

परिशिष्ट 'स'

चौदहवीं शताब्दी के कुछ विवरण

चौदहवीं शताब्दी की ग्रामीण-व्यवस्था से सम्बन्धित कुछ इस प्रकार के विवरण तत्कालीन मूल ऐतिहासिक ग्रन्थों में पाये जाते हैं, जिनका अर्थ स्पष्ट नहीं होता। उनके जो भी अनुवाद इस समय तक पाये जाते हैं, वे भी सही सही भाव देने में असफल रहे हैं। जिन अनुच्छेदों का अनुवाद नीचे दिया जा रहा है, वे इसी प्रकार के हैं। पाठकों को यह बात ध्यान में रखना चाहिये कि अधोलिखित अनुवाद भावानुवाद है। यदि मूल पुस्तक से भिन्न कुछ लिखा भी गया है तो इस तथ्य को कोष्ठकों में सूचित कर दिया गया है। अनुवाद के नीचे जो टिप्पणियाँ दी गई हैं, उनमें उन पारिभाषिक शब्दों को समझाने का प्रयत्न किया गया है जो इन विवरणों में आये हैं। पाठकों की सुविधा के लिये हमने वाक्यांशों को विराम चिह्नों की सहायात से अलग कर दिया है, जो मूलग्रन्थ में नहीं किया गया है। इन्हें और भी सुविधाजनक बनाने के लिये अंकों का भी सहारा लिया गया है। मूलग्रन्थ में वे एक ही अनुच्छेद में दिये गये हैं।

१—अलाउद्दीन के लगान सम्बन्धी आदेश :—

(मूलग्रन्थ बर्नी २८७। इसका अनुवाद अँग्रेजी में इलियट ने किया है, जो उनकी इतिहास पुस्तक के तीसरे भाग के १८२ पृष्ठ पर तथा जर्नल आफ ऐशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल के भाग ३९ पृष्ठ ३८२ पर दिया गया है। जर्नल में मि० ब्लाकमैन की टिप्पणियाँ भी दी गई हैं।)

क—बादशाह अलाउद्दीन ने विद्वानों को ऐसे नियम प्रस्तुत करने का आदेश दिया, जिनकी सहायता से हिन्दुओं (१) को पीस डाला जा सके,

ख—ताकि जिस धन और जायदाद के बल पर वे (हमारे शासन के प्रति) असन्तोष प्रगट करते हैं तथा विद्रोह खड़ा करते हैं, वह उनके अधिकार में न रह जायँ,

ग—सरकारी माँग की अदायगी के लिये ऐसा नियम बनाया जाना चाहिये कि वह खूत (सरदार) से लेकर मेहतर (२) तक के ऊपर समान रूप से लागू हो;

घ—ताकि सबलों के ऊपर की गयी सरकारी माँग का भार निर्बलों पर न पड़े।

ङ—और हिन्दुओं (१) के पास इतना भी न बँचने पावे कि वे घोड़े की सवारी कर सकें, हथियार लेकर चल सकें, बढ़िया कपड़े खरीद सकें, और जीवन का आनन्द उठा सकें;

च—विद्वान् लोग दो नियम (३) बनावें जो उपरोक्त शर्तों की पूर्ति करें, क्योंकि सरकार का सर्वाधिक मुख्य लक्ष्य यही है।

छ—पहला नियम,—चाहे बड़े खेतिहर हों या छोटे, वे नाप प्रणाली के ही अन्तर्गत प्रति विस्वे (४) पर लगान देने की शर्त पर खेत जोतें,

ज—बिना किसी रियासत के वे उपज का आधा लगान में दें;

झ—इस अदायगी में सरदार से लेकर मेहतर (२) तक में कोई भेद भाव न रक्खा जाय;

ञ—सरदारों के स्वामित्व में उनका हक समझकर एक विन्दु बराबर भी भूमि न छोड़ी जाय (मूलग्रंथ में इसके आगे चरागाहों पर कर लगाने के लिये दूसरे नियम का वर्णन है)

टिप्पणियाँ

(१) "हिन्दू"—जैसा कि अध्याय २ में कहा गया है, बर्नी इस शब्द का बहुत संकुचित अर्थ में प्रयोग करता है, जिसमें खेतिहरों के ऊपर का ही वर्ग आता है। इसलिये ये इस अंश में प्रयुक्त हिन्दू शब्द से केवल हिन्दू सरदार व हिन्दू मुखिया ही समझना चाहिये.।

(२) "सरदार से लेकर मेहतर तक" (फ्राम चीफ टूस्वीपर) के लिये फारसी में "अजखूत बा बलहर" आया है। बलहर फारसी का शब्द नहीं है। मि० ब्लाकमैन के अनुसार भारतीय गाँवों में निम्नतम श्रेणी का कार्य करने वाली एक नीची जाति के लोगों को बलहर कहा जाता है। बर्नी के देश अपर दोआब में बलहरों का काम मेहतर जाति वाले ही करते थे, अतः स्पष्ट ही इस शब्द का लक्षणात्मक अर्थ गाँव में रहने वालों में निम्नतम वर्ग ही है। अंग्रेजी में अनुवाद करने वालों ने बलहर शब्द का अनुवाद में स्वीपर शब्द इसलिये रक्खा कि बलहर के लिये अंग्रेजी में कोई शब्द ही नहीं है।

वाक्यांश 'झ' का दूसरा शब्द 'खूत' है, जो कहीं भी फारसी साहित्य में नहीं मिलता। अतः इसके स्पष्टीकरण के लिये बर्नी द्वारा लिखित समानान्तर विवरणों का

अध्ययन किया गया। बर्नी ने खूत और खूता दो शब्दों का प्रयोग किया है जिनके आपसी अन्तर का पता नहीं चलता। चूँकि यह शब्द बलहर का विरोधाभासी है, इसलिये खूत शब्द की खोज भारतीय गाँवों के उच्चतम् वर्ग में करना चाहिये। बर्नी के सभी विवरणों से इसकी पुष्टि भी होती है। खूत शब्द का जोड़ा बर्नी ने मुखिया या मुकद्दम को बनाया है (२८८, २९१, ३२४, ४३०, ४७९, ५५४) परन्तु दो विवरणों में उसने इसे चौधरी शब्द के साथ खूत शब्द का जोड़ा बनाया है और उसके हकों का वैसे ही वर्णन किया है जैसे मुखियों या चौधरियों का।

बर्नी ने जब तक सरदार शब्द के लिए जमीन्दार शब्द का प्रयोग नहीं किया जब तक कि वह अपने ग्रन्थ के अन्तिम भाग में नहीं पहुँच गया। उस भाग में भी ग्रामीण-व्यवस्था के सम्बन्ध में उसने जमीन्दार शब्द का प्रयोग नहीं किया। जहां जहाँ हमारी समझ से जमीन्दार शब्द आना चाहिये था, सभी स्थानों पर उसने खूत शब्द का ही प्रयोग किया है। इसका तर्कपूर्ण कारण यही माना जा सकता है कि उसके जीवन काल के अन्तिम भाग में जमीन्दार शब्द प्रयोग में आने लगा था और खूत शब्द के बदले लोग उसे ही पसन्द करने लगे थे। ऐसी दशा में यही मान लेना ठीक जान पड़ता है कि खूत और जमीन्दार शब्द समानार्थी हैं। यदि हम बर्नी के विवरणों में हर जगह पर खूत शब्द के बदले जमीन्दार शब्द रख दें तो कोई अर्थ-भ्रष्टता नहीं होती। यदि वे समानार्थी नहीं हैं तो हमे यह मानना पड़ेगा कि जिया बर्नी के बाद में लिखने वाले इतिहासकार के समय तक 'खूत' वर्ग ही मूलतः समाप्त हो गया था, परन्तु यह कल्पना असम्भव भी है और अनावश्यक भी।

खूत शब्द की व्युत्पत्ति भी शंकास्पद है। मि० ब्लाकमैन ने इसे अरबी शब्द माना है तथा मि० स्टीनगैस ने इसका अनुवाद किया है "एक मोटा परन्तु खूबसूरत व चुस्त आदमी" परन्तु उन्होंने यह नहीं बताया कि इस शब्द का अर्थ सरदार (चीफ) कैसे हो गया। जिस हस्तलिपि का अनुवाद किया गया था उसमें जबर, जेर, पेश * नहीं दिया गया था अतः हो सकता है कि इसका उच्चारण ही भिन्न हो और हम लोग किसी ऐसे शब्द के पीछे हैरान हो रहे

* फारसी की वर्णमाला में अ, इ, उ, स्वर नहीं होते, अतः इनका काम जबर, जेर, पेश तीन निशानों से निकाला जाता है। जब भी कोई व्यक्ति तेजी से फारसी या उर्दू में लिखता है तो इन निशानों का प्रयोग प्रायः नहीं करता, जिससे जानने वालों को उच्चारण में बड़ी परेशानी होती है।

—अनुवादक

हों•जो भारत में ही बना लिया गया हो। खूत शब्द का मूल चाहे जो हो, बर्नी ने इसका प्रयोग अवश्य ही सरदार के अर्थ में किया है। अपने विश्लेषण के बल पर ब्लाकमैन ठीक अर्थ तक पहुँच सका था, जब उसने स्पष्ट किया कि खूत लोग अवश्य ही खेतिहरों में सर्वोच्चवर्गीय ही हो सकते हैं, परन्तु इस शब्द का अनुवाद जो उसमें भूमि का स्वामी (लैंड ओनर) कर दिया उससे इतिहास की संगति नहीं बैठती।

कई विद्वानों का विचार है कि यह शब्द फारसी न होकर भारतीय है, जो मराठी शब्द 'खोट' का समकक्षीय है। खोट शब्द को कोंकण प्रदेश के लोग जानते भी हैं और प्रयोग भी करते हैं। बर्नी ने इस शब्द को फारसी के ख और त अक्षरों से लिखा है, जिससे मालूम नहीं होता कि यह शब्द संस्कृत से लिया गया है। कोंकण प्रदेश में भी खोट शब्द का प्रयोग सोलहवीं शताब्दी से पूर्व नहीं मिलता। सोलहवीं शताब्दी में यह शब्द बीजापुर में प्रयुक्त हुआ है। सम्भव है कि अलाउद्दीन के दक्षिण विजय के समय इस अरबी भाषा के शब्द को दक्षिण भारतीय लोगों ने ग्रहण कर लिया हो, और उसका उच्चारण खूत की जगह खोट कर लिया हो। प्रोफेसर होदीवाला ने एक प्रपत्र (डाक्यूमेंट) की खोज की है जो मुगलों द्वारा महाराष्ट्र विजय का पूर्ववर्ती है, उस प्रपत्र में भी खोट शब्द मिलता है, परन्तु उसकी स्थिति का वर्णन नहीं किया गया है। उसमें लिखा है कि "गुजरात में खोट हुआ करते थे।" हो सकता है कि जो शब्द उत्तर भारत में अप्रचलित हो गया, वही गुजरात तथा कोंकण में प्रचलन में बना रह गया हो। जो भी हो, अभी इस शब्द के पूर्ण स्पष्टीकरण के लिये और भी सामग्रियाँ अपेक्षित हैं।

(३) इस 'च' वाक्यांश की रचना त्रुटिपूर्ण प्रतीत होती है। मेरी समझ के अनुसार इस वाक्यांश को इस तरह लिखा जाना चाहिये "उपरोक्त लक्ष्य को पूर्ति के लिये दो नियम बनाये गये।"

(४) "नाप प्रणाली के ही अन्तर्गत प्रतिबिस्वे" फारसी में "हुक्मे-मसाहत व वफा-ए-बिस्वा'

बर्नी ने लगान निर्धारण के लिये दो हुक्मों का वर्णन किया है, 'मसाहत और हासिल' अर्थात नाप प्रणाली व उपज प्रणाली (बँटाई प्रथा)। वह इन प्रणालियों के विस्तार का वर्णन नहीं करता, परन्तु आगे के विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि नाप प्रणाली द्वारा लगान निर्धारण में फसल की खराबी की दशा में छूट मिलने की गुञ्जाइश थी। हासिल प्रणाली में तो छूट की जरूरत ही नहीं पड़ती। यदि हम यह

मान लें कि "मसाहत और हासिल" दो प्रणालियाँ लगान निर्धारण की हैं तो इन्हें वही प्रणालियाँ मानना चाहिये जिन्हें हम नाप तथा बँटाई कह चुके हैं। हम देख चुके हैं कि उस समय के हिन्दू और मुसलमान दोनों ही जातियाँ इन दोनों प्रथाओं से सुपरिचित थीं और यही दोनों प्रथायें सोलहवीं शताब्दी में नये नाम धारण करके फिर हमारे सामने आती हैं और उन्नीसवीं शताब्दी तक चालू रहती हैं। मसाहत के बदले मुगलकाल के सरकारी कागजों में जरीब या पैमाइश शब्द मिलता है, परन्तु स्थानीय परम्परा में मसाहत शब्द बना रहता है, क्योंकि सन् १८३२ ई० में भी पैमाइश करने वाले भारतीय लोगों के दल को 'मसाहूत इस्टैब्लिशमेंट' कहते थे। हासिल का अर्थ स्पष्ट रूप से यही है कि 'उपज में से राज्यांश लेने की कार्यवाही' इसके अतिरिक्त इस शब्द से अन्य कोई संकेत नहीं प्रगट होता।

'वफा-ए-विस्वा' बर्नी के सिवा अन्य किसी भी लेखक ने नहीं लिखा है। ऐसा मालूम होता है कि जैसे लेखक ने पहले के ही शब्दों को स्पष्ट करने के लिये इसको जोड़ दिया है क्योंकि विस्वा नाप की एक छोटी इकाई है जो १।२० बीघे के बराबर होता है। अगले दो लेखकों के विवरणों से पता चलता है कि वफा शब्द उस समय तक फसल की उपज के अर्थ में आने लगा था। इससे मालूम होता है कि वफाये-विस्वा के अर्थ होते हैं एक विश्वे की उपज, जिसकी जानकारी की आवश्यकता नाप प्रणाली द्वारा लगान निर्धारण के लिये पड़ा करती थी। तारीखे-मुबारकशाही में इस बात को स्पष्टतर रूप से कहा गया है कि 'वे लोग खेतों की पैमाइश करके सरकारी हुक्म के अनुसार उसकी उपज निश्चित कर देते थे, परन्तु मुगल काल में इस शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है।

(५) सरदारों के हकूक (हकूके खूतान) :—आगे के विवरण से ज्ञात होता है कि खेतिहरों पर लगान-निर्धारण, वसूली इत्यादि के क्रम में सरदार लोग जो परिश्रम करते थे, उसके पारिश्रमिक के रूप में उनको कुछ भूमि लगान-मुक्त रूप में दी जाती थी। इसी भूमि को खूत का हक कहते थे। गयासुद्दीन तुगलक की राय थी कि सरदारों को इस भूमि की उपज मात्र से ही सन्तुष्ट हो जाना चाहिये, अतः इस भूमि से प्राप्य रकम अवश्य पर्याप्त बड़ी होती होगी, यद्यपि इस बात का पता नहीं लग सका कि कितनी भूमि इस हक में दी जाती थी। इसी अनुच्छेद से यह भी पता चल जाता है कि ऐसा सन्देह किया जाता था कि सरदार लोग खेतिहरों से सरकारी माँग के अतिरिक्त भी कुछ रकम वसूल करके अपने उपभोग में लाते थे।

गयासुद्दीन की कृति नीति

(यह विवरण जिया बर्नी के आधार पर है। इसका अनुवाद 'जर्नल आफ एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल' के ४० वें भाग में २२९ पृष्ठ पर दिया है। इलियट ने इसका अनुवाद किया है मगर वह अपूर्ण है)

यह विवरण बड़ा ही उलझन-पूर्ण है, इसलिए मैंने मि० पेजेट ड्यूहर्स्ट से मदद माँगी और उन्होंने ही मुझे निम्नलिखित अनुवाद दिया है। इसकी टिप्पणियाँ अवश्य मेरी लिखी हुई हैं।

१. गयासुद्दीन तुगलक ने अपनी सम्पूर्ण सल्तनत की भूमि पर न्यायपूर्वक 'उपज के नियम' के आधार पर लगान निर्धारित किया।

२. तथा अपने राज्य के खेतिहरों को नित नये परिवर्तनों तथा फसल की खराबी के कारण मिलने वाली छूट से मुक्ति दे दी।

३. उसने लगान वर्द्धकों (सोरदारों) की बातों पर ध्यान देना बन्द कर दिया।

४. उसने आदेश दिया कि जमीन की लगान बढ़ाने वाले सोरदार तथा सटोरिये महकमा लगान के दफ्तर के पास न आने पावें।

५. उसने आदेश दिया कि उपज की खुफिया खबर देने वालों की रिपोर्ट पर भी अनुमानित लगान की मात्रा १।१०, १।११ से अधिक न बढ़ाई जावे।

६. उसने आदेश दिया कि खेती के क्षेत्रफल में प्रतिवर्ष वृद्धि की जाय तथा यदि लगान बढ़ाना आवश्यक ही हो तो धीरे धीरे बढ़ाई जाय।

७. लगान इस कदर न बढ़ाई जाय कि देश बर्बाद हो जाय तथा विकास का मार्ग अवरुद्ध हो जाय।

८. इस तुगलक सुल्तान ने बार बार कहा है कि देश के खेतिहरों से लगान इस ढंग से वसूल की जाय कि किसान लोग खेती को आगे बढ़ावें।

९. जो भूमि जोती जाय वह फिर परती न पड़ने पावे और हर साल कुछ नई भूमि जोत में शामिल की जाय।

१०. वह बार बार कहा करता था कि लगान की वसूली इस प्रकार न की जाय कि न तो कृषिगत भूमि ही स्थायित्व प्राप्त कर सके और न नयी भूमि ही जोत में आ सके।

११. जब राज्य बर्बाद हो जाते हैं तो इसका कारण यह होता है कि अत्यधिक सरकारी माँग के कारण लगान दमनपूर्ण हो जाती है।

१२. और यह बर्बादी मुक्तियों तथा कर्मचारियों के कारण होती है।

१३. किसानों से लगान की वसूली के सम्बन्ध में सुल्तान गयासुद्दीन तुगलक अपने राज्य के मुक्तियों और सूबों के सूबेदारों को सुझाव देता रहता था।

१४. कि हिन्दुओं को इस स्थिति में रखना चाहिये कि वे अत्यधिक दबाव के कारण अन्धे, विद्रोही और विस्फोटक न बन जांय।

१५. और वे गरीबी तथा कमी के कारण खेती करना बंद न कर दें।

१६. लगान वसूली, तथा माँग के सम्बन्धी स्तर सिद्धान्तों का निरीक्षण अनुभवी राजनीतिज्ञों तथा विशेषज्ञों द्वारा ही कराया जाय।

१७. और हिन्दुओं के सम्बन्ध में (४) राजनैतिक सरलता इन सुझावों की पूर्णता से ही सम्भव है।

१८. लगान वसूली के सम्बन्ध में बताया जाता है कि सुल्तान गयासुद्दीन तुगलक, एक अनुभवी, दूरदर्शी, और सावधान शासक था।

१९. उसने मुक्तियों और सुबेदारों पर जोर दिया कि वे लगानों के वसूली के बारे में खोज करते रहें।

२०. उसने मुक्तियों और सूबेदारों की लगान वसूली संम्बधित खोजों और सहमत्ति पर जोर दिया।

२१. वह इसलिये कि मुखिया और सरदार सरकारी लगान के अतिरिक्त कोई अन्य रकम किसानों से न वसूल कर लें।

२२. और जब तक उनकी स्वयम की वह जमीन लगान पर न उठा दी गई हो जो उन्हें उनके मुखिया और सरदारी के पद के उपलक्ष में मिली है, तथा जिसके लिये उन्हें कोई लगान नहीं देनी पड़ती, और जो उनके लिये यथेष्ट है तब तक वे और अतिरिक्त मांग न करें।

२३. इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि मुखियों और सरदारों के सर पर भारी जिम्मेंदारी है, अतः अगर उनको भी एक साधारण किसान की तरह लगान में शरीक होना पड़े तो उनके मुखियागीरी या सरदारी का आकर्षण जाता रहेगा।

२४. और जहां तक कि अमीरों और मलिकों का सम्बन्ध है (५) जिन्हें सुल्तान गयासुद्दीन ने काफी प्रोत्साहन सूबे और इक्ता दिया।

२५. वह यह उचित नहीं समझता था कि उन्हें साधारण कर्मचारियों (६) की तरह महकमा लगान के सामने लाया जाय और उनसे साधारण कर्मचारियों की तरह कड़ाई से बकाया रकम की वसूली की जाय।

२६. यद्यपि वह उन्हें निम्न प्रकार के सुझाव देता रहता था।

२७. 'अगर तुम चाहते हो कि तुम्हें महकमा लगान के बुलावों की परीशानी से मुक्त कर दिया जाय तथा तुम्हे दबावों और असम्मान जनक व्यवहारों से छुटकारा मिल जाय।

२८. तथा तुम्हारी अमीर और मलिक की साख की सम्मानहीनता और साख हीनता में न बदल दिया जाय।

२९. तो अपने इक्ता पर उचित माँगें निर्धारित करो।

३०. तथा उन्हीं निर्धारित माँगों में से अपने एजेन्टों का भी हिस्सा सुरक्षित कर दो।

३१. सैनिकों की निर्धारित तनख्वाह में से छोटा से छोटा हिस्सा भी मत काटो।

३२. तुम अपनी आय का कुछ भाग सेना को देते हो या नहीं यह तुम्हारे निर्णय पर है।

३३. लेकिन यदि तुम सेना के लिये निर्धारित राशि में से कुछ भी पाने की उम्मीद करते हो।

३४. तब अमीर और मालिक शब्दों का प्रयोग तुम्हारे नाम के लिये न किया जाना चाहिये।

३५. और वह अमीर जो नौकरों की तनख्वाह से लेने की लालच करता है, वह धूल फाँके।

३६. लेकिन यदि मलिक और अमीर अपने सूबे में लगान का बीसवां भाग, बाइसवाँ भाग, दसवाँ भाग या पन्द्रहवां भाग।

३७. तथा इक्ता मलिकों के तथा सूबेदारों के लिये नियत, अतिरिक्त आय की रकम को ले लेते थे।

३८. तब भी ऐसा कोई अवसर नहीं आता था जब उन्हें इसके लिए मना

किया गया हो और उनसे वह रकम जबर्दस्ती वसूल कर ली जाय, कारण इससे तो अमीरों की अवस्था अत्यन्त दयनीय हो जायगी।

३९. इसी प्रकार अगर कोई एजेन्ट या उनका सहायक (७) अपनी क्षेत्र की लगान का एकाध प्रतिशत ले ले तो।

४०. उन्हें इसके लिए अपमानित होने की कोई आवश्यकता नहीं और यह उनसे मारपीट, शारीरिक वेदना, जेल और बेड़ी द्वारा न वसूला जाना चाहिए।

४१. लेकिन यदि वे कोई भारी रकम ले लें (८) तथा लगान की भारी रकम हड़प लें और आपस में मिलकर गुप्त रूप से क्षेत्र की लम्बी राशि ले लें।

४२. तो इस प्रकार के चालबाज और चोरों को कड़ी सजा देना चाहिए, मारना पीटना चाहिये और उनसे न सिर्फ हड़पी रकम बल्कि उनकी व्यक्तिगत संपत्ति भी छीन लेनी चाहिये।

टिप्पणियाँ

(१) 'उपज के अनुसार' हुक्मे हासिल

(२) 'फसल की खराबी' 'बूद वा नाबूदहा' इसके शाब्दिक अर्थ हैं 'होना या न होना''

इस प्रकार का नियम अकबर के समय में भी था (आईन अकबरी भाग १ पृ०२८८) उसके समय में पटवारी को आदेश था कि जिस भूमि की उपज खराब हो गई हो। उसका क्षेत्रफल निर्धारण करते समय जोत के पूरे क्षेत्रफल से घटा कर शेष पर ही लगान लगानी चाहिये। 'नाबूद' शब्द का अर्थ उन्नसवीं शताब्दी तक यही समझा जाता रहा है कि पूरे क्षेत्रफल में से उस भूमि का क्षेत्रफल निकाल देना जिसकी फसल खराब हो गयी हो।

(३) 'लगान बर्द्धक' मूल प्रति में इसके लिए फारसी शब्द 'मुअफ्फिरान' शब्द आया है। वैसे तो शब्दकोष में मुअफ्फिरान शब्द नहीं मिलता, फिर भी इस शब्द का सम्बन्ध 'तौफीर' शब्द से मालूम होता है। तौफीर शब्द का अर्थ है' वह गुप्त रकम जो भूमि की उहज से प्राप्त की गयी हो।' इससे अगले अनुच्छेद में बर्नी ने 'तौफीरनुमायाँ' शब्द का प्रयोग किया है, जो उस गुप्त रकम की खोज करने वाले के अर्थ में है। मालूम होता है कि यह शब्द उस समय किसी विशेष अर्थ के लिए

सरकारी दफ्तरों में प्रयोग में आता था। यहाँ पर इसके लिये लगान बर्द्धक शब्द ही उचित प्रतीत होता है।

(४) हिन्दू शब्द का यहाँ भी वही तात्पर्य है जो हम अलाउद्दीन के नियमों के सम्बन्ध में कह चुके हैं।

(५) "अमीर और मलिक" तुगलक बादशाओं के समय में तीन खिताब ऊँचे माने जाते थे, खाँ, अमीर और मलिक। यहाँ इन शब्दों का तात्पर्य ऊँचे वर्ग के लोगों से हैं।

(६) "कर्मचारियों" इस शब्द के लिए मूल प्रति में फारसी का 'आमिल' शब्द प्रयोग में आया है, जिसका बहुवचन होता है, 'आमिलान'। यह शब्द तुगलक बादशाहों के समय तक भी किसी खास पद के लिए प्रयोग में नहीं आता था। यहाँ पर इसका तात्पर्य किसी भी प्रशासकीय कर्मचारी से हैं।

(७) "एजेन्ट या सहायक" मूल प्रति में इन शब्दों के लिए फारसी के "कारकुनान वा मुतसर्रिफान" शब्द इस्तेमाल किये गये हैं। व्युत्पत्ति के हिसाब से कारकुन का अर्थ होता है एजेन्ट। मुझे यह पता नहीं लग सका कि इस समय तक यह शब्द क्लर्क के अर्थ में प्रयोग होने लगा था या नहीं। सोलहवीं शताब्दी में निस्सन्देह कारकुन खब्द क्लर्क के लिए प्रयोग में आने लगा था। कुछ स्थलों पर कारकुन के माने में क्लर्क का अर्थ लिया जा सकता था, परन्तु कितने ही अन्य स्थलों पर इस शब्द का अर्थ क्लर्क लगा देने पर अर्थ भ्रष्टता आ जाती है। इसी लिए ऐसा मानना पड़ता है कि तब तक यह शब्द क्लर्क के अर्थ में आना केवल शुरु हुआ था परन्तु इस अर्थ में इसका पूर्ण प्रचलन नहीं हुआ था। इस बात का भी ठीक पता नहीं चलता कि मुतसर्रिफ शब्द किसी पद के लिए प्रयोग में आता था य नहीं। स्थानीय कर्मचारी तन्त्र (नौकर-शाही) के ही सम्बन्ध में इस शब्द का प्रयोग पाया जाता है। ऐसी दशा में इसका अर्थ किसी भी कर्मचारी का नायब या सहायक हो सकता है या सम्भव है कि इस नाम का कोई पद हो रहा हो।

(८) "भारी रकम" इस शब्द के लिए फारसी का 'मुअ्तद्दहा" शब्द का इस्तेमाल हुआ है, जिसका अर्थ मेरी समझ से होता है 'वह वस्तु जिसकी गणना की गई हो' और इसी से मैंने यह विशेष अर्थ लगाया 'कि ऐसी वस्तु या रकम जो गणना की जाने के योग्य हो' अर्थात् ऐसी भारी रकम जिसके लिए कार्यवाही करना आवश्यक हो।

(९) "इक्ता और मुक्ती शब्दों को मैंने इस विवरण में ज्यों का त्यों रहने दिया है, क्योंकि इन शब्दों का स्पष्टी करण परिशिष्ट 'ब' में दिया जा चुका है।

फीरोजशाह का दूसरा नियम—

बर्नी ५७४; इस सम्बन्ध में कोई प्रकाशित अनुवाद मेरी जानकारी में नहीं आया है। वह अध्याय जिसमें यह फरमान है काफी अलंकारिक भाषा में लिखा गया है और इसीलिए हमें इन तथ्यों पर बहुत गंभीरता से विचार करने की कोई आवश्यकता नहीं है फिर भी उसकी अपनाई गई नीति में साधारणतया अविश्वास करने का कोई कारण प्रतीत नहीं होता।

१. दूसरा नियम, उसकी आज्ञा के अनुसार लगान और जज़िया "दोनों उपज की हिसाब" से निर्धारित होती थी।

२. अतिरिक्त लगान, तथा लगान में वृद्धि व कृषि की कमी होने पर भी अनुमान के अनुसार अधिक लगान की माँग एकदम समाप्त कर दी गई थी। (२)

३. सीरदार और सटोरिये किसानों (३) को इसीलिए राज्य में प्रोत्साहन नहीं दिया जाता था।

४. और 'महसूलें-मुआमे'-लाती (४) के अनुसार उन्हें यथा योग्य लगान में छूट भी दी जाती थी जिससे किसान बिना किसी विशेष कठिनाई के लगान अदा कर सकें।

५. यह भी ध्यान रक्खा जाता था कि किसानों के साथ खराब व्यवहार न होने पावे कारण उन्हीं से मुस्लिम बादशाहों के खजाने भरते थे। (५)

टिप्पणियाँ

१. इस स्थल पर 'जजिया' शब्द थोड़ा सा खटकता है। अफीफ के अनुसार दिल्ली में प्रत्येक गैर मुस्लिम को प्रति व्यक्ति कुछ रकम जजिया के रूप में वसूल की जाती थी। फिर उपज के अनुसार जजिया की वसूली का क्या अर्थ हुआ? ऐसा प्रतीत होता है कि गाँवों में हिन्दू खेतिहरों से लगान लेते समय ही उपज का ही कुछ भाग जजिया के भी रूप में वसूल कर ली जाती रही हो। यह भी सम्भव है कि यह शब्द यहाँ बिना किसी विशेष प्रयोजन के ही आ गया हो।

२. इस वाक्यांश में शायद उन अतिरिक्त माँगों को गिना दिया गया है जो

समय-समय पर किसानों पर लगाये जाते थे। पूर्ववर्ती टिप्पणियों में हम 'किस्मत' तथा 'नाबूदहा' का वर्णन कर चुके हैं। मूल प्रति में तसौवुरी शब्द आया है जिसका अर्थ हमने 'अनुमान' किया है।

३. इस वाक्यांश में उन व्यक्तियों की गणना की गई है जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से लगान में अनावश्यक वृद्धि करा देते थे।

४. 'महसूल-ए-मुआमलानी' कोई अन्य विवरण ऐसा नहीं मिल सका, जिसकी सहायता से इस शब्द का स्पष्टीकरण सम्भव होता। प्रसंगानुसार ऐसा प्रतीत होता है कि लगान या खिराज के अतिरिक्त यह किसी अन्य प्रकार का कर था जो किसानों पर लगाया जाता रहा होगा।

५. 'खजाने' 'वईतुल माल'। यह इस्लाम (मजहब) का शब्द है, जिसका अर्थ उस खजाने में से है, जिसमें खिराज की रकम जमा होती थी तथा जो मुस्लिम हितकारी कार्यों में ही खर्च हो सकती थी, परन्तु हिन्दुस्तान में प्रायः सभी बादशाह इस रकम को निजी उपभोग में ले आते थे, जिससे खिराज शब्द लगान का पर्यायवाची हो गया। फलस्वरूप वईतुलमारु से भी सरकारी खजाना ही समझना चाहिये।

फीरोजशाह का 'लगान निर्धारण—

(अफीफ ९४. मुझे कोई अनुवाद कहीं नहीं मिला। इलियट ने सिर्फ एक वाक्य (३,२८८) का अर्थ दिया है)।

१. सुल्तान···ने सल्तनत की लगान की माँग का नया बन्दोबस्त कराया और इस कार्य के लिये विद्वान ख्वाजा हिसामुद्दीन जुनीद को नियुक्त किया गया।

२. योग्य ख्वाजा ने छः साल इस कार्य के लिये सल्तनत में बिताया।

३. और उन्होंने निरीक्षण के आधार पर लगान का बन्दोबस्त किया (२)।

४. उन्होंने सारी सल्तनत का सम्पूर्ण लगान (३) ६७५ लाख टंका निर्धारित किया।

५. फीरोशाह के चालीस वर्षीय शासन में लगान की अधिकतम सीमा वही रही जो ख्वाजा ने निर्धारित किया था।

टिप्पणियाँ

१. 'लगान की माँग', मूल प्रति में इस शब्द के लिये 'महसूल' शब्द दिया गया है। अफीफ ने इस शब्द को प्रायः माँग के ही अर्थों में इस्तेमाल किया है। उसके

प्रयोग के अनुसार यह शब्द खिराज का समानार्थी है। बाद के कुछ लेखकों ने अवश्य महसूल शब्द का उपज के अर्थ में प्रयोग किया है, परन्तु अफीफ ने इसको कभी भी इस अर्थ में नहीं लिया।

२. 'निरीक्षण के आधार पर' अफीफ की मूलकृति में इस स्थान पर 'हुक्मे मुशाहदा' आया है। फारसी साहित्य में यह शब्द अन्य स्थल पर कहीं भी प्रयोग में नहीं आया है। बर्नी के अनुसार अपने राज्यारोहण के समय फीरोज ने लगान का आधार उपज को बनाया था। अफीफ का भी विवरण फीरोज के शासन से ही सम्बन्धित है। फीरोज ने फौरन उसी समय ख्वाजा की नियुक्ति की थी, जब वह गद्दी पर बैठने के लिये दिल्ली आया था। ऐसी दशा में दो ही सम्भावनायें हो सकती हैं कि या तो दोनों ही लेखकों के विभिन्न शब्दों का अर्थ एक ही हो, या किसी एक लेखक ने भूल कर दी हो। भूल का होना असम्भव है, क्योंकि दोनों ही लेखक शाही कर्मचारी थे तथा वे प्रयोगगत शब्दों से अवश्य ही पूर्णतया परिचित थे। अफीफ की शब्दावली वैसे भी बर्नी से भिन्न है। इसलिये शब्दों की विभिन्नता को भूल नहीं कहा जा सकता। मुशाहदा शब्द का सामान्य अर्थ है, देखना या निरीक्षण करना। अतः अफीफ एवम् बर्नी के विवरणों की संगति बैठालने के लिये हम लोगों को दोनों ही लेखकों के शब्दों को 'अनुमान के आधार पर बँटाई' के अर्थ में लेना चाहिये, क्योंकि अनुमान लगाने के लिये कर्मचारियों को किसानों के खेतों तथा उनकी फसलों का निरीक्षण अवश्य करना पड़ता रहा होगा। ऐसी दशा में बर्नी के अनुसार बँटाई प्रथा प्रचलित की और अफीफ के अनुसार अनुमानित उपज पर बँटाई प्रथा प्रचलित की गई न कि वास्तविक बँटाई। ऐसा अर्थ लगाने पर मुशाहदा शब्द के अप्रचलित हो जाने का कारण भी मिल जाता है, क्योंकि मुगल काल में यह शब्द देखने में नहीं आता।

इस व्यवस्था के अन्तर्गत हर फसल घटती-बढ़ती थी, क्षेत्रफल की भी घटबढ़ होती रहती थी।

३. 'सम्पूर्ण लगान' के लिये 'जमा' शब्द का प्रयोग किया गया है। परिशिष्ट 'अ' में इस शब्द के दोनों अर्थों का स्पष्टीकरण दिया गया है। यदि जमा-ए-माल शब्द इस्तेमाल किया जाता है तो उसका अर्थ होता है सारे राज्य की लगान और यदि जमा-ए-विलायत का प्रयोग हो या यदि जमा-ए-परगनात कहा जाय तो परगनों का वह मूल्यांकन समझा जाता है जिसके आधार पर जागीरें दी जाती थीं। इस स्थल पर इस शब्द का अर्थ शायद ही उचित होगा, क्योंकि जमा का निश्चित किया जाना एक

दूसरी कार्यवाही है तथा लगान की माँग का निर्धारण करना उससे सर्वथा विभिन्न है। साथ ही हर फसल पर घटती बढ़ती जाने वाली लगान के लिये यह क्यों कहा जाता कि वह चालीस वर्षों तक अपरिवर्तित रही। मूल ग्रन्थ में जमा-ए-ममुलकान एक प्रकार से जमा-ए-विलायत के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है और इसे जागीरदारी में देने के लिये किये गये मूल्यांकन के ही अर्थ में ही ग्रहण करना अधिक उपयुक्त होगा। अध्याय २ में हम देख चुके हैं कि फीरोजशाह के पूर्ववर्ती काल में मूल्यांकन की व्यवस्था प्रचलन में थी। जागीरदारी प्रथा के अन्तर्गत इस प्रकार का मूल्यांकन अपरिहार्य होता था। उसी प्रसंग में हम देख चुके हैं कि उस समय का मूल्यांकन तथ्यों के प्रतिकूल हो गया था। ऐसी स्थिति में यही सोचा जा सकता है कि ख्वाजा ने इसी प्रतिकूलता को अनुकूलता में बदलने का प्रयास किया तथा ६ वर्षों के अनुभव के बल पर ऐसा मूल्यांकन किया जो चालीस वर्षों तक अपरिवर्तित रहा।

परिशिष्ट 'द'

नसक व्यवस्था द्वारा निर्धारण

कुछ वर्ष पहले जर्नल आफ रायल एशियाटिक सोसाइटी में मि० यूसुफ अली के साथ काम करके एक लेख छपवाया था, जिसमें अकबर कालीन लगान-निर्धारण-प्रणालियों का वर्णन किया गया था। अपनी इस पुस्तक का तत्कालीन विवरण मैंने इसी आधार पर प्रस्तुत किया है। उस लेख में मैंने जिन मान्यताओं को प्रकाशित किया था, उसकी कोई भी आलोचना कहीं भी उस समय तक प्रकाशित नहीं हुई थी, परन्तु इधर कुछ विद्वानों ने मुझ पर यह सूचित करने की कृपा की है कि कुछ भारतीय विद्वानों ने नसक शब्द को किसी लगान-निर्धारण प्रणाली के अर्थ में मानने से इन्कार किया है। इसीलिए मुझे यह आवश्यक जान पड़ा कि मैं उन आधारों को विस्तृत रूप से पाठकों के सामने रख दूँ, जिनके बल पर मैंने उक्त मान्यता स्थापित की थी। जिस रूप में उक्त प्रतिवाद मेरे सामने रक्खा गया है, वह इस प्रकार का है, कि तत्कालीन साहित्य में नसक शब्द किसी अन्य अर्थ के लिये प्रयुक्त होता रहा, अतएव इस शब्द का कुछ और अर्थ लगाकर अर्थ का अनर्थ करना उचित नहीं है। दूसरे शब्दों में प्रतिवादक महोदय को नसक शब्द को लगान-निर्धारण की किसी प्रणाली विशेष के अर्थ में लेना उचित नहीं जान पड़ा है। उक्त प्रतिवाद के उत्तर में मेरा निवेदन है कि सामान्य साहित्य में नसक शब्द जिस अर्थ में व्यवहृत हुआ है, उस अर्थ को इस स्थल पर मान्यता देने से स्पष्ट अर्थभ्रष्टता आ जाती है। जिन विवरणों के आधार पर मैंने अपनी मान्यता स्थापित की है, वह अपने विषय के विशेषज्ञ अधिकारियों द्वारा प्रस्तुत किये गये हैं और हम यह मानने को तैयार नहीं है कि उन विशेज्ञयों ने बकवास की है। अतः हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि इन विवरणों में नसक शब्द का प्रयोग किसी अर्थ विशेष के लिये पारिभाषिक रूप में किया गया है न कि शब्द के सामान्य अर्थ में। पहले यह शब्द अपने सामान्य अर्थ में जनता में प्रचलित था और विशेष अर्थ में महकमा लगान में। इस प्रकार दोनों ही अर्थों में काफी दिनों तक प्रचलित रहा, परन्तु बाद में अपने विशेष अर्थ के लिए इस शब्द का प्रचलन बन्द हो गया। इस प्रकार किसी शब्द का सामान्य एवम् विशेष अर्थ में साथ साथ चलते रहना न

तो विचित्र ही है और न असम्भव ही। आजकल की अंग्रेजी भाषा में हम किसी देश के लोगों की रीति रिवाजों को भी 'कस्टम' शब्द से प्रगट करते हैं और बन्दरगाहों पर लगने वाली चुंगी का वर्णन भी 'कस्टम' शब्द से करते हैं। पहली स्थिति में हम कस्टम शब्द को उसके सामान्य अर्थ में प्रयोग करते हैं तथा दूसरी स्थिति में विशेष अर्थ में। स्मरणीय है कि सामान्य रूप से कस्टम शब्द का जो अर्थ होता है, अर्थ विशेष में उसकी गंध भी नहीं मिलती। इसी तरह फारसी भाषा के एक शब्द 'दस्तूर' को ले लीजिये। हमारे समय में ही यह शब्द विभिन्न अर्थों के लिये व्यवहृत होता है, जिनमें से एक अर्थ रिवाज (कस्टम) भी है, परन्तु यह शब्द एक विशेष अर्थ में भी प्रयुक्त होता है, जिसका किसी रिवाज से कोई भी सम्बन्ध नहीं है। इस रूप में इसके माने होते हैं, 'निर्धारण दरों की वह सूची, जो अधिकारियों द्वारा लगाई गयी हो।' ऐसी दशा में नसक शब्द का दुहरा प्रयोग यदि होता रहा हो तो क्या आश्चर्य ?

अपने सामान्य रूप में नसक शब्द प्रशासन के अर्थ में प्रयुक्त होता है, तथा अकबर के समय में यह शब्द उन पारिभाषिक शब्दों के समूह के अर्थ में प्रयुक्त होता था, जो किसी देश, सूबे या जिले के प्रशासक के प्रशासकीय अधिकारों का विवरण प्रस्तुत करते थे। हमें अक्सर ऐसा वर्णन मिलता है जिनमें किसी वाइसराय को किसी सूबे पर 'नज्म व नसक' या 'जब्त वा रब्त' या 'हिरासत वा हुकूमत' का अधिकार देकर नियुक्त किया जाता था। उन्हीं विवरणों में इसी सम्बन्ध में 'तनसीक वा तनजीम' शब्द भी मिलते हैं, जहाँ किसी अधिकारी को किसी प्रान्त विशेष का प्रशासन संगठित करने का भी काम सौंपा जाता था। इस प्रकार का कार्य केवल उन्हीं अधिकारियों को सौंपा जाता रहा होगा जिन्हें किसी ऐसे प्रान्त में नियुक्त किया जाता हो, जो अभी नया नया साम्राज्य में मिलाया गया हो। इस प्रकार इस शब्द का सामान्य अर्थ स्पष्ट हो जाता है। हम देख सकते हैं कि जिस प्रकार का प्रतिवाद 'नसक' शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में किया गया है, ठीक उसी प्रकार का प्रतिवाद 'जब्त' शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में भी हो सकता है। वह बात दूसरी है कि किसी ने इस शब्द के अर्थ का प्रतिवाद उपस्थिति नहीं किया।

इन स्थलों पर जब्त शब्द को सामान्य अर्थ में ग्रहण करने पर जो अर्थभ्रष्टता आ जाती है, उसके उदाहरण भी दिये जा सकते हैं। आईन भाग १ पृष्ठ दो सौ छियानबे में कहा गया है कि शेरशाह एवम् सलीम शाह के शासन काल में हिन्दुस्तान 'गल्लाबख्शी से जब्त में चला गया।' मैंने गल्ला बख्शी को बँटाई के अर्थ में ग्रहण करके उसका अनुवाद किया, जिसका प्रतिवाद आज तक किसी ने नहीं किया। बँटाई

में उपज का बँटवारा खेतिहर तथा सल्तनत के बीच होता था अतः गल्लाबख्शी का उल्टा जब्त होना चाहिये। यदि हम जब्त का सामान्य अर्थ ग्रहण करें तो उपरोक्त अंश का अनुवाद ऐसा होगा कि 'हिन्दुस्तान गल्लाबख्शी से प्रशासन में चला गया' और पाठक भी मानेंगे कि यह स्पष्ट अर्थभ्रष्टता है। अतः 'जब्त' अवश्य ही कोई निर्धारण प्रणाली है जो बँटाई के बदले में व्यवहृत होने लगी। आईन में जहां जहां यह शब्द (जब्त) आया है, सर्वत्र इसका अर्थ वही है, जिसे हम नाप प्रणाली कहते आये हैं। हाँ जब्त शब्द से इतना अर्थ और ध्वनित होता है कि इस प्रणाली में निर्धारण गल्ले के रूप में न होकर सिक्कों के रूप में हुआ करता था। सामान्य साहित्य में तो यह शब्द अवश्य ही इस अर्थ में नहीं प्रयुक्त हुआ है, परन्तु अकबरनामा भाग २ पृष्ठ ३३३ पर यह शब्द प्रयुक्त है। इस स्थान पर कहा गया है कि अकबरी शासन के तेरहवें वर्ष में शहाबुद्दीन अहमद खाँ सुरक्षित प्रदेशों का अध्यक्ष नियुक्त किया गया तो उसने वार्षिक जब्त को खत्म कर दिया और 'नसक' को प्रचलित किया। इस स्थल पर भी सामान्य अर्थ ग्रहण करने पर स्पष्ट ही अर्थभ्रष्टता आ जायगी। कम से कम मुझे तो इस वाक्य का कोई अर्थ ही समझ में नहीं आता कि 'वार्षिक प्रशासन को समाप्त करके एक प्रशासन प्रचलित किया।' इस वाक्य को अर्थ पूर्ण बनाने के लिए इन दोनों शब्दों को एक ही परिवार के दो प्रतिवादी सदस्यों के रूप में ग्रहण करना होगा और चूंकि जब्त का एक निर्धारण व्यवस्था होना सिद्ध है अतः नसक को भी निर्धारण की एक प्रणाली ही मानना चाहिये, जो जब्त के बदले प्रचलित की जा उसके। गुजरात का वर्णन करते आईन भाग १ पृष्ठ ४८५ पर लिखा गया है कि गुजरात में 'अधिकांश नसक और अल्पांश में पैमाइश' प्रचलित थी। इस वाक्य में पैमाइश और नसक का विरोधी होना स्पष्ट ही है। इस शब्द का मेरे द्वारा ग्रहण किया गया अर्थ और भी स्पष्ट हो जाता है जब बारहों सूबों का लगान सम्बन्धी विवरण पढ़ते हैं। इस स्थल पर कहा गया है कि 'पूरे मुलतान में जब्ती' इलाहाबाद में 'आंशिक जब्ती' बरार में बहुत दिनों तक 'नसकी' जब कि बंगाल में 'लगान की मांग नसक से की जाती थी।' इन वाक्यांशों से भी स्पष्ट हो जाता है कि नसक शब्द लगान निर्धारण की एक प्रणाली विशेष के ही अर्थ में ग्रहण किया जना चाहिये।

ऐसी अवस्था में सरकारी कागजों में जहाँ भी नसक शब्द प्रयोग में आया है वहां इसका अर्थ लगान निर्धारण की ऐसी प्रणाली समझना चाहिये जो बँटाई प्रथा से भी भिन्न हो और नाप प्रथा से भी, क्योंकि उपरोक्त विवरणों में यह स्पष्ट हो गया है कि नसक एक ऐसी प्रणाली है जो दोनों से भिन्न है। नसक को सीरदारी के अर्थ में

तो ग्रहण किया नहीं जा सकता। फिर तो सामूहिक निर्धारण प्रणाली ही एक ऐसी व्यवस्था बँच गयी जिसके अर्थ में नसक शब्द का इस्तेमाल किया जा सकता है, अर्थात् हमको यही मानना पड़ेगा कि नसक प्रणाली में सारे गांव या कभी कभी समूचे परगने की लगान एक साथ ही सामूहिक रूप से निर्धारित कर दी जाती थी। इस प्रकार के सामूहिक निर्धारण में राजकर्मचारी को केवल गाँव के मुखिया या परगने के चौधरी से ही सम्पर्क स्थापित करना पड़ता था। राजकर्मचारियों के साथ व्यवहार करने में वही गांव या परगने का प्रतिनिधि होता था और सरकारी लगान की मांग यथा भाग गाँव के खेतिहरों पर बाँट देता था। अकबर के शासन कालीन साहित्य में नसक शब्द का अर्थ कहीं भी स्पष्ट नहीं किया गया है, हाँ कुछ तथ्यों के आधार पर हमने इसे सामूहिक निर्धारण के अर्थ में ग्रहण कर लिया है, क्योंकि उनके लिये किसी भी शब्द की व्यवस्था नहीं की गयी है। ऊपर शहाबुद्दीन अहमद द्वारा निर्धारण प्रणाली के परिवर्तन की बात कही गयी है। जब उसे सुरक्षित प्रदेश का भार दिया गया तो सरकारी कागजों के अनुसार उक्त प्रदेश की निर्धारण प्रणाली पर्याप्त कष्ट साध्य थी और ईमानदार कर्मचारियों की कमी थी। वार्षिक जब्ती में सरकारी व्यय भी बहुत होता था और बहुत सी रकम गबन हो जाती थी। अतः शहाबुद्दीन ने इसी दिशा में प्रयास किया होगा कि ऐसी प्रणाली अपनायी जाय जो उलझन हीन हो, कम समय लगे, कम रुपये खर्च हों और सरकारी रकम को कोई गबन भी न कर सके। इन सभी उद्देश्यों की पूर्ति सामूहिक निर्धारण से ही सम्भव थी। वैसे भी नसक प्रणाली में मुखिया पर सारा भार रहता था, क्योंकि इसी भार को बटाने के लिये अकबर ने आदेश दिया था (आईन भाग १ पृ० २८६) कि नसक प्रथा में मुखियों से समझौता न किया जाय, क्योंकि इससे शासन की अयोग्यता बढ़ती है और मुखियों द्वारा किसानों का दमन व शोषण सम्भव होता है। इस प्रकार मुखियों के साथ नसक प्रणाली बरतना अल्पव्यय साध्य भी था और सुविधा जनक भी। साथ ही अन्यप्रणालियों की तुलना में कर्मचारियों द्वारा गबन की भी कम सम्भावना थी परन्तु यदि मुखिया शसक्त और अन्यायी हुआ तो दमन और शोषण की गुंजाइश अवश्य रहती थी और यदि वे निर्बल हुये तो उन्हें निरन्तर हानि की सम्भावना बनी रह सकती थी, उपरोक्त तर्कों के प्रकाश में मुझे तो यही उचित प्रतीत होता है कि जब तक कोई विरोधी तत्व प्रकाश में न आवे तब तक के लिये 'नसक' शब्द को सामूहिक-निर्धारण-प्रणाली के ही अर्थ में ग्रहण करना ठीक होगा।

एक सम्भावना और है कि शायद नसक शब्द कुछ और व्यापक हो और सीरदारी प्रथा भी इसी प्रणाली के ही अन्तर्गत आ सकती हो। जैसा पहले स्पष्ट किया

जा चुका है कि वैसे सामूहिक निर्धारण तथा सीरदारी दोनों बहुत कुछ समान हैं परन्तु जब प्रति खेतिहर के दृष्टिकोण से देखा जाता है, तो इनका अन्तर स्पष्ट हो जाता है। दोनों ही व्यवस्थाओं में राजकर्मचारी को एक ऐसे व्यक्ति से सम्पर्क स्थापित करना पड़ता है, जिसने किसी गाँव, परगना या किसी बड़े क्षेत्र की लगान के रूप में एक निश्चित रकम देने का वादा किया है, चाहे वह व्यक्ति मुखिया हो या सीरदार या चाहे वह व्यक्ति उसी गाँव का हो या बाहर का आदमी, इससे कलेक्टर को कोई मतलब नहीं हुआ करता था। ऐसी स्थिति में यह माना जा सकता है कि सरकारी कर्मचारियों ने दोनों ही प्रणालियों को एक ही नाम से पुकारना पसन्द किया हो, यद्यपि हमें ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिला जिससे हम नसक को सीरदारी के अर्थ में ग्रहण करें। इस प्रकार के तर्क वितर्कों को प्रकाश में लाने की हमें कोई आवश्यकता नहीं जान पड़ती कि हमने जिस अर्थ में नसक शब्द को ग्रहण किया है उसे बदल दें।

—·——

परिशिष्ट 'य'

आईने दहसाला

अकबर कालीन लगान की व्यवस्था को लिखने का प्राथमिक आधार है आईन अकबरी का एक छोटा सा अध्ययन जिसका शीर्षक है 'आईने दहसाला' अर्थात् दस वर्षीय प्रबन्ध । इस अध्याय का स्पष्टी करण अत्यन्त कठिन हैं, क्योंकि एक तो यह अति संक्षिप्त है, दूसरे पूरा का पूरा अध्याय ही लगान सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दों द्वारा प्रस्तुत किया गया है । साथ ही यह भी सन्देह करने के स्पष्ट कारण हैं कि यह अध्याय भी काफी बिगड़े हुये रूप में हैं । मि० ब्लाकमैन ने इस अध्याय का जो अनुवाद प्रस्तुत किया है वह सन्तोषजनक नहीं है । एक खास अनुच्छेद के अनुवाद में अर्थान्तर दोष आ गया है । तत्कालीन भारतीय साहित्य से भी इस विषय में कोई सहायता नहीं मिलती । कितने ही ऐसे वर्णन भी साहित्य में मिलते हैं जिनका प्रयोग करने पर अर्थभ्रष्टता का भय होता है ।

नीचे कुछ प्रतिलिपियों की सूची दी गई है, जिन्हें आधार मानकर मैं चला हूँ । इनमें एक का परीक्षण सर रिचर्ड बर्न ने मेरे लिए कर दिया है, शेष पांडुलिपियों का परीक्षण स्वयम् मैंने किया है :—

(१) बृटिश म्यूजियम मूल संख्या OR. २१६९, ऐड० ५६०६, ५६४५, ६५४६, ६५५२ तथा ७६५२

(२) रायल एशियाटिक सोसाइटी ११६ (मोरले)

(३) इंडिया आफिस २६४-६८ तथा २७० .(एथिक्स)

(४) कैम्ब्रिज यूनीवर्सिटी लाइब्रेरी NN ३,५७,१५

(५) बोडलीन लाइब्रेरी २१४,२१६,

इन सभी पांडुलिपियों का अभी तक सम्यक् परीक्षण नहीं हो सका है अतः यह कहना कठिन है कि किस प्रतिलिपियों में कितनी त्रुटियाँ हैं । अब तक जितना परीक्षण किया गया है, उससे तो यही नतीजा निकलता है कि इनमें से बृटिश म्यूजिम में २१६९ संख्या की पुस्तक सबसे अच्छी है, फिर भी मि० ब्लाकमैन इसको अच्छी

मानने को तैयार नहीं है। उनकी राय में इस अध्याय में ही कुछ गम्भीर त्रुटियां हैं। फिर भी औरों से तुलना करने पर मुझे यही प्रति सबसे कम त्रुटिपूर्ण प्रतीत हुई। उपरोक्त प्रतिलिपियों में से रा० ए० सो० वाली प्रति सत्रहवीं शती के मध्यकाल की है और यही बात ६५५२ संख्या वाली प्रति के साथ भी सत्य है, बाकी प्रतियाँ और भी बाद की हैं।

जिस अध्याय की बात हम कर रहे हैं उसमें पाँच अनुच्छेद हैं। उनका क्रम पूर्ण विवरण पाठकों के समक्ष रखने का प्रयत्न करूँगा। अनुवाद भावात्मक है, यद्यपि कहीं कहीं संक्षिप्त कर दिया है। अस्पष्ट शब्दावली मूलभाषा में ही दी गयी है, तथा आगे की टिप्पणियों में उन्हें समझाने का प्रयत्न किया गया है।

'अ'

अनुवाद—शासन के प्रारम्भ से ही यह क्रम चला आता था कि सामयिक दरों का निश्चय करके तब उन्हें बादशाह (१) के सामने के पेश किया जाता था;

तथा फसल के उपज सूची तथा सफल की वास्तविक कीमत के आधार पर सिक्कों के रूप में लगान-निर्धारण कर दी जाती थी,

तथा (इस कार्य प्रणाली में) काफी परेशानी का सामना करना पड़ता था।

टिप्पणी—१—इस अर्थ के लिए फारसी के 'वला दरगाह' शब्द प्रयोग में आये हैं, जिनका तात्पर्य होता है कि दर निर्धारित हो जाने पर भी तब तक उसकी माँग खेतिहरों से नहीं की जाती थी जब तक बादशाह की स्वीकृत उस पर प्राप्त नहीं हो जाती थी। यह बात महत्वपूर्ण भी थी और दिक्कत तलब भी। इसी बात से यह स्पष्ट होता है कि यह व्यवस्था क्यों इतनी जल्दी समाप्त हो गयी।

स्पष्टीकरण—यही बात आईन भाग १ पृष्ठ २९७ पर भी लिखी गयी है कि अकबर ने सर्वप्रथम राय प्रणाली को अपनाया। शेरशाह इसे पहले ही प्रचलित कर चुका था, जिसमें गल्ले के रूप में की गयी लगान की माँग को सामयिक दर पर सिक्कों के रूप में बदल दिया जाता था। इस स्थान पर इसके फिर से लिखने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि पाठकों की समझ में आ जाय कि यह व्यवस्था असन्तोष-जनक थी।

'ब'

अनुवाद—जब ख्वाजा अब्दुल मजीद आसफ खाँ वजीर थे तो जमा-ए-विलायत रकमी थी, और वे (कर्मचारीगण) अपनी बढ़ी हुई तनख्वाह के अनुसार जमा भी बढ़ा देते थे।

यह देख कर कि उस समय में साम्राज्य छोटा ही था तथा कर्मचारियों की तनख्वाहें बराबर बढ़ती ही रहती थीं।

उन दिनों लगान और वेतन की घटबढ़ रिश्वत और स्वार्थ के आधार पर होती थी।

स्पष्टीकरण—अब्दुल मजीद की वजारत का खात्मा शासन के आठवें वर्ष में हुआ था, जब उसे फौज में चला जाना पड़ा (अकबरनामा भाग २ पृष्ठ १८२)। उसकी नियुक्ति तिथि का पता नहीं चलता, परन्तु एक अन्य प्रसंग से मालूम होता है कि उसकी नियुक्ति पाँचवें वर्ष में हुई।

जैसा परिशिष्ट 'अ' में स्पष्ट किया जा चुका है कि जब भी जमा शब्द अकेला प्रयोग में आता है तो इसका अर्थ माँग भी हो सकता है और मूल्यांकन भी, यदि इस स्थान पर हम जमा शब्द को माँग के अर्थ में ग्रहण करें तो उपरोक्त अंश का यह अर्थ होगा कि राज कर्मचारियों की बढ़ती हुई तनख्वाहों के कारण खेतिहरों पर लगान की माँग बढ़ती जा रही थी तथा इसी लिये भ्रष्टाचार का भी बोल बाला था। यह लगान निर्धारण रकमी अर्थात् लिखित होता था जो किसी तथ्य के आधार पर नहीं होता था। जितनी रकम की जरूरत सल्तनत को होती थी, उतनी ही की माँग किसानों से की जातीथी।'

इस स्पष्टीकरण में भी कुछ असंगतियाँ हैं। (१) 'जमा-ए-विलायत' जिस प्रकार से यहाँ प्रयुक्त है, उसी प्रकार के प्रयोग में अन्य स्थलों पर जमा शब्द मूल्यांकन के अर्थ में आया है न कि लगान की माँग के अर्थ में। (२) इस समय में वेतन की अदायगी प्रायः जागीरों के रूप में हुआ करती थी, न कि सरकारी खजाने से। ऐसी दशा में किसी भी प्रकार का परिवर्तन लक्ष्य को नहीं पूरा कर पाता था, क्योंकि लगान की माँग बढ़ाने से कर्मचारियों को क्या लाभ हो सकता था। इससे खजाने की आमदनी अवश्य बढ़ सकती थी। (३) इस प्रकार का अर्थ लगा लेने पर अनुच्छेद 'अ में लिखित कार्यवाहियों से क्या लाभ होगा इसलिए हमको यह भी मानना पड़ेगा कि छठवें वर्ष के बाद से जो निर्धारण प्रणाली चली और जिसे आईनेदहसाला कहते हैं वह भी बेकार हो जायगा। हमको दो निर्धारण प्रणालियाँ साथ-साथ चलती हुई मिलने लगेंगी (४) अकबर के समय में मनमानी निर्धारण की बात कुछ अनैतिहासिक सी लगती है। इस शासन में लगान निर्धारण सम्बन्धी जितने भी तर्क हुये हैं वे सभी एक ऐसे निर्धारण की ओर संकेत करते हैं कि जो प्रति बीघा निर्धारित किया जाता रहा हो (५) हम जानते हैं कि अकबरनामा भाग २ पृष्ठ ३३३ के अनुसार सुरक्षित प्रदेशों में इस समय भी नाप प्रणाली के अनुसार प्रति बीघा लगान सिक्कों के रूप में

निर्धारित की जाती थी। अनुच्छेद 'अ' में भी यही बात कही गई है। इसका खत्म होना तेरहवें वर्ष में लिखा गया है। इसलिये हमें यह परिणाम निकालना चाहिये कि यह मनमानी लगान निर्धारण इसी बीच थोड़े समय के लिए चालू हो गया होगा, जिसके खत्म होने की बाबत सरकारी प्रयत्नों में कुछ नहीं लिखा गया।

उपरोक्त सभी कठिनाइयाँ समाप्त हो जाती हैं, यदि हम यह मान लें कि जमा-ए-विलायत का अर्थ मूल्यांकन है न कि माँग। ऐसी दशा में रकमी का अर्थ 'मनमानी' लगा लें या यह लगा लें कि रकमी शब्द किसी प्रकार का नाम उस रिकार्ड का होगा जो इस मूल्यांकन को एक दूसरे मूल्यांकन से अलग करता है जो इसके बाद में प्रचलित हुआ। पिछली स्थिति में 'रकमी' का अर्थ होगा 'लिखित'।

इस प्रकार का अर्थ लगाने पर पहले वाक्य का अर्थ होगा कि लगान निर्धारण की कार्यवाही तो अनुच्छेद 'अ' के अनुसार चल रही थी, परन्तु मूल्यांकन रकमी था। आगे चलकर हम देखते हैं कि मूल्यांकन के अंक सामयिक आवश्यकानुसार बढ़ा दिये गये थे और इसीलिए भ्रष्टाचार को प्रश्रय मिल रहा था। प्रायः वेतन वृद्धि होते रहने से वेतन की रकम बड़ी होती जा रही थी और इसी अन्तर को दूर करने के लिए महकमा लगान के कर्मचारी मूल्यांकन के अंकों को बढ़ाते जा रहे थे। ऐसी दशा में यह मूल्यांकन आवश्यकता के आधार पर था न कि तथ्यों के आधार पर। इस प्रकार कागज के अनुसार तो कर्मचारियों को पूरा वेतन मिल रहा था परन्तु जागीरों से होने वाली वास्तविक आय के अनुसार उन्हें पूरा वेतन नहीं मिल पाता था। इस प्रकार की व्यवस्था में भ्रष्टाचार स्वाभाविक था। इस प्रकार 'जमा' शब्द को माँग के अर्थ में न ग्रहण करके मूल्यांकन के अर्थ में ग्रहण करना चाहिये। आगे दिये गये तत्सम्बन्धी दो प्रसंगों से भी यह मान्यता पुष्ट होती है।

(क) अकबरनामा भाग २ पृष्ठ २७० पर कहा गया है कि ग्यारहवें साल में "अकबर का ध्यान जमाए परगनात की ओर आकर्षित हुआ और उसके आदेशानुसार मुजफ्फर खाँ ने 'जमाऐ-रकमी.ए-कलमी' को ताक पर रख दिया जो बैरम खाँ के समय में इसलिये प्रचलित हो गया था कि सल्तनत छोटी थी और सल्तनत से गुजर पाने वाले लोगों की संख्या काफी बड़ी थी और इस प्रकार की वृद्धि सरकारी कागजों में हमेशा दर्ज रही तथा जिसके कारण भ्रष्टाचार खूब बढ़ा हुआ था" बैरम खाँ की देख रेख में होने वाले शासन का अन्त पांचवें वर्ष में हुआ, इसलिये अब्दुल मजीद की वजारत भी इसी समय में रही होगी।

(ख) इकबालनामा में भी यही बात पृष्ठ २१३ पर लिखी गयी है। एक

प्रकार से यह विवरण अकबरनामा के विवरण का सरल रूप है, परन्तु शब्दावली का अन्तर यह निर्देश करता है कि अकबरनामा के विवरणों को परवर्ती लोग किस रूप में ग्रहण करते थे। ''शासन के प्रारम्भ में जब बैरम खाँ वजीर आजम था। उस समय में चूँकि सल्तन छोटी थी और सैनिक व कर्मचारी बहुत थे अतः महकमा लगान के अफसरों ने सल्तनत की जमा (ममालिके-महकमा) को अनुमान के आधार पर निश्चित कर दिया और उसी जमा (वर्फ के स्तम्भ) को विभिन्न कर्मचारियों को वेतन के बदले दे दिया गया।''

उपरोक्त अनुच्छेद में वर्फ के स्तम्भ से यह तात्पर्य है कि वह जमा एकदम असम्भव ढंग का था, जो तथ्यों पर आधारित नहीं था। उपरोक्त तीनों अनुच्छेदों के आधार पर हमें यह मानना पड़ेगा कि 'जमा-ए-विलायत' या 'जमा-ए-परगनात' या 'ममालिके महकमा' को मूल्यांकन के अर्थ में ग्रहण करना चाहिये, जिसके आधार पर जागीरें दी जाती थीं।

ऊपर की पंक्तियों को ध्यानपूर्वक पढ़ने के बाद यह समझ में आ जायगा कि अनुच्छेद 'अ' तथा 'ब' में कथित प्रणालियाँ एक ही समय की हैं और एक ही प्रणाली के अंग हैं, जो अकबरी शासन के प्रारम्भिक काल में प्रचलित थीं। उस समय महकमा लगान की दो शाखायें थीं। एक शाखा तो लगान की माँग की व्यवस्था देखती थी और दूसरी शाखा जागीरों की व्यवस्था करती थी। उपरोक्त अनुच्छेदों से पता चलता है कि प्रथम शाखा का कार्य तो एकदम असफल हो गया तथा दूसरी शाखा का काम गलत आँकड़ों के कारण भ्रष्टाचार को प्रश्रय देने लग गया। ऐसी दशा में इन शाखाओं की कार्य व्यवस्था में परिवर्तन की महान् आवश्यकता थी। अगले अनुच्छेद में हम देखेंगे कि अकबरी शासन के दूसरे दौर में इन कठिनाइयों को दूर करने के लिये कौन से कदम उठाये गये।

'स'

अनुवाद—जब महकमा लगान मुजफ्फर खाँ तथा टोडरमल के हाथों में आया, तो साले इलाही के पन्द्रहवें वर्ष में उन्होंने कानूनगो लोगों से 'तकसीमाते-मुल्क का काम ले लिया, (और) अनुमानित आधार पर 'महसूल' का काम समाप्त करके एक नई 'जमा' चालू किया।

दस कानूनगो नियुक्त किये गये, जो स्थानीय कानूनगो लोगों से सूचियाँ प्राप्त करके निरन्तर दफ्तर खाने में देते रहते थे।

नवीन जमा पहली जमा से कुछ कम थी, क्योंकि पहली जमा से हासिल का अन्तर अत्यधिक था।

स्पष्टीकरण—इन वाक्यों में पहले कहा गया है कि अनुच्छेद 'ब' में स्पष्ट कीगयी कठिनाइयों को दूर करने के लिए क्या किया गया। फिर यह बताया गया है कि सुधार कार्य कैसे किया गया और अन्त में बताया गया है कि परिणाम क्या हुआ। काम की तीन सीढ़ियाँ थीं (१) तकसीमाते-मुल्क, (२) महसूल तथा (३) जमा। इनमें दूसरी तथा तीसरी सीढ़ी को स्पष्ट करने के लिए समान अनुच्छेदों का अध्ययन आवश्यक है। हम पहले ही देख चुके हैं कि अकबरनामा के अनुसार ग्यारहवें वर्ष में मुजफ्फर खाँ ने मूल मूल्यांकन को खत्म कर दिया, जिसे रकमी कहते थे। समूचे साम्राज्य के कानूनगो तथा विशेषज्ञों ने वास्तविक आय (हाल महसूल) को लिखा और एक दूसरी जमा निर्धारित की, जो पहले के मुकाबले में तथ्यों के अधिक समीप थी।

इस बात पर विचार रखने से कि अकबरनामा में इस स्थान पर मूल्यांकन सम्बन्धी विवरण दिया गया है न कि निर्धारण सम्बन्धी, उक्त अनुच्छेद का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। विशेषज्ञों ने पहले उपज की वास्तविक स्थिति समझ लिया और उसी के आधार पर (न कि पुराने मूल्यांकन के आधार पर) एक नया मूल्यांकन स्थिर किया।

जैसा कि परिशिष्ट 'अ' में स्पष्ट किया गया है कि हासिल का मतलब उस रकम से है जो जागीरदारों को अपने इलाकों से वास्तविक रूप में मिलती थी, न कि उस रकम से जो मूल्यांकन रूप में होती थी। कई स्थानों पर हासिल शब्द महसूल के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है। महसूल का अर्थ होता है माँग। इस तरह केवल 'तकसीमात' शब्द का स्पष्टीकरण शेष रह गया।

इकबालनामा में कहा गया है कि अकबर ने मुजफ्फर खाँ को आदेश दिया कि "तमाम परगनों के चौधरियों एवम् कानूनगो लोगों को दर्बार में बुलाया जाय और हाल हासिल (वास्तविक आय) का निश्चय तथ्यों के आधार पर कर लिया जाय, जिससे देश की जमा निश्चित की जा सके"। इकबालनामा का यह अंश एकदम से अकबरनामा में दिये गये विवरण से मेल खाता है। अब हमें यह देखना है कि तकसीमाते— मुल्क को किस अर्थ में ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि यह शब्द सामान्य साहित्य में नहीं मिलता। व्युत्पत्ति के अनुसार इस शब्द को 'उपज के विभाजन' के अर्थ में ग्रहण करना ठीक होगा। किस्मते-गल्ला शब्द भी इसी प्रकार का है या

खिराजे-मुकस्समा से भी यही ध्वनित होता है। हमारी समझ में तो 'तकसीमते मुल्क' दफ्तर की किसी फाइल का नाम है, जिसमें विभिन्न परगनों की सूचियाँ रक्खी जाती होंगी।

मेरी राय में आईन के संकलन कर्ता ने अनुच्छेद 'ब' में सुधार की आवश्यकता का वर्णन करके अनुच्छेद 'स' में सुधारों का वर्णन करता है तथा एक ही वाक्य में दोनों शाखाओं में किये गये सुधारों का वर्णन कर दिया है, क्योंकि ये दोनों शाखायें वैसे अलग तो हैं पर इनका आपसी सम्बन्ध बड़ा घनिष्ठ है।

(१) कानूनगो लोगों ने शेरशाह कालीन ढंग पर बँटाई प्रथा के अनुसार एक एक सूची प्रत्येक परगने की तैयार की। इसी सूची के आधार पर ही सुधार की सम्भावनायें दिखाई पड़ीं।

(२) इन्हीं सूचियों के आधार पर लगान की माँग (महसूल) निर्धारित की गयी या उसका तखमीना लगाया गया। सुरक्षित प्रदेशों की पैमाइश का रिकार्ड पहले से ही दफ्तर में था। शेष प्रदेशों का रिकार्ड यदि नहीं था तो अनुमान से काम लिया जा सकता था।

(३) इन गणनाओं को आधार मान कर एक सर्वथा नवीन मूल्यांकन किया गया जो वास्तविक माँग के बिल्कुल समान तो नहीं पर उसके लगभग अवश्य था।

इस प्रकार यह सुधार दोहरा काम कर रहा था। एक तरफ तो तथ्यों पर आधारित लगान की नई माँग निर्धारित हो गयी और दूसरे जागीरों को देने के लिए नवीन मूल्यांकन प्राप्त हो गये। आईन में दोनों का ही वर्णन है, परन्तु अकबरनामा में केवल मूल्यांकन का ही विवरण है।

यद्यपि आईन में सूचियों का विवरण नहीं दिया गया है, फिर भी उनकी प्रकृति आँकी जा सकती है। आईन के एक दूसरे अध्याय से पता चलता है कि उपज की तिहाई माँग शासन के चालीसवें वर्ष तक चालू थी। ऐसी दशा में यह माना जा सकता है कि तकसीम की दर यही रही होगी। यह तकसीम प्रारम्भ में गल्ले के ही रूप में थी और आगे चलकर उसी को सिक्कों के रूप में परिवर्तित कर लिया जाता था। इस परिवर्तन में स्थानीय दरें ही काम में लायी जाती थीं। हर परगने के लिये अलग अलग सूचियाँ बनायी गयी थीं। इस बात से यह प्रमाणित होता है कि लगान की माँग परगने की उपज के आधार पर निर्धारित होती थी न कि पूरे साम्राज्य की

औसत उपज के आधार पर। निस्सन्देह यही ढंग अधिक न्यायपूर्ण भी था। आईनु-जदहसाला से पता चलता है कि लगान निर्धारण में कुछ परिवर्तन शासन के पन्द्रहवें वर्ष में किये गये। क्योंकि इसी साल से सूचियों में कुछ नई फसलों का समावेश होने लगा था।

इन सभी बातो पर यदि इकट्ठा विचार किया जाय तो मेरी राय में तकसीमाते—मुल्क की प्रकृति का पता चल जायगा। आईन में इनका विस्तृत विवरण इसलिये नहीं दिया गया कि साम्राज्य में बहुत से परगने थे, जिनका विवरण प्रस्तुत करने के लिये तीन हजार पृष्ठों की आवश्यकता पड़ती।

उपरोक्त विवरण में तिथि सम्बन्धी कुछ गड़बड़ी शेष रह जाती है। जो घटना आईन के अनुसार पन्द्रहवें वर्ष में हुई, वही अकबरनामा तथा इकबालनामा के अनुसार ग्यारहवें वर्ष में हुई। अकबरनामा का अनुवाद प्रस्तुत करते हुये मि० वेवेरिज ने इन गड़बड़ी की चर्चा करते हुये यह संकेत दिया है कि इन दोनों शब्दों (ग्यारहवें, पन्द्रहवें) में ही कहीं कुछ गड़बड़ी है। फारसी भाषा में तनिक भी गड़बड़ी होने से ग्यारह और पन्द्रह में भ्रम होने की सम्भावना रहती है। फारसी के दो अक्षर पे, तथा इये में तीन नुक्ता तथा दो नुक्तों का ही फरक होता है, सो भी तेज लिखने वाले लोग अक्सर नुक्तों का प्रयोग नहीं करते। इस निर्देश में भी कुछ कठिनाइयाँ हैं। जहाँ तक अकबरनामा की प्रतिलिपि का प्रश्न है, उसमें तो गलती की सम्भावना नहीं के बराबर है, क्योंकि अकबरनामा की रचना तिथियों के अनुसार की गयी है और अबुल फजल के तिथिक्रम में कहीं गड़बड़ी की बात नहीं पायी जाती। ऐसी दशा में यह माना जा सकता है कि इस घटना को अकबरनामा में चार वर्ष पहले ही दर्ज कर दिया गया हो, परन्तु ऐसा मानना कल्पनीय ही है सम्भाव्य नहीं। आईन में ऐसी गड़बड़ियों की सम्भावना है कि पन्द्रह का ग्यारह लिख गया हो, परन्तु ऐसा सोचना भी मेरी राय में न्यायपूर्ण नहीं है। हमने बारह प्रतिलिपियों का परीक्षण किया है, उनमें से दस में तो प्रारम्भिक 'पे' स्पष्ट तीन नुक्तों से लिखा गया है। शेष दो में भी सभी पढ़ने वाले 'पे' ही पढ़ेंगे न कि 'इये'। प्रतिलिपिकारों को भी इन भ्रमपूर्ण नुक्तों का अवश्य ही ख्याल रहा होगा। अतः 'पे' और 'इये' का अन्तर उन्होंने अवश्य स्पष्ट कर दिया होगा। ऐसी दशा में मि० वेवेरिज का सुझाव मान्य नहीं हो सकता।

आगे चलकर देखते हैं तो दरों की सूची में भी पन्द्रवें वर्ष में लगान-निर्धारण में कुछ परिवर्तनों का पता चलता है, परन्तु दसवें, ग्यारहवें या बारहवें वर्ष में किसी

प्रकार का परिवर्तन इस सूची में दर्ज नहीं है। अकबरनामा भाग २ पृष्ठ ३३३ पर लिखा गया है कि सुरक्षित प्रदेशों में साले इलाही के तेरहवें वर्ष में नाप-प्रणाली से किया जाने वाला निर्धारण समाप्त कर दिया गया तथा उसके स्थान में सामूहिक निर्धारण प्रणाली प्रचलित की गयी। ऐसी दशा में यह भी असम्भव ही मालूम होता है कि जो व्यवस्था ग्यारहवें वर्ष में चालू की गयी हो, वह तेरहवें वर्ष से समाप्त कर दी जाय। एक बात यही हो सकती है कि जिन दरों से असंतोष था उनको हटा दिया गया हो और नई व्यवस्था को ठीक करने के लिये बीच के समय अस्थायी तौर पर एक अस्थायी व्यवस्था को स्थान दे दिया गया हो।

मेरा विचार है कि शायद अकबर ने इस समस्या को ग्यारहवें वर्ष में हाथ में लिया और तभी अकबरनामा तथा इकबालनामा में इसका जिक्र कर दिया गया। अकबर ने आदेश दिया कि एक सर्वथा नवीन मूल्यांकन तथ्यों के आधार पर किया जाय। मूल्यांकन के लिये आवश्यक तथ्यों को एकत्र करने में तथा उसके बाद नाना प्रकार की गणना करके पूरा मूल्यांकन प्रस्तुत करने में तीन वर्ष लग गये। इस प्रकार यह मूल्यांकन शासन के पन्द्रहवें वर्ष में प्रचलित किया गया और तब यह प्रचलन आईन में दर्ज किया गया, क्योंकि इसी साल नयी लगान-निर्धारण-दरें भी प्रचलित की गयीं। यदि कोई यह आपत्ति प्रगट करे कि मूल्यांकन में तीन वर्ष नहीं लग सकते, तो उन्हें विचार करना चाहिये कि इस काम के लिए एक हजार कानूनगो लगाये गये थे, जिनकी देख रेख के लिये केवल दस निरीक्षक रक्खे गये। एक निरीक्षक की देख रेख में एक सौ कानूनगो काम करते थे। ऐसी दशा में काम में तेजी कैसे आ सकती थी। कानूनगो को सूचना प्राप्त करने के बाद मुखिया से भी समझौता करना पड़ता था, जिसके बिना इस सूचना को ऊपर भेजा ही नहीं जा सकता था। इसके बाद पड़ोसी परगनों की सूचनाओं को तुगलक दृष्टि से भी देखना पड़ता था। यदि दुर्भाग्य से भी किसी भी परगने की सूचनाओं के मिलने में देरी हो गयी तो कई परगनों का काम रुक जाने की नौबत आ जाती रही होगी। ऐसी दशा में यदि मूल्यांकन के काम में तीन वर्ष लग गया तो क्या आश्चर्य है।

'द'

अनुवाद—जब बादशाह की बुद्धिमत्ता से साम्राज्य काफी बड़ा हो गया,
तो हर साल कीमतों के निश्चय करने में बड़ी परेशानी होने लगी,
और असाधारण विलम्ब के कारण बड़ा परेशान होना पड़ता था।

कभी तो खेतिहर लोग शिकायत करते थे कि मांग में वृद्धि हो गयी है।
और कभी जागीरदार शिकायत करते थे कि उनका पूरा वेतन नहीं मिल सका।
बादशाह ने एक उपाय सोचा और जमा-ए-दहसाला प्रचलित किया।
(जिससे लोग संतृष्ट से गये)

स्पष्टी करण ३—सुधार की स्पष्ट आवश्यकता तो थी ही। साम्राज्य वृद्धि के कारण समय पर कीमत लगा देना मुश्किल मालूम पड़ने लगा था और इस विलम्ब के कारण बड़ी असुविधा होती थी। लगान वसूली का प्रारम्भ अगर समय पर न कर दिया गया तो असुविधायें तो स्वाभाविक ही थीं। यदि लगान वसूल करना हो तो समय पर ही वसूल कर लेना चाहिये। परन्तु वसूली प्रारम्भ होने के पूर्व बादशाह की स्वकृति उस वर्ष की मांग पर आवश्यक थी। ऐसी दशा में सुविधा एवम् समय का खयाल करके कभी कभी स्थानीय कर्मचारी स्वीकृति आने से पूर्व ही वसूली प्रारम्भ कर देते थे। यदि कहीं वसूली के बीच में ही बादशाह की स्वीकृति आ गयी और कर्मचारी द्वारा प्रेषित मांग ही स्वीकृत होकर आ गयी तो ठीक, परन्तु यदि स्वीकृत मांग प्रेषित मांग से कम या अधिक हो गयी, तो असुविधा की सीमा नहीं रहती थी। मैं यह निश्चय नहीं कर पाया कि फारसी शब्द "अफजनख्वाही" का क्या अर्थ होना चाहिये। यदि इस शब्द का अर्थ "वर्द्धित माँग" है अर्थात् स्वीकृत मांग से प्रेषित मांग अधिक है तो इसका तात्पर्य यह हुआ कि किसानों से कुछ अधिक वसूल किया जा चुका होता था और यदि इस शब्द को "पूरक-मांग" के अर्थ में ग्रहण किया जाय अर्थात् यह समझा जाय कि स्वीकृत मांग प्रेषित मांग से अधिक है तो इसका अर्थ यह होता था कि किसानों से कुछ कम वसूल किया जा चुका होता था। ऐसी दशा में असुविधायें तो अनिवार्य ही थीं।

सुधार की आवश्यकता स्पष्ट होने पर भी सुधार के ढंग का स्पष्टी करण नहीं हो सका। आईन के इस अध्याय में जमा का अर्थ मूल्यांकन ही है, परन्तु नवीन मूल्यांकन मात्र से तो सारी परेशानियाँ दूर हो नहीं सकती थीं। यदि हम जमा को ... के अर्थ में ग्रहण करें तो यह मतलब होगा कि जिस प्रकार आज कल एक मुश्त लगान में मांगी जाती है, कुछ उसी प्रकार का निर्धारण अकबर ने भी कर ... परन्तु अकबरनामा भाग ३ पृष्ठ ३८१ के अनुसार तथा आईने मालगुजार के अनुसार इस प्रकार का कोई निर्धारण नहीं किया गया था। किया तो इतना ही गया था कि दस्तूर (नकद लगान की दर) निश्चित किया गया था किस्मते गल्ला के बदले में। ऐसी दशा में 'जमा-ए-दहसाला' का अर्थ स्पष्ट नहीं हो सका।

अकबरनामा भाग ३ पृष्ठ २८२ पर कहा गया है कि "चौबीसवें वर्ष में "जमा-ए-दहसाला" निश्चित किया गया। आगे चलकर पता चलता है कि कर्मचारी सालाना बाजारदरों की रिपोर्ट भेजते रहते थे ताकि गल्ले की मांग को नकद-मांग में बदला जा सके। ज्यों ज्यों साम्राज्य बढ़ता गया, इस प्रकार की असुविधायें बढ़ती गयीं। कर्मचारियों द्वारा बेईमानी किये जाने की भी सूचनायें मिलने लगीं। ऐसी स्थिति में कर्मचारी निराश हो गये मगर स्वयम् बादशाह ने इस समस्या का समाधान उपस्थित किया।"

'य'

अनुवाद :—पन्द्रहवें साल से चौबीसवें सालतक की मांग (महसूले-दहसाला) को जोड़कर उसके दशमांश को 'हरसाला' माना गया।

किन्तु बीसवें वर्ष से चौबीसवें वर्ष तक की लगान का रिकार्ड था, बाकी पाँच वर्षों के लिए भले लोगों की बात मान ली गई।

और 'माले-जिन्से-कामिल' का भी विचार करके उन्होंने सर्वाधिक आय वाले वर्ष को स्तर मान लिया।

स्पष्टीकरण—इस सन्दर्भ में महसूल का अर्थ उपज नहीं लगाया जा सकता अतः इसे माँग के ही अर्थ में ग्रहण करना चाहिये। प्रथम दो वाक्यांशों का स्पष्टीकरण देने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। इनका इतना ही अर्थ कि दसवर्षों की औसत को वार्षिक माँग के रूप में निर्धारित कर दिया गया। पिछले पाँच वर्षों के आँकड़े उपलब्ध थे, क्योंकि, जैसा हम लोग पीछे पढ़ चुके हैं, प्रायः सारा साम्राज्य ही प्रत्यक्ष शासन के अन्तर्गत था। प्रत्यक्ष शासन का आदेश उन्नीसवें वर्ष में प्रचारित किया गया था। अतः उन्नीसवें से चौबीवें वर्ष तक के आँकड़े दफ्तर में ही थे। हाँ चौदहवें से अठारहवें वर्ष तक की माँग के सम्बन्ध में पर्याप्त सूचनाओं का अभाव अवश्य था अभाव इसलिए था कि इन वर्षों में प्रायः समूचा साम्राज्य जागीरों के रूप में उठा हुआ था। अतः प्रयास यह किया गया कि जागीरदारों, पटवारियों, जागीरदारों के मैनेजरों या अन्य सम्बन्धित व्यक्तियों से जितनी सूचना मिल सके, प्राप्त की जाय। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि आईन में माँग के निश्चित किये जाने की चर्चा है न कि माँग की दर को। क्योंकि माँग की दर तो आईनुजदहसाला में थी ही और उनके आँकड़े प्राप्त करने की आवश्यकता ही नहीं थी।

इस विषय में जो तथ्य सिद्ध हैं वे इस प्रकार है :—(१) इस समय लगा

निर्धारण दरों की नवीन सूचियाँ चालू की गईं और वे ही आईन के पृष्ठों में दर्ज की गईं। (२) चूँकि जागीरदारी प्रथा को फिर से प्रचलित करना था। अतः नये मूल्यांकन की आवश्यकता थी। (३) अनुच्छेद 'य' में जिन व्यवस्थाओं की चर्चा की गई है, उनसे एक संतोषजनक मूल्यांकन तो प्रस्तुत हो सकता था, परन्तु उनसे माँग की वह सूची तैयार नहीं हो सकती थी जो आईन में दी गई है। हम जानते हैं कि इसी समय से माँग की नई सूचियाँ प्रचलित की गयीं, जो आगे निर्धारण का आधार बनती थी। ऐसी स्थिति में इस अनुच्छेद को इसी धारणा के साथ पढ़ना चाहिये कि उसमें नवीन मूल्यांकन प्रस्तुत करने की कार्यवाही का वर्णन है, क्योंकि किसी अन्य धारणा से इनकी संगति नहीं बैठती। एक ही बात का निश्चय नहीं हो पाता है कि आखिर माँग की नई सूचियाँ अस्तित्व में कैसे आ गईं।

परिशिष्ट 'फ'

टोडरमल के किये हुये कार्य

अध्याय चार में मैंने इस बात की चर्चा की है कि टोडरमल तथा उनके सुधारों की चर्चा करते समय हमने तत्कालीन सरकारी लेखों को ही आधार बनाया है और अठारहवीं शती में लिखे गये खाफी खाँ के ग्रन्थ को अवांछनीय कह कर छोड़ दिया है। इस परिशिष्ट में मैंने यही स्पष्ट करने का प्रयास किया है। मेरे ऐसा करने का क्या कारण था।

इस वर्णन की चर्चा करने की आवश्यकता इस लिए पड़ी कि इस प्रकार की एक मान्यता सी चल पड़ी है कि अकबरी शासन व्यवस्था में जो कुछ भी अच्छे कार्य किये गये, उन सभी का श्रेय राजा टोडरमल को ही है। अकबर के समय में जन साधारण के लिये भी चाँदी के सिक्के चलाये गये, इस प्रचलन में भी राजा का ही हाथ था, राजा द्वारा निर्धारण प्रणालियों की आयोजना भी की गयी, तथा उन्हीं के द्वारा साधन जुटाने के लिए खेतिहारों को अग्रिम धन देने की प्रणाली भी अपनायी गयी। फिर इसके बाद वह समय आया कि सारी व्यवस्थायें नष्ट भ्रष्ट हो गयीं तथा किसानों का पुरसाँहाल ही कोई नहीं रह गया, कृषिगत भूमि जंगलों में परिणति हो गयी, और एक अति कार्य कुशल व्यक्ति को अयोग्य कहा जाने लगा।

जहाँ तक नये सिक्कों के प्रचलन की बात है, यह निश्चय है कि राजा टोडरमल ने ११½ माशे के वजन के चाँदी के रुपयों को प्रचलित किया, जो ताँबे के काले कुरूप टंके की जगह पर प्रयोग में आने लगा। इस समय तक टंका ही सब से बड़ा सिक्का था, चाँदी के कुछ सिक्के छापे गये थे, परन्तु उनका उपयोग सिक्कों के रूप में न होकर तमगे के रूप में अधिक होता था, और वे पुरस्कार रूप में कलाकारों तथा विदेशी दूतों को दिया जाया करता था या बाजारों में चाँदी के स्थान पर बिका करता था। आईन भाग १ पृष्ठ छब्बीस पर लिखा है कि ११½ माशे के चाँदी के रुपयों का प्रचलन शेरशाह द्वारा किया गया था। यह एक असम्भव बात है कि जिस महत्व का अधिकारी अकबर हो, उसका श्रेय स्वयम् उसी के दर्बारी द्वारा

एक पूर्ववर्ती व्यक्ति को दिया जाय। अतः निश्चय ही इस प्रकार के रुपयों का चलन अवश्य शेरशाह का ही कार्य था। शेरशाह तथा इस्लाम शाह के इस प्रकार के सिक्के आज भी अत्यधिक संख्या में मिलते हैं। इस विषय में यदि किसी लेखक ने यह लिखा हो कि चाँदी के सिक्कों को चलन में ले आने का श्रेय टोडरमल को है, तो यह अनुचित पक्षपात होगा। इस प्रकार यह बात सन्देहजनक है।

जहाँ तक टोडरमल द्वारा चलायी गयी निर्धारण प्रणालियों का प्रश्न है, उसके विषय में निम्नलिखित विवरण दिया गया है।

जो फसलें वर्षामात्र से ही हो जाती थीं, अर्थात् जिनके लिये सिंचाई की आवश्यकता नहीं पड़ती थी, उनके विषय में टोडरमल ने व्यवस्था दी कि उपज का आधा भाग लगान में लिया जाया करे।

जिन फसलों (गेहूँ, जौ, गन्ना, अफीम इत्यादि) के लिये सिंचाई की आवश्यकता पड़ती थी, उनकी उपज का चतुर्थांश किसानों के व्यय के रूप में निकालकर शेष की तिहाई लगान में ली जाती थी; परन्तु अधिक व्ययसाध्य फसलों पर उपज का १।४, १।५, १।६ या १।७ भी लिया जाता था।

यदि बादशाह की इच्छा हुई तो प्रत्येक फसल के लिये अलग अलग प्रति बीघा लगान मुकर्रर कर दी जाती थी, जिसे राजा टोडरमल का "दस्तुर-उल-अमल" या धारा कहते थे।

लगान निर्धारण की इस व्यवस्था में दो विकल्प (आल्टरनेटिव) सामने थे। प्रथम प्रणाली विभेदपूर्ण बँटाई प्रणाली थी, तथा दूसरी नाप प्रणाली थी, जिसमें लगान गल्ले के रूप में नहीं वरन् सिक्कों के रूप में प्रति बीघा निर्धारित की जाती थी। तत्कालीन रिकार्ड्स को देखने से पता चलता है कि विभेदपूर्ण बँटाई का तो नाम ही नहीं था। इन रिकार्ड्स से स्पष्ट पता इस बात का लगता है कि टोडरमल ने नाप के आधार पर गल्ले के रूप में ही लगान निर्धारित किया न कि सिक्कों के रूप में। ऐसी दशा में यह देखना है कि आईन के विवरणों एवम् दफ्तर के रिकार्ड्स में ऐसी विरोधाभासपूर्ण बातें क्यों और कैसे लिख उठीं।

इस विवरण का मूल्यांकन करने में यह स्मरण रखना चाहिये कि इस ग्रन्थ की प्रतियाँ अत्यधिक त्रुटिपूर्ण हैं। प्रसिद्ध इतिहास लेखक इलियट ने कर्नल लीज का उद्धरण देते हुये लिखा कि उन्होंने पाँच प्रतिलिपियों का परीक्षण किया, उनमें कोई भी दो प्रति अनुरूपतः एक नहीं मिलीं, साथ ही उनकी विभिन्नता इस स्तर की भी नहीं है कि वे अलग-अलग ग्रन्थ प्रतीत हों। जहाँ तक मुझे पता है, इन प्रतिलिपियों

को शुद्ध करने का कोई प्रयत्न आज तक नहीं किया गया है। इस विवरण के सम्बन्ध में तो निस्सन्देह यह कहा जा सकता है कि यह अंश बाद में इस ग्रन्थ में शामिल किया गया है। मुद्रित प्रति में यह विवरण दो बार दिया गया है। दो प्रतियों में ये बातें अकबरी शासन के छठवें वर्ष में लिखी गई हैं जब कि तीसरी प्रति में यही विवरण शासन के चौबीसवें वर्ष में लिखी गई हैं। मुद्रित प्रति •के विषय में यह तो सोचा भी नहीं जा सकता फि पूरा का पूरा फर्मा ही दो स्थलों पर छप कर लग गया हो। इसलिये यही बात मान्य प्रतीत होती है कि यह अंश बाद में मिला दिया गया है।। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रथम दो प्रतियों में यह बात तब लिखी गई जब ये बातें घटित हुई तथा तीसरी प्रति में यही बातें तब लिखी गयीं, जब टोडरमल की मृत्यु हुई। मैं इस बारे में कोई निश्चित मत नहीं स्थापित कर सकता कि यह मिलावट खाफी खाँ द्वारा की गई या किसी अन्य व्यक्ति द्वारा। इस ग्रन्थ की शैली सर्वत्र समान नहीं है। यह विवरण अपनी शैली में कुछ बातों में ग्रन्थ के अनुरूप है पर कुछ बातों में एकदम भिन्न है।

इन विवरणों के लेखन में एक सौ पचास वर्षों का अन्तर तो है ही साथ ही साथ स्थान का अन्तर भी कम नहीं है। इस ग्रन्थ का यह अंश दक्षिण में लिखा गया प्रतीत होता हैं, क्योंकि दस्तूरूल अमल के साथ जो धारा शब्द आया है, वह मूलतः महाराष्ट्र का शब्द है। मि० मोल्स बर्थ के मराठी शब्द कोष में इस शब्द का अर्थ इस प्रकार दिया गया है 'साधारण दरें (लगान या कीमतों की)।' उत्तरी भारत में रहने वाले मुसलमान को एक ऐसे शब्द को समझाने के लिये किसी दक्षिणी शब्द को लिखने की क्या आवश्यकता थी, जिसे उत्तरी भारत के आम पढ़े लिखे लोग पूर्णतया समझते थे। इस एक शब्द के प्रयोग से सिद्ध होता है कि ये विवरण अवश्य ही दक्षिण में रह कर लिखे गये हैं।

इस विवरण में लगान निर्धारण की जिस प्रणाली का वर्णन दिया गया है वह वही प्रणाली है, जिसका प्रचलन मुर्शिद कुली खाँ ने दक्षिण में सन् १६५५ ई० में किया था और जिसके प्रचलन से दक्षिण के लोगों में पर्याप्त संतोष व्याप्त हो गया था। यह मानने का कोई स्पष्ट कारण नहीं है कि 'मुर्शिद कुली खाँ टोडरमल के दस्तूर-उल-अमल शब्द से परिचित था, परन्तु यह मान लेने में कोई कठिनाई भी नहीं है कि चूँकि मुर्शिदकुली खाँ एक विदेशी व्यक्ति था, इसलिये कार्य को सरल बनाने की दृष्टि से अथवा थोड़ा बहुत पथप्रदर्शन प्राप्त करने की दृष्टि से टोडरमल द्वारा की गई व्यवस्था का अध्ययन अवश्य किया होगा। अपनी निजी व्यवस्था को अधिक प्रभावपूर्ण बनाने के लिये भी उसने राजा टोडरमल द्वारा की गई व्यवस्था के गुण दोषों का

अध्ययन अवश्य किया होगा। जब उसने दक्षिण में नाप प्रणाली को मान्यता दी तो टोडरमल द्वारा अपनायी गई नाप प्रणाली अवश्य उसकी नजर में रही होगी। दक्षिण के लोग तब तक टोडरमल से तथा उनके कामों से परिचित नहीं थे। केवल उनकी योग्यता की कहानियाँ भर सुनी थीं, अतएव मुर्शिदकुली खाँ द्वारा किये गये कार्यों को उन्होंने टोडरमल द्वारा किया गया मान लिया हो तो क्या आश्चर्य है। परन्तु मुर्शिद कुली खाँ द्वारा किये गये सारे कार्यों का श्रेय टोडरमल को देना ठीक नहीं है; क्योंकि दक्षिण में जो विभेदपूर्ण दरें चालू की गईं वे तो उसकी अपनी देन थीं, क्योंकि तब तक उत्तरी भारत के किसी भी भाग में इस प्रकार की दरें नहीं प्रचलित हुई थीं। जो कुछ भी सत्य हो, पर मुर्शिदकुली खाँ द्वारा किये गये कार्यों के इस विवरण से यह बात स्पष्टतया प्रगट होती है कि उसके द्वारा किये कार्यों का आधार टोडरमल की व्यवस्था ही थी। इस विषय पर खाफी खाँ और मआसिरुलउमरा दोनों एक मत हैं, यद्यपि अन्य विषयों में उनमें स्पष्ट विरोध है। इसी के आधार पर चल कर जेम्स ग्रान्ट ने भी मुर्शिद कुली खाँ द्वारा किये गये काम का श्रेय टोडरमल को दे दिया था।

वास्तव में इस प्रकार का श्रेय परिवर्तन कल्पनात्मक है न कि वास्तविक।

परिशिष्ट 'ग'

आईने अकबरी में लिखित ग्रामीण परिगणन (स्टैटिस्टिक्स)

आईन के एक अध्याय का शीर्षक है "बारह सूबों का विवरण"। इसका वर्णन हमने इसी पुस्तक के चतुर्थ अध्याय के छठवें विभाग में किया है। आईन में हर सूबे के विवरण की समाप्ति पर एक अनुच्छेद में प्रान्तीय (सूबे से सम्बन्धित) आँकड़े दिये गए हैं, इसके बाद उस प्रान्त के जिलों का नम्बरवार विवरण है, जिसमें सूची (टेबुल) के रूप में परगने (या महाल) वार विवरण दिया गया है। साथ ही एक छोटी सी टिप्पणी के रूप में वहाँ की विशेष बातें भी दी गई हैं, जैसे यदि वहाँ कोई किला है, या कोई धातु मिलती है या वहाँ कोई प्राकृतिक विचित्रता है। इस स्थान पर आगरा का उदाहरण देकर यह प्रयत्न करेंगे कि पाठकों की समझ में आईन का वर्णन क्रम आ जाय। यह विवरण आईन के प्रथम भाग में पृष्ठ चार सौ बयालीस से प्रारम्भ होता है।

"आगरा सूबा—१६ जिले तथा २०३ महालों का है।"

कृषि गत भूमि का क्षेत्रफल, दो करोड़ अठहत्तर लाख बासठ हजार एक सौ नवासी बीघा और अठारह बिस्वे।

कुल मूल्यांकन, चौवन करोड़, बासठ लाख, पचास हजार तीन सौ चार दाम। इसमें से, एक करोड़, इक्कीस लाख, पाँच हजार सात सौ साढ़े तीन दाम मूल्यांकन की भूमि वक्फ में उठी है।

फौज—स्थानीय सेना—पचास हजार छः सौ इक्यासी घुड़सवार, पाँच लाख सतहत्तर हजार पाँच सौ सत्तर पैदल, दो सौ इक्कीस हाथी।

दूसरे सूबों का वर्णन भी इसी ढंग पर किया गया है। कहीं कहीं इतना अन्तर आ गया है कि कुछ सूबों की भूमि की नाप नहीं दी गई है।

यह भी हो सकता है कि इन परिगणनों (स्टैटिस्टिक्स) को केवल आईन में दर्ज करने के लिये इकट्ठा किया गया हो, या यह भी हो सकता है कि जागीरों के बँटवारे के लिये ये आँकड़े पहले से ही महकमा लगान में सुरक्षित रक्खे गये हों और वहीं से इनकी प्रतिलिपि ले ली गयी हो। ऐसी भी कोई कारण अवश्य रहा होगा

जिसके लिये इन परिगणनों को संग्रहीत करने वालों ने यह आवश्यक समझा कि लगान के मूल्यांकन के साथ ही साथ सैनिक शक्ति का भी उल्लेख होना चाहिये और वहीं पर वक्फ में दी गई भूमि का भी विवरण होना चाहिये।

पहले पैमाइशी भूमि को ही ध्यान में रखकर प्रारम्भ करें तो हम देखेंगे कि कम से कम दस सूबों की अधिकांश भूमि या कुल भूमि की पैमाइश दी गई है। इन दस सूबों के नाम हैं :—मुल्तान, लाहौर, दिल्ली, आगरा, अवध, इलाहाबाद, मालवा, अजमेर, बिहार तथा गुजरात। इनमें से प्रथम आठ सूबों को अपने शासन के उन्नीसवें वर्ष में अकबर ने प्रत्यक्ष शासन में ले लिया था। हम जानते हैं कि लगान की माँग को निर्धारित करने के लिये इन सूबों की यदि कुछ नहीं तो अधिकांश भूमि की पैमाइश वर्षों तक होते रहने के बाद पूरी हुई थी। दूसरी ओर हम देखते हैं कि बंगाल (उड़ीसा सहित), खान देश, बरार, सिन्ध, काश्मीर तथा काबुल के सूबों की भूमि की नाप का कोई जिक्र नहीं किया गया है। ऐसी दशा में यह सोचने का कोई आधार नहीं है कि इन प्रान्तों में भी कभी लगान निर्धारण के लिए नाप प्रणाली अपनायी गई होगी। इन तथ्यों के प्रकाश में यह परिणाम निकालना तर्क-संगत ही होगा कि जिन सूबों की जमीन की पैमाइश के आँकड़े दिये गये हैं, वहाँ की भूमि की पैमाइश करने की कभी आवश्यकता पड़ी थी, या यों भी कह सकते हैं कि इन प्रान्तों में लगान निर्धारण के लिये कभी न कभी नाप प्रणाली को अवश्य अपनाया गया होगा। इस परिणाम की पुष्टि एक सरकारी कागज से हो जाती है जिसमें एक सूबे के उस भाग की पैमाइश का आँकड़ा नहीं दिया गया है जहाँ नाप प्रणाली नहीं चालू की गयी थी। पैमाइश किये गये सूबों में भी निम्नलिखित जिलों की पैमाइश नहीं दी गयी है—दिल्ली में कुमाऊँ, इलाहाबाद में भटगोरा, मालवा में गढ़ तथा मरसोर, अजमेर में जोधपुर, सिरोही तथा बीकानेर, बिहार में मुंगेर और गुजरात में सोरठ। यह मानने का पर्याप्त कारण है कि या तो इन जिलों का शासन सरदारों के हाथ में था, या उन पर मुगल प्रशासन प्रभावपूर्ण रीति से कायम ही नहीं था।

इसलिये जहाँ तक सूबों तथा जिलों का प्रश्न है, हम आईन के पृष्ठों को ही देख कर यह पता लगा सकते हैं कि इनमें नाप प्रणाली से लगान निर्धारण की व्यवस्था थी या नहीं। बिहार और गुजरात के मामलों में यह मानना पड़ेगा कि उन्नीसवें वर्ष तक यहाँ निर्धारण की नाप प्रथा नहीं चालू थी और बाद में कभी चालू की गयी। कुछ जिलों में ऐसे परगने भी हैं, जहाँ पूरे जिले की पैमाइश किये जाने के बावजूद एकाध परगनों का क्षेत्रफल नहीं दिया गया है। ऐसी दशा में सोचा जा सकता है कि

शायद उन परगनों के आँकड़े खो गये हों, परन्तु ज्यादा सम्भावना इसी बात की है कि ये परगने किसी न किसी प्रकार स्थानीय सरदारों के ही हाथों में रह गये।

इन विवरणों में जो आँकड़े दाम में दिये गये, उनके बारे में प्रश्न उठता है कि क्या यह रकम किसानों से ली जाने वाली माँग की रकम है? क्या यह रकम केवल एक वर्ष की है या प्रति वर्ष की? क्या यह रकम मूल्यांकन की है जो प्रशासकीय कार्यों के लिये तैयार किया गया हो? पिछले सभी लेखकों ने (उन्हीं में मैं भी हूँ) ने इसे माँग की रकम ही माना है, परन्तु इसे मूल्यांकन भी माने जाने के कारण हैं।

यदि अध्याय छः में दिये गये परिणाम को सही मान लें (कि प्रत्यक्ष शासन केवल पाँच वर्षों तक चला और उसके बाद जागीर-व्यवस्था प्रचलन में आ गयी) तब यह मानना ठीक नहीं होगा कि हम इसे माँग की रकम मान लें। क्योंकि जागीरदारी प्रथा में सरकार को मूल्यांकन की आवश्यकता पड़ती थी, न कि माँग की। ऐसी दशा में केवल सुरक्षित प्रदेशों के आँकड़ों को माँग के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। दूसरी ओर यह भी सत्य है कि जागीरदारी की व्यवस्था में यह आवश्यक होता है कि प्रत्येक जागीर का मूल्यांकन महकमा लगान की उस शाखा में रहे, जिसके जिम्मे जागीरों के बँटवारे का प्रबन्ध सौंपा गया था।

ऐसी दशा में मेरा सुझाव यह है कि पुराने सूबों के जो आँकड़े हमारे सामने हैं वे सम्भवतया मूल्यांकन के ही आँकड़े हैं, जो उस क्षेत्र के दसवर्षीय लगान की वार्षिक औसत के समान है जहाँ पर उन दिनों लगान निर्धारित की गई थी। दस वर्षों के माँग की औसत चौबीसवें वर्ष में निकाली गयी थी।

इन परिगणनों में एक और मजेदार बात यह मिलती है कि इनमें भू-भागों के भी आँकड़े दिये गये हैं, जो सरदारों के हाथ में थे। उदाहरण के रूप मे बीकानेर जिले को लिया जा सकता है। यह जिला अजमेर सूबे में था। इस जिले में दो परगने थे (आईन भाग १, पृष्ठ ५१२) जिनकी जमा सैंतालिस लाख पचास हजार दाम थी। इस जिले की स्थानीय सेना में १२ हजार घुड़सवार तथा पचास हजार पैदल थे। इसके दोनों परगने का नाम भी आईन में है, परन्तु उनके परिणाम अलग-अलग न दिये जा कर इकट्ठा ही दिये गये हैं। इस जिले का वर्णन इकाई रूप में ही किया गया है। निस्सन्देह इस जिले का पैमाइश क्षेत्रफल नहीं दिया गया है। मेरा विचार यह है कि इन आँकड़ों से यही पता चलता है कि यह क्षेत्र राजा राय सिंह द्वारा शासित था, जो अकबर के ऊँचे कर्मचारियों में थे और उनके पास जो स्थानीय

सेना थी, उसका यही मतलब था कि यह सेना शाही फौज का ही एक अंग थी, जो बुलाये जाने पर शाही आदेश का पालन करने के लिए कहीं भी जा सकती थी। जमा की रकम को या तो वार्षिक करके रूप में ग्रहण किया जा सकता है या नाम मात्र के रूप में। नाम मात्र का यह अर्थ होगा कि राजा रायसिंह को इतनी रकम सालाना कर के रूप में देनी पड़ती होगी और इतनी ही रकम उन्हें सरकारी खजाने से सालाना वेतन के रूप में मिलती रही होगी। सत्य जो भी हो, उसे निश्चित करने की कोई भी आवश्यक सामग्री प्राप्य नहीं है।

इस प्रकार के नाम मात्र के आँकड़े का एक उदाहरण बादशाहनामा भाग २ पृष्ठ ३६० पर मिलता है, जिसमें पालमऊ के सरदार द्वारा अधीनता स्वीकृति का वर्णन है। बिहार के सूबेदार को आदेश हुआ कि वह पालमऊ के स्वतंत्र सरदार को मुगल साम्राज्य के आधीन कर ले। बिहार के सूबेदार ने पालमऊ पर चढ़ाई की। परिणाम स्वरूप पालमऊ के सरदार ने एक लाख रुपया सालाना 'पेश कश' देना स्वीकार कर लिया। सरदार ने बादशाह की खिदमत मंजूर कर ली। उसके इलाके का मूल्यांकन एक करोड़ दाम निश्चित किया गया, और वही इलाका उसे जागीर स्वरूप दे दिया गया। इस दशा में यह मूल्यांकन नाम मात्र का ही था, क्योंकि बादशाह को पालमऊ से न कुछ मिलता था और न उसके शासक को बादशाह से वेतन स्वरूप कुछ मिलता ही था। उसकी पूर्व स्थिति से इतना ही अन्तर पड़ा कि जहाँ पहले वह स्वतंत्र शासक की हैसियत से शासन करता था, वहां अब शाही कर्मचारी के रूप में शासन करने लगा। उस देश की आन्तरिक व्यवस्था पर इस घटना का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। उसे वही एक लाख रुपया पेशकश देना पड़ता था, जो उसे इनाम के रूप में वापस मिल जाया करता था। इस प्रकार की व्यवस्था अन्य स्थानों में भी सम्भव हो सकती थी। मेरा अनुमान यह है कि कुछ सरदार बादशाह को सालाना कर भी देते रहे होंगे जब कि शेष सरदारों के साथ पालमऊ की सी ही व्यवस्था कर ली जाती होगी।

आईन में दर्ज किये गये विवरणों में दिल्ली प्रान्त के कुमाऊँ जिले का भी विवरण ऐसा ही है। आईन भाग १ पृष्ठ ५२१ के अनुसार कुमाऊँ जिले में इक्कीस परगने या महाल थे। इनमें से पांच महालों का मूल्यांकन ही नहीं निश्चित किया गया था या यों कहे कि इन महालों के शासक सरदारों से किसी भी व्यवस्था पर समझौता नहीं हो सका। शेष सोलह महालों के मूल्यांकन उसी रूप में दिये गये हैं, जिस ढंग का मूल्याकन हम बीकानेर के विषय में इसके पूर्व देख चुके हैं। इसी प्रकार

के और भी विवरण खोजे जा सकते हैं, परन्तु उनके विषय में भी निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वे वार्षिक कर देते थे या नहीं।

ऐसी दशा में छोटे जागीरदारों की स्थिति का अनुमान हमें अपने अनुभव के ही आधार पर करना पड़ेगा। एक प्रश्न तो यह भी उठता है कि अकबर के समय में छोटे जागीरदारों का अस्तित्व था भी या नहीं। परिगणनों में परगनों से छोटी इकाई प्रयोग में आयी नहीं है, जिससे प्रमाणित होता है कि ऐसे सरदारों का अस्तित्व तो नहीं ही था, जिनके शासन में परगने से भी छोटा भूभाग हो, परन्तु कुछ ऐसे भी संकेत मिलते हैं जिनमें मूल्यांकनों की तुलना करने से परगने के छोटे बड़े होने का अनुमान लगाया जा सकता है। इस बात से भी यही प्रमाणित होता है कि परगने से छोटी किसी क्षेत्रीय इकाई का उन दिनों कोई अस्तित्व ही नहीं होता था। छात्रों के लाभार्थ उन संकेतों को स्पष्ट कर देना ही वांछनीय है।

(अ) एक जिले में एक परगने के अतिरिक्त सारे जिले की पैमाइश की हुई है। इससे अन्दाज लग जाता है कि यह परगना किसी सरदार के हाथ में था तथा वहां निर्धारण की आवश्यकता ही नहीं पड़ती थी।

(ब) जब मूल्यांकन एक ही सीधी रकम में दी गयी हो, तब भी यही समझना चाहिये कि यह भूभाग किसी सरदार के हाथ में था।

(स) जहाँ के रिकार्ड में किसी वक्फ का जिक्र न हो उसे भी सरदाराधीन ही समझना चाहिये।

(द) जहाँ पर कोई किला हो, वहाँ भी सरदार का अस्तित्व समझना चाहिये।

इन सब संकेतों का स्पष्टीकरण कालिंजर जिले में स्थित अजयगढ़ के उदाहरण से हो जायगा। आईन भाग १ पृष्ठ ४३० के अनुसार अजयगढ़ का क्षेत्रफल नहीं दिया गया है। उसका मूल्यांकन सीधी एक ही रकम यानी दो लाख है। इसके भूभाग में कोई वक्फ की भी जमीन नहीं है। पास की पहाड़ी पर एक किला भी है। इसलिए हम अनुमान कर सकते हैं कि अजयगढ़ किसी सरदार के अधीन था।

परिशिष्ट 'ह'

शब्द कोष

इन छोटे से शब्द कोष में उन फारसी व भारतीय शब्दों का अर्थ दिया गया है, जो इस पुस्तक में प्रयुक्त हैं। अक्षर 'श' जहाँ लगाया गया है वहाँ शताब्दी समझना चाहिये।

अमीन—एक राजकीय पद शेरशाह के समय में हर परगने में दो कर्मचारी रहते थे, उसमें एक को अमीन कहते थे। अकबर के समय में सूबेदार के साथ एक कर्मचारी रहता था जिसे अमीन कहते थे। परन्तु इसके कर्तव्यों का वर्णन नहीं किया गया है। १७ श० लगान निर्धारक, जो दीवान के मातहत कार्य करता था; नायब या सहायक के अर्थ में भी प्रयोग में आता था।

अमीनुलमुल्क—अकबर ने फतहुल्ला शीराजी नामक व्यक्ति को टोडरमल के कार्यों पर नियन्त्रण रखने के लिये जब नियुक्त किया तो उसे यही पदवी दी गयी थी। इसे शाही कमिश्नर के अर्थ में ग्रहण कर सकते हैं।

अमीर—१३, १४ श० उच्चवर्गीय व्यक्ति, जो खान से नीचे तथा मलिक के ऊपर समझे जाते थे। १५ श० प्रान्तीय सूबेदार को भी अमीर कहते थे। इलियट ने तारीखे शेरशाही में परगना अध्यक्ष के लिये अमीर शब्द का प्रयोग किया है।

अलतमगा—एक विशेष प्रकार का स्वामित्व, जिसे जहाँगीर ने चालू किया था। इसमें जिस व्यक्ति को कोई भूमि दी जाती थी और उस पर बादशाह की एक मुहर विशेष लगी रहती थी तो उस भूमि को अलतमगा से प्राप्त भूमि कहते थे।

आबादी—सामान्य और बसी हुई भूमि तथा कृषिगत भूमि के अर्थ में प्रयुक्त है। जहाँ खेती होती थी वह भूमि बस भी जाती थी। विशेष अर्थ में समृद्धि भी समझा जा सकता है। वर्तमान काल में गाँवों के अर्थ में प्रयोग में आता है।

आमिल—१३-१५ श० सामान्य अर्थों में एक कार्याधिकारी। अकबर के परवर्ती काल में सुरक्षित प्रदेशों के कलेक्टर (मुहस्सिल) को भी आमिल कहने लगे थे, अर्थात् यह शब्द करोड़ी का समानार्थी है। १८ श० में गवर्नर के अर्थ में भी प्रयुक्त है। वैसे साधारण अर्थों में उस व्यक्ति को आमिल कहते थे जो सामान्य प्रशासन का एक उच्चपदीय कर्मचारी होता था।

इक्ता—वेतन के बदले में मिला हुआ इलाका। जागीर तथा तुयूल शब्दों का पर्याय-वाची है। १३, १४ सूबा।

इक्तादार—जिस व्यक्ति को भूमि इक्ता में दी जाती थी। १३, १४ श० सूबेदार।

इजारा—१६-१८ श०। सीरदारी का लगान। सीरदार को .इजारादार भी कहते हैं और मुस्तजीर भी।

इनाम—एक प्रकार का पुरस्कार। कभी-कभी बादशाह लोग किसी कर्मचारी या व्यक्ति को उसके काम के अच्छाई पर कुछ भूमि शुल्क-मुक्त के रूप में या कुछ रकम इकट्ठा, या प्रतिमास बजीफा के तौर पर दिया करते थे। १७ श० बादशाह लोग जागीरदारों को जागीर के अतिरिक्त जो रकम सेना रखने के लिये दी जाती थी, उसे इनाम कहा करते थे।

उश्र—मुसलमान शाहों के अधिकार में भूमि के दो वर्ग होते थे, उश्री तथा खिराजी। उश्र माने वह भूमि जिसकी उपज का दशमांश ही बादशाह लगान के रूप में लेता था। अरब की समूची भूमि उश्री थी। जीते हुये प्रदेशों को खिराजी कहते थे, जिसकी भूमि की उपज पर मनमाना लगान लगायी जा सकती थी। यह व्यवस्था इस्लाम की है।

कबूलियत—लिखित इकरारनामा जो किसी भूमि की निश्चित लगान देने के वादे के लिये लिखा जाता था।

करोड़ी—१६ श० सुरक्षित प्रदेश की लगान वसूल करने वाला। इसे प्रायः आमाल-गुजार भी कहते थे। १७ स० जागीरदारों द्वारा नियुक्त कलेक्टर को भी करोड़ी ही कहते थे।

कस्बा—वर्तमान कालीन अर्थ बड़ी बाजार या छोटा शहर। प्रारम्भिक मुस्लिम कालीन लेखकों ने इस शब्द को परगना के अर्थ में भी प्रयोग किया है।

काजी—इस्लामी व्यवस्था का एक पद, जिनका कर्तव्य न्यायाधीश की तरह होता था, परन्तु उसे प्रशासकीय अधिकार भी होते थे। काजी का पद बहुत कुछ सूबेदार के सहायक के ढंग का होता था।

कानूनगो—परगना का लेखा क्लर्क तथा प्रपत्र रक्षक (रजिष्ट्रार)। इस प्रकार का पंद हिन्दू काल में भी होता था, परन्तु इस पद को क्या कहते थे, इसका पता नहीं चलता। १३ वीं १४ वीं शती में कानून का अर्थ वह नही होता था, जो आज ला शब्द का है। इसका तत्कालीन अर्थ रिवाज से था। अतः 'कानूनगो' को कानून के व्याख्याकारक के रूप में नहीं वरन् रीति रिवाजों :का स्पष्टीकरण करने वाले के अर्थ में ग्रहण करना चाहिये। अर्थात् कानूनगो को उस व्यक्ति के अर्थ में ग्रहण करना चाहिये, जो हिन्दू प्रजा के रीति रिवाजों का स्पष्टीकरण मुस्लिम शासकों के समक्ष रखते थे।

कारकुन—सामान्य रूप से इसका अर्थ होता है एजेन्ट या सहायक। १६ श० के बाद क्लर्क के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। कुछ १३ तथा १४ वीं शताब्दी के लेखों में भी इसी अर्थ में प्रयुक्त है।

किस्मते गल्ला—अन्न का बँटवारा सरकार तथा किसान के बीच। १६ श० लगान निर्धारण की प्रणाली विशेष।

खरीफ—वह फसल जो मौसमें बरसात में होती है।

खलीसा—सुरक्षित प्रदेश।

ख्वाजा—एक सम्मान प्रद पदवी। तेरहवीं शताब्दी सूबे के शासन का एक कर्मचारी।

खिदमती—नजर, भेंट।

खिराज—देखिये परिशिष्ट 'अ'। मुसलमानों द्वारा जीते गये प्रदेशों के निवासियों से लगान रूप में जो रकम ली जाती थी, उसे खिराज कहते हैं। पहले इसे इस्लाम के मतानुसान मुस्लिम हितकारी कार्यों में ही व्यय किया जाता था।

खूत—देखिये परिशिष्ट 'स' केवल बर्नी ने इस शब्द का प्रयोग सरदार के अर्थ में किया है।

गुमाश्ता—नायब या मातहत-विशेष अर्थ कलेक्टर्स का नायब।

गुञ्जाइश—सम्भावना, सामर्थ्य, समाई;

चकला—सुरक्षित प्रदेशों को छोटे छोटे विभागों में बाँट कर, प्रत्येक को एक लगान वसूल करने वाले के जिम्मे कर दिया जाता था। उस विभाग (सर्किल) को चकला तथा व्यक्ति को चकलादार कहते थे।

चौथ—मरहठा लोग कुछ प्रदेशों को जीत कर उनसे प्रति वर्ष लगान की चौथाई देते रहने का वादा लेकर प्राचीन शासक के ही हाथ में रहने देते थे। इसी चौथाई की माँग को चौथ कहते थे।

चौधरी—परगना का प्रमुख

जजिया—इस्लाम द्वारा प्रतिपादित कर जो गैरमुस्लिमों से ही लिया जाता था।

जब्त—देखिये परिशिष्ट 'द'। अकबर कालीन एक निर्धारण प्रणाली जो पैमाइश पर आधारित होती थी। जहाँ यह प्रणाली प्रचलित रहती थीं उसे जब्ती प्रदेश कहते थे। कालान्तर में यह शब्द माँग की दर, या किराये की दर के अर्थ में भी प्रयुक्त होने लगा जो बोई गई भूमि पर लगाई जाती थी।

जमा—योग-कृपया परिशिष्ट 'अ' देखें। (१) लेखा में प्राप्त रकम, बाईं ओर रक्खी जाती है (२) महकमा लगान में या तो मांग या मूल्यांकन संदर्भानुसार, परिशिष्ट 'य' भी देखें।

जमीन्दार—भूमि का स्वामी, जो प्रचलित सरकार द्वारा मान्य हो। जमीन्दार की सामान्यतया न तो कोई पदवी होती है न कोई हक (क्लेम)। बंगाल में हर प्रकार के भूमि के मालिकों को जमींदार ही कहा जाता था, १८ श०। उत्तरी भारत में इस शब्द का प्रयोग चौदहवीं शताब्दी के बाद से सरदार के अर्थ में होने लगा था।

जरीब—भूमि नापने की एक इकाई, १६ शताब्दी पैमाइश का पर्यायवाची।

जागीर—वेतन के बदले में मिला हुआ भूभाग, पर्याय इक्ता, तुयूल।

टंका—एक सिक्का जो चौबीस दाम के बराबर होता था। अकबर के समय तक यही सिक्का प्रचलन में था। बीच में शेरशाह ने रुपये प्रचलन किया, बाद में अकबर ने भी चाँदी का रुपया चलाया।

तफरीक—सरकारी लगान की माँग पहले मुखिया से की जाती थी, मुखिया उस माँग को यथा भाग किसानों पर बाँट देता था। मुखिया द्वारा की गयी इसी बाँट को तफरीक कहते थे। यदि साभूहिक निर्धारण परगने भर का एक साथ हुआ तो तफरीक का कार्य चौधरी करता था।

तालुक—अन्याश्रित प्रदेश, आधीन प्रदेश,। १७ श० के अन्त में प्रयोग में आने लगा। उस समय भूमि पर अधिकार के अर्थ में प्रयोग किया जाता है। तालुकदार का मतलब है तालुक का अधिकारी।

तुयूल—वेतन के बदले में दिया गया भूभाग, समानार्थी, इक्ता, जागीर।

दफ्तर—आफिस जहाँ सरकारी रिकार्ड्स रक्खे जाते हैं।

दस्तूर—इसके कितने ही सामान्य अर्थ होते हैं, चुंगी (कस्टम), रिवाज (परम्परा) नियम (रूल) दस्तूरुल अमल का संक्षिप्त रूप, अकबरकालीन एक निर्धारण दर जो सिक्कों के रूप में थी।

दाम—अकबरकालीन एक ताम्बे का सिक्का, इसकी कीमत करीब १।४० रुपया होती थी। चाँदी के मूल्य के घटने बढ़ने पर इसकी भी कीमत बढ़ घट जाती थी। १७, १८ श० यह नाम मात्र की इकाई रह गयी और इससे केवल मूल्यांकन का ही काम लिया जाने लगा। तनखाहें भी दामों में ही निश्चित की जाती थी साथ ही जागीरें भी दाम में ही दी जाती थी।

दीवान—दीवानी—परिचय में इसका स्पष्टीकरण किया गया है। १३, १४ श० दीवान का प्रयोग वजारत (मंत्रित्व पद) के अर्थ में होता था। १६ श०, (१) महकमा लगान का वजीर। (२) किसी बड़े आदमी का कार-बार देखने वाला। १७ श० (१) महकमा लगान का एक ऊँचा कर्मचारी (२) प्रान्तीय लगान अधिकारी (प्राविंशल रेवेन्यू आफिसर)। १६ श० में दीवानी शब्द लगान की वजरात के अर्थ में प्रयोग में आता था। १७ श० तथा आगे समूचे अर्थ विभाग के अर्थ में ही प्रयोग में आने लगा।

देह—भारतीय अर्थों में कोई भी गाँव, अर्थात् छोटा सा भूभाग जिसे प्रशासन की इकाई मान लिया गया हो, भले ही वह आबाद हो या न हो। समानर्थी मौजा, किरियात।

दोआब—किन्हीं दो नदियों के बीच का भूभाग। भारत में गङ्गा जमुना के बीच के मैदान के अर्थ में प्रयोग किया जाता है। देखिये अध्याय २ विभाग।

धर्म—हिन्दू-धर्म जिसमें हर वर्ग के लोगों के कर्तव्य निर्देशित किये गये हैं और जिसके नियमों को सिद्धान्ततः बदला नहीं जा सकता।

धारा—मराठी भाषा का एक शब्द है, जिसका अर्थ होता है 'दर'। मुर्शिदकुली खाँ द्वारा निश्चित की गयी निर्धारण-दरों की सूची को धारा कहा गया है।

नसक—कृपया परिशिष्ट 'द' देखें। सामान्य दशा में आदेश तथा प्रशासम के लिये प्रयोग में आता है। अकबर के शासन काल में लगान व्यवस्था के एक ढंग विशेष के अर्थ में इस्तेमाल किया गया है, जिसे मैंने सामूहिक निर्धा-रण कहा है, यद्यपि इसको सीरदारी के अर्थ में भी ग्रहण किया जा सकता है।

नायब—प्रतिनिधि, प्रतिपुरुष। १३ तथा १४ श०, उस कर्मचारी को कहा जाता था जो किसी सूबेदार की अनुपस्थिथति में शासन कार्य चलाने के लिये भेजा जाता था। उस समय में ऐसा भी यदा कदा हुआ करता था कि किसी व्यक्ति की नियुक्ति तो होती थी किसी प्रान्त के सूबेदार पद पर परन्तु उस व्यक्ति को या तो दर्बार में ही हाजिर रहना पड़ता था, या कहीं और कार्य विशेष से भेज दिया जाता था। ऐसी दशा में उसका पद-भार किसी अन्य व्यक्ति को दे दिया जाता था। ऐसे ही व्यक्ति को नायब कहते थे।

(B)—पटवारी—गाँव का लेखा जोखा रखने वाला व्यक्ति। यह व्यक्ति गाँव भर के किसानों की हैसियत का लेखा रखता था और जरूरत पड़ने पर सरकारी खिदमत में भी वे कागजात भेजे जाते थे। लगान-निर्धारण में उसके कागजों को महत्व दिया जाता था तथा लगान वसूली में भी मदद देता था। स्मरणीय है कि पटवारी की नियुक्ति सरकार द्वारा नहीं होती थी और नहीं उसे सरकार से वेतन मिलता था। वह गाँव का ही कर्मचारी होता था।

पट्टा—जब कोई भूमि या खेत किसी व्यक्ति को किसी भी निश्चित अवधि के लिये निश्चित प्रति वर्ष लगान देने की शर्त पर लिखित रूप से दी जाती थी तो उस लिखित शर्तनामे को पट्टा कहते थे। इसमें दो बातें निश्चित रूप से लिखी जाती थीं। (१) कितनी अवधि के लिये भूमि दी जाती है तथा (२) इस भूमि की वार्षिक लगान कितनी देनी होगी।

परगना—प्रायः हर काल में सूबे को जिलों, जिलों को परगने में बाँट दिया जाता था। कभी-कभी सामूहिक निर्धारण में ये परगने ही इकाई मान लिये जाते। एक परगना में कई गाँव हुआ करते थे। जिस अर्थ में पहले कस्बा शब्द किया जाता था, १४ वीं शताब्दी में उसी अर्थ में परगना शब्द प्रयोग में आने लगा।

पैमाइश—नाप, १६ श०, लगान-निर्धारण की एक प्रणाली, जिसमें प्रति बीघा लगान निर्धारित की जाती थी। जरीब का पर्यायवाची है।

फतवा—इस्लामी नियमों पर किसी न्यायाधीश द्वारा दी गई राय।

फर्मान—बादशाह द्वारा दिया गया औरचारिक आदेश।

फवाजिल—१३वीं तथा १४वीं शताब्दी में यदि कोई सूबेदार वास्तविक माँग से अधिक लगान वसूल कर लेता था, तो उस अतिरिक्त रकम को फवाजिल करते थे।

फौजदार—१४ श०, एक फौजी अफसर, यह पद सम्भवतः द्वितीय वर्ग का था, अर्थात् सिपाहियों के ऊपर तथा सेनापति के नीचे उनका पद होता था। १६-१८ श०, सूबे के किसी भाग का प्रशासकीय अधिकारी, साधारणतया महकमा लगान तथा स्थानीय लगान व्यवस्था से उसको कोई मतलब नहीं होता था, किन्तु १८वीं शताब्दी में एक ही व्यक्ति दीवान भी होता था और फौजदार भी।

बँटाई—पूरी उपज या अनुमानित उपज का कोई भाग राज्यांश (लगान) के रूप में माँग करना। इस व्यवस्था के अन्तर्गत उपज का बँटवारा राज्य तथा किसान के बीच होता था।

बंजारा—भ्रमणशील गल्ले का व्यापारी, पर्यायवाची 'कारवानी'।

बलहर—एक हिन्दी शब्द जो गाँव के तुच्छातितुच्छ कार्मों को करने वाले के अर्थ में व्यवहृत हुआ है। निम्नतम वर्ग का व्यक्ति।

मददे मोआश—जीवन यातना के हेतु दिया गया वक्फ (लगान मुक्त भूमि) या वजीफा (वृत्ति)।

मलिक—१३, १४ श०, उच्चवर्गीय खिताब या पद। अमीर से नीचे का वर्ग। कालान्तर में एक खिताब।

महसूल—कृपया परिशिष्ट 'अ' देखें। संदर्भानुसार माँग या उपज।

१६ श०, सरकारी कागजात, लगान निर्धारण के लिए निकाली गयी औसत उपज।

महाल—अकबर के शासन में लगान व्यवस्था की क्षेत्रीय इकाई।

परगना के ही समान क्षेत्रीय इकाई।

मसाहत—पैमाइश, सर्वेक्षण। १४ श०, लगान-निर्धारण की नाप प्रणाली। कालान्तर में जरीब या पैमाइश।

माल—कृपया परिशिष्ट 'अ' देखें। सामान्य अर्थ, धन या जायदाद।

ग्रामीण व्यवस्था में, माँग के अर्थ में प्रयुक्त। कभी-कभी पूरी लगान व्यवस्था के अर्थ में इस्तेमाल किया गया है।

सेना में; लूट की वस्तुयें।

मालिक—सत्ताधारी, सामान्य अर्थ में स्वामी।
इस्लाम में भूमि का स्वामी (लैंड होल्डर)।
औरङ्गजेब के फर्मान में किसान के अर्थ में प्रयुक्त।

मुकदम—१३वीं, १४वीं श०, नेता या मुख्य व्यक्ति, विशेष अर्थ में गाँव का 'मुखिया'।
१६वीं श०, मुखिया।

मुक्ती—कृपया परिशिष्ट 'ब' देखें। १३वीं १४वीं श०, (सूबेदार)।
१६ श० में अप्रचलित हो गया।

मुकस्समा—इस्लामी अर्थ में उपज पर लगान निर्धारण।

मुतालबा—कृपया परिशिष्ट 'अ' देखें। प्रारम्भिक काल में बकाया की वसूली।
१७ वीं श०, लगान की माँग की रकम (एमाउन्ट)

मुशाहदा—कृपया देखिये परिशिष्ट 'स' मेरी राय में अनुमानित उपज की बँटाई।
हिन्दी शब्द कनकूत का समानार्थी है।
चौदहीं शताब्दी में अप्रचलित हो गया।

मुहस्सिल—लगान वसूल करने वाल, कलेक्टर, अकबर कालीन चकलादार या करोड़ी।
१४ वीं श० एक कर्मचारी जिसके कर्तव्य अनिर्धारित थे। इसकी नियुक्ति सरदारों के इलाके में बादशाह द्वारा की जाती थी।

मुहस्सिलाना—वह शुल्क जो लगान वसूली के सम्बन्ध में दिया जाता था।

मुहासबा—किसी कर्मचारी का लेखा निरीक्षण (आडिट)।

मौजा—१४ वीं, श०, कोई भी स्थान; कालान्तर में गाँव; देह का पर्यायवाची।

रकमी—अकबर का प्रथम मूल्यांकन—देखें परिशिष्ट 'य'

रबी—जाड़े में बोई गयी फसल

राय, राजा, राना, राव, } हिन्दी शब्द है, राजा या सरदार के अर्थ में प्रयुक्त है, चाहे वे स्वतन्त्र हों या बादशाह को कर देते हों।

रैयत—किसानों का समूह।

वकील—१३ वीं तथा १४ वीं श०, दिल्ली दर्बार का सर्वाधिक उच्च अधिकारी।
मुगल काल-वजीर से भी ऊँचा पद, वजीर आजम, किन्तु पद प्रायः रिक्त ही रहता था।

वजीर—१३ वीं तथा १४ वीं श०, वजीर आजम (प्रधान मन्त्री) राजस्व का कार्य देखता था तथा अर्थ विभाग भी इसी के जिम्में रहता था।
मुगलकाल—जब वकील रहता था तो वजीर अर्थ तथा राजस्व मन्त्री होता

था। कभी कभी उसको दीवान भी कहते थे। जब वकील पदरिक्त रहता था तो वजीर सामान्य प्रशासन के साथ राजस्व तथा अर्थ विभाग भी देखता था।

वली—सूबेदार।

वफा—सामान्र प्रयोग में 'विश्वास'।

१४ वीं तथा १५ वी श०, फसलों की उपज के अर्थ में प्रयुक्त। देखें परिशिष्ट 'स'।

विलायत—१३ वीं तुथा १४ वीं श०, सूबा, देखे परिशिष्ट 'ब'।

अन्य अर्थों में भी इस्तेमाल किया गया है (१) राज्य (२) भूभाग (३) विदेश (४) विदेशी का स्वदेश।

वीरान—जिस गाँव को लोग छोड़ कर चले गये हों।

शिक—विभाग, प्रथमतः फौजी शब्द (लश्कर) का विभाग। अर्थात् लश्कर में कई फौजें तथा प्रत्येक फौज में कई शिक होते थे, शिक के प्रधान अफसर को शिकदार कहते थे।

१४वीं श०, प्रजासकीय विभाग, या तो सूबे के अर्थ में या सूबे के विभाग के अर्थ में प्रयोग में आता था (देखिये अध्याय २ विभाग १)

१५ वीं श०, सूबे के अर्थ में प्रयुक्त होता था।

कालान्तर में अप्रचलित हो गया।

शिकदार—पहले फौजी पद के अर्थ में प्रयोग में आता था। फिर महकमा लगान के मातहत कर्मचारी के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा।

शेरशाह के समय में परगने के कर्मचारियों में एक। कभी कभी कलेक्टर के अर्थ में इस्तेमाल किया जाता था।

१८ वीं श० जागीरदार द्वारा नियुक्त कलेक्टर।

सदर—मुगलकालीन एक ऊंचा पदाधिकारी, जो वक्फों का प्रबन्ध करता था।

सरकार—इतिहास ग्रन्थों में खजाने के अर्थ में प्रयुक्त है।

शेरशाह के समय में प्रशासकीय क्षेत्र अर्थात् परगनों का समूह या जिला।

अकबर के समय में लगानी जिला।

वर्तमान कालीन अर्थ राज्य (स्टेट)

सलामी—नजर, भेंट।

सुयुर्गल—मुगलकाल में बादशाह द्वारा स्वीकृत भत्ता, जो या तो नकदी दिया जाता था या जमीन की शकल में ।

हक़—अधिकार, न्याय, सत्य, सरदारों को मिली हुई लगान मुक्त भूमि ।

हके शर्त—सिंचाई का साधन प्रस्तुत करने वाले व्यक्ति का शुल्क ।

हवाली पड़ोस—१३ वीं तथा १४ वीं श०, हवालिये देहली शब्द उस क्षेत्रीय इकाई को कहते थे जो दिल्ली के पड़ोस में यमुना के उत्तर स्थित था ।

हाकिम—किसी खास पद के अर्थ में प्रयुक्त नहीं है । किसी भी ऊँचे अधिकारी को हाकिम कहते थे ।

हासिल—कृपया देखें परिशिष्ट 'अ' । कभी-कभी महसूल के पर्यायवाची के रूप में प्रयुक्त है ।

१६ वीं, श० आय ।

हिन्दुस्तान—१३ वीं तथा १४ श०, मुस्लिम केन्द्र के पूर्व और पश्चिम का भूभाग ।

१४ वीं श०, गंगा पार के देश ।

१६ वीं श०, नर्मदा के उत्तर का देश ।

हिन्दू—सामान्य अर्थ के अतिरिक्त बर्नी ने केवल हिन्दू मुखियों तथा सरदारों के लिये प्रयोग किया है ।

परिशिष्ट 'इ'

प्रामाणिक ग्रन्थों की सूची

नोट—इस सूची का यह अर्थ कदापि नहीं है कि इस काल का विवरण प्रस्तुत करने वाले ग्रन्थ इतने ही हैं। यहाँ मैं उन्हीं ग्रन्थों की सूची दे रहा हूँ, जिनका संक्षिप्त नाम मैंने इस पुस्तक में स्थान स्थान पर दिया है। अन्य ग्रन्थों का विवरण या तो पुस्तक में ही मिलेगा या टिप्पणियों में।

अबू यूसुफ—अबू यूसुफ याकूब, किताबुल खिराज, अनुवादक ई० फग्नन पैरिस १९२१

अफीफ—शम्शे-शीराज-अफीफ तारीखे फीरोजशाही अंशानुवादक इलियट

आईन—शेख अबुल फजल अल्लामी आईने अकबरी अनुवादक ब्लाकमैन जेरेट

आयंगर—एस कृष्णस्वामी आयंगर ऐनशियेंट इंडिया लंदन मद्रास १९११

अकबरनामा—शेष अबुल फजल अल्लामी, अकबरनामा अनुवादक वेवेरिज

बाबरनामा—बादशाह बाबर बाबरनामा अनुवादक वेवेरिज लंदन १९२१

बदाऊनी—अब्दुल कादिर बदाऊनी मुन्तखबुत्तवारीख अनुवादक रैन्किन, लो

बादशाहनामा—अब्दुल हमीद लाहौरी बादशाहनामा अंशानुवाद इलियट भाग २, ३

बर्नी—जियाउद्दीन बर्नी तारीखे फीरोजशाही अंशानुवाद इलियट भाग ३, ९३

बयजीद—बयजीद सुलतान तारीखे हुमायूँ अनुवादक अस्किन इंडिया आफिस

बेले—सर ई० सी० वेले दि लोकल मोहमडन डाइनेस्टीज़ आफ गुजरात लंदन १८२६

बर्नियर—फ्रांकोइस बर्नियर ट्रैवेल्स इन द मुगल इम्पायर अनुवादक प्रकाशक, कांस्टेबुल लन्दन १८९१

बिब्ल०- इं०—बिब्लियो इंडिका पुस्तक और अनुवाद दोनों ही को रायल एशियाटिक सोसाइटी बंगाल ने प्रकाशित किया।

ब्लाकमैन—एच ब्लाकमैन आईन भाग १ का अनुवादक।

कैम्ब्रिज—द कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया, भाग ३, सर वोल्जले हेग ने सम्पादित किया। १९२८ कैम्ब्रिज

दिल्ली रिकर्ड्स—पंजाब गवर्नमेंट रिकार्ड्स, भाग १ देलही रेजिडेंसी एण्ड एजेंसी १८०७ से १८५७ लाहौर १९११

डंकन रिकार्ड्स—ए० शेक्सपियर सेलेक्शन्स फ्राम द डंकन रिकार्ड्स बनारस १८७३

अर्ली ट्रैवेल्स—अर्ली ट्रैवेल्स इन इंडिया, १५८३ से १६१९ सम्पादन किया डब्ल्यू० फास्टर. लन्दन १९११

अर्ली अनल्स—अर्ली अनल्स आफ दि इंग्लिश इन बंगाल संग्रह तथा सम्पादन कलकत्ता १८९५ से १९१७

इलियट—दि हिस्ट्री आफ इन्डिया ऐज टोल्ड बाई इट्स ओन हिस्टोरियन्स पास्थमस पेपर्स आफ सर इलियट सम्पादक जे डॉसन लन्दन १८६७-७७

फरिश्ता—मु० कासिम फरिस्ता, तारीखे फरिश्ता, लीथो मुद्रित प्रति कानपुर १८८३

अनुवाद—ए हिस्ट्री आफ दि राइज आफ मोहम्डन पावर इन इन्डिया टिल दि इयर ए० डी० १६१२ अनुवादक जे० ब्रिज लन्दन १८२९

फर्मिङ्गर—डब्ल्यू० के० फर्मिङ्गर—दि फिफ्थ रिपोर्ट आफ सेलेक्ट कमेटी आव दि हाउस आव कामन्स आन दि अफेयर्स आफ ईस्ट इन्डिया कम्पनी २८ जुलाई १८१२ कलकत्ता १९१७

फतूहात—सुलतान फीरोजशाह फतूहाते फीरोज शाही अंशानुवाद इलियट भाग ३ ३७४

गुजरात रिपोर्ट—जेलेन्सीन डी जॉन्स रिपोर्ट्स आन दि मार्केट आफ गुजरात, बीफोर सन् १६३० ई० न० २८ ईशूड बाई दि ब्रिकोटन सोसाइटी दि हेग १९२९

गुलबदन—गुलबदन बेगम हिस्ट्री आफ हुमायूँ अनुवादक ए० एस० वेवेरिज लन्दन १९०२

इब्ने बतूता—सी० डी फ्रेमरी तथा बी० आर० शेगुनेही वाथेजेज डी इब्ने बतूता मूल तथा अनुवाद पेरिस १८७४-७९

इम्पीरियल गजेटियर— दि इम्पीरियल गजेटियर आफ इन्डिया आक्सफोर्ड १९०९

आई० ओ०—आई० ओ० रिकार्ड्स जो इन्डिया आफिस में सुरक्षित पांडु लिपि

इकबालनामा—मुअतमद खाँ इकबाबालनामा जहाँगीरी लीथो मुद्रित प्रति लखनऊ अंशानुवाद इलियट १८७० भाग ६, ४४०

जेरेट—येच० एस० जेरेट आईन भाग २, ३ का अनुवाद

जे० ए० एस० बी० जर्नल आव दि रायल एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल कलकत्ता

जे० ए० आर० एस० जर्नल आव दि रायल एशियाटिक सोसाइटी लन्दन

खाफी—मु० हाशिम खाफी खाँ मुन्तखबुल्लुबाब अंशानुवाद इलियट भाग ७, २०७

मआसिरुल उमरा—शाह नवाज खाँ मआसिरुल उमरा

ओल्ड फोर्ट विलियम—सी० आर० विलसन ओल्ड फोर्ट विलियम इन बंगाल लन्दन १९०६

पेल्सर्ट—फ्रांसिस्को पेल्सर्ट, अनुवादक का नाम जहाँगीर्स इन्डिया अनुवाहक मोरलैंड तथा पी० गाइल कैम्ब्रिज १९२५
रो - सर टामस रो दि इम्बैसी आव सर टामस रो • सम्पादक, सर फास्टर लन्दन १९२६
रास (RAS)—रायल एशियाटिक सोसाइटी की लाइब्रेरी के पुस्तकों की वर्गीकृत सूची
सालिह - मु० सालिह कम्बू आमाले सालिह अंशानुवाद इलियट भाग ७, १२३
साकी - मु० साकी मुस्तईद खाँ, मआसिरे आलमगीरी अंशा० इलियट भाग ७, १८१
टी० अकबरी—निजामुद्दीन अहमद, तबकाते अकबरी अंशानुवाद इलियट भाग ५ १७७ या अकबरशाही कुछ अंश प्रकाशित भी है
टी० मुबारकशाही-यहिया-विन-अहमद तारीखे मुबारकशाही अंशानुबाद इलियट भाग ४, ६
टी नासिरी - मिनहाजुल सिराज तबकाते नासिरी अंशानुवाद इलियट भाग २, २५९
ट्र्यस्ट्रा—एच ट्र्यस्ट्रा दि हेग १९१८
तुजक—दि इम्परर जहाँगीर, तुजके जहाँगीरी मूल प्रकाशन सय्यद अनुवादक लन्दन अहमद ने अलीगढ़ रोजर्स तथा १९०९ अनुवाद मोमयर्स वेवेरिज १११४ आव जहाँगीर

ग्रामीण-व्यवस्था के सम्बन्ध में

विद्वान् लेखक ने "भारतीय मुसलिम कालीन ग्रामीण-व्यवस्था" को हिन्दू कालीन व्यवस्था का आधार मान तत्कालीन मुसलिम इतिहासकारों द्वारा लिखे प्रामाणिक ग्रन्थों का सहारा लेकर प्रस्तावित विषय को इतनी उत्तमता एवम् सरलता पूर्वक समझाया है कि जिसे पढ़ कर पाठक आसानी से ग्रामीण सम्बन्धी विषय की जानकारी प्राप्त कर सकते हैं।

मुसलिम शासन काल में यहाँ की ग्रामीण व्यवस्था कैसी थी, किसान वर्ग का अपने राजा के साथ कैसा सम्पर्क था, खेती की व्यवस्था, लगान प्रणाली व लगान की दरें लगान वसूली के उपाय, जागीरदारी प्रथा, कृषि व्यवस्था का विकास, तत्कालीन खेतिहरों की वास्तविक स्थिति, भूमि सुधार योजना आदि इस पुस्तक के मुख्य विषय हैं, जिस पर विद्वान् लेखक ने अच्छा प्रकाश डाला है। प्रतिभावान लेखक का एतिहासिक ज्ञान सराहनीय हैं।

ऐसे उच्चकोटि के ग्रन्थों को प्रकाशित कर के राष्ट्रभाषा हिन्दी के वृद्धि और विकास में यह संस्था सहायक होगी, ऐसी पूर्ण आशा है।

केशव कुमार ठाकुर

आदर्श हिन्दी पुस्तकालय
४१९. अहियापुर
इलाहानाद